पहल
72

## 21वीं शताब्दी में दलितों के हक में

# सदियों की गैरबराबरी और गैरइंसाफी ख़त्म करने की शुरूआत

# मध्यप्रदेश से

सदियों से चली आ रही सामाजिक गैरबराबरी का मतलब सिर्फ समाज में ऊंच-नीच ही नहीं बल्कि गैरबराबरी से उपजने वाली नाइंसाफी भी है।

एक पूरे तबके को बराबरी के हक न मिलना, बराबरी के मौके ना मिलना, बराबरी की आजादी ना मिलना नाइंसाफी ही तो है।

इस नाइंसाफी को खत्म करने और गैर बराबरी को बराबरी में बदलने की बातों को हकीकत बनाने की शुरूआत पिछले दिनों हुई भोपाल में हुए दलित सम्मेलन से और बदलाव के फौलादी इरादे जाहिर हुए भोपाल घोषणा से। इस सम्मेलन में दलित बुद्धिजीवियों ने 21सूत्री अजेंडा रखा देश के सामने और इसके साथ ही देश में दलित तबके के बेहतर भविष्य की एक सार्थक बहस शुरू हुई।

देश भर से आये दलित बुद्धिजीवियों को यह जानकर खुशी हुई कि उनके बनाये अजेंडे के बहुत से मुद्दों पर मध्यप्रदेश में पिछले आठ बरसों में, दलितों के हक में कई फैसले लागू किये जा चुके हैं।

इनमें से सबसे खास है - अनुसूचित जाति और अनुसुचित जनजाति के कुल सवा लाख से ज्यादा बेज़मीन परिवारों को तीन लाख एकड़ से ज्यादा ज़मीन बाँटी जाना। पढ़ाई-लिखाई के मामले में दलितों को आगे लाने के लिए वजीफों में भारी इजाफा, नये आश्रम स्कूल और कई नयी सहूलियतें।

21 सूत्रीय दलित अजेंडे पर कार्रवाई सुझाने के लिए मध्यप्रदेश सरकार ने एक टास्क फोर्स खड़ी की है और उसे छह महीने में रपट देने का जिम्मा सौंपा है।

दलित बुद्धिजीवियों ने मजलूम तबकों को बराबरी के मौके देने की ठोस शुरूआत के लिए मध्यप्रदेश के विकास मॉडल को काबिले तारीफ यूं ही नहीं माना।

अपनी नयी पहलों के लिए जाना जाने वाला मध्यप्रदेश अब एक और नयी पहचान बना रहा है--दलितों की आवाज को बुलंदी देकर और सदियों की गैर इंसाफी दूर करने के लिए दलितों को बराबरी के मौके देकर।

*दलितों के हक मे, बराबरी के हक मे*

**मध्यप्रदेश**

गुरुवर डॉ. भूषण लाल
कौल के लिए
सम्मान के साथ
[illegible]
20/11/200

# पहल

वे दिन रहते घर पर आए
मुझसे बोले हम तो बस
छोटे कोने में ही रह लेंगे

बोले - हम तो प्रभु पूजन में
तेरे साथी ही हो लेंगे
प्रभु से पाया अपना प्रसाद
हम विनय भाव से ले लेंगे

कोने में डेरा डाल रहे
भोले बन कर चुप साध रहे
जब रात हुई सुनसान हुआ
मैंने देखा वे दुर्दम वे उद्दंड धूर्त
रे धूम मचाते, चिल्लाते
पावन मंदिर में पहुंच रहे

वे लोभी वे क्रोधी महान
प्रभु पर अर्जित उन भेटों पर
आपस में लड़-लड़ मरते हैं
रे, छीना झपटी करते हैं

रवीन्द्र की अमर कृति गीतांजलि के अनुगायक भवानी प्रसाद तिवारी (1985)

**पहल**
**इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रस्तुत प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक**

पहल : 72
अगस्त, सितम्बर : 2002

अव्यवसायिक
अनियतकालीन

| | | |
|---|---|---|
| सम्पादक | : | ज्ञानरंजन |
| सलाहकार सम्पादक | : | जितेन्द्र भाटिया / परितोष चक्रवर्ती<br>विनोद कुमार श्रीवास्तव / विजय कुमार |
| प्रसार, वितरण | : | मनोहर बिल्लौरे |
| बिहार प्रतिनिधि | : | शंकर |
| दिल्ली | : | पंकज कौरव, पंकज पाराशर |
| लखनऊ | : | अखिलेश |
| भोपाल | : | हरि भटनागर |
| इंदौर | : | विश्वनाथ कदम |
| प्रकाशक | : | पहल, जबलपुर |
| संपर्क | : | 101, रामनगर, आधारताल, जबलपुर - 482004 |
| टेलीफोन | : | 360393 |
| फैक्स | : | 0761 - 390143 |
| ई मेल | : | pahalindia@hotmail.com |
| संगणकीय अक्षर रचना | : | द क्रियेशन 0761 - 627093 |
| रेखांकन | : | महेश वर्मा, अम्बिकापुर /<br>शिशिर कुमार मौर्य, रानीखेत |
| मुख पृष्ठ | : | सुरेन्द्र राजन |
| मुद्रक | : | महाकोशल ऑफसेट सहकारी मुद्र. मर्या. |
| मूल्य | : | 40.00 रू. |
| पहल का वार्षिक | : | 120.00 रू. (तीन अंकों के लिये) |
| संस्थाओं के लिए | : | 150.00 रू. |
| नमूना प्रति के लिये | : | 35.00 रू. का डाक टिकट भेजें |


---

*यह अंक महादेव साहा, आले अहमद सुरूर, सुदर्शन चक्र, कैफ़ी आजमी, मुकुट बिहारी सरोज, सदाशिव राव मलकापुरकर, प्रकाशवती यशपाल और गुजरात के नरसंहार में मृतकों को समर्पित*

## अनुक्रम

पहल : 72

## प्रकाशकीय

इस बीच हमारे पास आपको कुछ बताने के लिये पर्याप्त सूचनाएँ हैं। पिछले 23 वर्षों से जारी युवा कविता के लिये दिया जाने वाला भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार (वर्ष 2002) पहल में छपी चेतनक्रांति की कविता (सीलमपुर की लड़कियाँ) को दिया गया है। पहल बिलकुल प्रारंभिक सालों में एक बार यह पुरस्कार आज के प्रतिष्ठित कवि अरूण कमल को मिला था। इस साल पुरस्कार का निर्णय प्रसिद्ध कवि और आलोचक विष्णु खरे ने किया। इस अंक में एक अर्से के बाद विष्णु खरे की कतिपय महत्वपूर्ण कविताएँ भी पाठक पढ़ सकेंगे। विष्णु खरे ने अपना निर्णयात्मक अभिमत इस प्रकार दिया है।

वर्ष 2001 में चेतन क्रान्ति की जो कविताएँ प्रकाशित हुई हैं, वे उनकी निजी तथा सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक सरोकारों को दर्शाती हैं। जो तत्त्व चेतन क्रान्ति की कविता 'सीलमपुर की लड़कियाँ' को स्वयं कवि की रचनाओं में अद्वितीय बनाते हैं वे हैं उनकी दृष्टि का अनोखापन और शैली की मौलिकता। यह कविता मेरी निगाह में पुरस्कार नियमों के अन्तर्गत विचारणीय पिछले वर्ष प्रकाशित कविताओं में इसलिए सर्वश्रेष्ठ है कि इसमें कई प्रकार की वयःसंधियाँ और बदलाव हैं जो आज के भारत में नित्य-परिवर्तित राजनीति, अर्थनीति, समाज, नैतिकता, स्वप्नों और आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। कैशोर्य यौवन में प्रवेश कर रहा है, यौवन अधेड़पन और बुढ़ापे में, राजनीति वैश्विक अर्थ-व्यवस्था में और देशी संस्कृति बहुराष्ट्रीय पॉप-कल्चर में। इच्छाएँ विकृतियों में बदल रही हैं। दो सभ्यताएँ बन चुकी हैं – सीलमपुर-शाहदरे की मलिन बस्तियों की, और हौज़खास-प्रिया सिनेमा की। किशोरियों-

युवतियों की दो संस्कृतियाँ हैं - एक वह जो अपने शरीर और जीवन को व्यावहारिक होशियारी से ग्लोबलाइज्ड अवसरों में बदलना जानती है, और दूसरी सीलमपुर की लड़कियों की तरह नहीं जानती कि अपने शरीरों और मानस में होने वाले परिवर्तनों का क्या करे। इनके साथ सीलमपुर के दिग्भ्रमित और हिंस्त्र किशोर-युवक भी हैं जो जगमगाती जगहों पर हमले करने जाते हैं, लेकिन अपने ही मोहल्ले की लड़कियों को समझ नहीं पाते - वे लड़कियाँ जो किसी एन.आर.आई (कख्रऋ) दूल्हे की नहीं बल्कि न जाने कहाँ की बस की प्रतीक्षा करती हैं, और पता नहीं लगने देती कि उनकी मंजिल क्या है। 'सीलमपुर की लड़कियाँ' की खूबी यह भी है यह इन सुपरिचित लड़कियों की कोई करुणा, रोमांटिक तस्वीर नहीं खींचती बल्कि उन्हें उनकी समूची ऐन्द्रिक साँसत और अबोले किन्तु गहरे संकल्प में देखनेवाली एक जोखिम-भरी वयस्क भाषा और शैली की रचना है।'

यशस्वी कहानी कार और भोपाल में 'पहल' के सहयोगी हरि भटनागर हाल ही में मास्को और अन्य शहरों की यात्रा करते हुए तथा पुश्किन एवार्ड लेकर लौटे हैं। उन्हें हमारी बधाई।

पाठकों को पता ही है गुजरात के साम्प्रदायिक नरसंहार और दंगों के बीच वहाँ की अनेक पुरातात्विक धरोहरों को नष्ट कर दिया गया है। इसके विवरण अब अनेक जगह प्रकाशित हैं। इसी में विख्यात संत और शायर वली दकनी की मजार का नेस्तनाबूद करना भी शामिल है। बाबरी मस्जिद को ढहाने से लेकर वली की मजार को गिराने तक फासिस्ट मानसिकता ने इस देश को अपनी गिरफ्त में ले लिया है। हम अंक में न केवल वली की सुप्रसिद्ध कविता छाप रहे हैं बल्कि महान शायर मख्दूम की उन पर लिखी एक नज्म भी वीरेन्द्र कुमार वसवान की लम्बी टिप्पढी के साथ अगले अंक (73) में छापेंगे। लगभग एक दशक पूर्व जब हमने वली के ऊपर चंद्रकांत पाटील की एक लम्बी कविता छापी थी तब स्वयं कवि को भी गुमान न था कि एक दिन इस देश में इस तरह की घटनाएँ घट सकती हैं। पहल ने गुजरात के लेखकों को अपना सांस्कृतिक संघर्ष करने के लिये प्रतीक रुप से आर्थिक सहायता देने का मन बनाया था। हमने कोई सार्वजनिक अपील नहीं की थी फिर भी हमारा उद्देश्य जानकर हमारे आत्मीय रचनाकारों ने छोटी बड़ी राशि देकर पहल के संकल्प को मजबूत किया है। हम अपनी कृतज्ञता उनके प्रति प्रकट करते हैं।

**सर्वश्री नरेश सक्सेना, विद्यासागर नौटियाल, अरुणकमल, मंगलेश डबराल, जितेन्द्र भाटिया, विनोद दास, तेजिंदर, विष्णु नागर, वाचस्पति, प्रतापराव कदम, शंकर, मनोहर नायक, काशीनाथ सिंह, राजेन्द्र पटोरिया, सूर्यकांत नागर, सदाशिव कौतुक, कृष्णकांत निलोसे, विश्वनाथ कदम, सुरेन्द्र काले, प्रो. अब्बासी, शरद पगारे, ओम भारती, शंभु गुप्त, हरिओम राजोरिया, अशोक दुबे (रूपांकन), जनवादी लेखक संघ (वाराणसी), सदानदं साही, बलराज पांडे, दीनबंधु तिवारी, मधु कांकरिया, संध्या गुप्ता, साधना भाया, चन्द्रकला त्रिपाठी, रश्मि रेखा, प्रेमशंकर**

रघुवंशी, अजीत अंसारी और सद्‌भावना फाउन्डेशन ने इसमें अपना योगदान किया है।

इस अंक में हम बांग्ला के सुपरिचित युवा कवि जय गोस्वामी का साक्षात्कार प्रकाशित कर रहे हैं। अगली बार पाठक मराठी के विख्यात दलित कवि तुलसी परब और चंद्रकांत देवताले का साक्षात्कार पढ़ेंगे। इस अंक में एक सबसे अधिक रेखांकित करने वाली घटना यह है कि दस साल तक चुप रहने वाले आठवें दशक के प्रमुख कवि मनमोहन की बहुत सारी कविताएँ हम पाठकों को एक साथ उपलब्ध करा रहे हैं।

पहली बार स्तंभ में हम रमेश पाण्डेय को प्रमुख रूप से उनकी अनेक कविताओं के साथ सामने ला रहे हैं। उनका कविता संग्रह इसी वर्ष आने जाने की संभावना है। पहल उनकी कविताओं को रेखांकित करती है।

पिछले अंक के साथ जितेन्द्र भाटिया का लोकप्रिय धारावाहिक समाप्त हुआ जवकि पाठक नहीं चाहते थे कि यह समाप्त हो। लेकिन इस अंक से हम उनका नया धारावाहिक शुरू कर रहे हैं। विश्वास है यह कुछ अधिक लम्बा चल सकेगा।

सामयिक, यायावरी, विज्ञान और सिनेमा पर हमने गंभीर और पठनीय सामग्री दी है। सबसे खास बात यह है कि अनेक नये रचनाकार हर बार की तरह इस अंक में भी आपसे मुखातिब हैं। नये रचनाकारों की खोज पर पहल का बल निरंतर रहेगा।

पहल पूरी तरह लागत मूल्य पर जारी होती है। डाक व्यय में मारक वृद्धि हुई है। इसलिये पहल 72 से हमने सालाना 20.00 रु. बढ़ाये हैं। चार साल तक मूल्यों को स्थिर रखने के बाद इस विवशता को पहल के गंभीर पाठक मंजूर करेंगे।

'पहल' में प्रूफ की दुर्घटनाएँ कम नहीं हो रही थीं। इस अंक के प्रूफ मनोयोग से हमारे साथी अजित हर्षे (भोपाल) ने देखे हैं। धीरे-धीरे हम इस कमी पर काबू पा लेंगे।

विश्व पुस्तक मेले में इस वर्ष पहल में प्रकाशित 25 साल की चुनिंदा कविताओं का पहला खंड 'समय की आवाज' जारी हुआ जिसे आधार प्रकाशन, पंचकूला ने छापा है। यह हिन्दी की एक संग्रहणीय एन्थालाजी है। इसके दूसरे खंड में मुक्तिबोध, राजकमल चौधरी और मनमोहन जैसे कवि सम्मिलित हैं। इसका संपादन कर्मेन्दु शिशिर ने किया है। इसी तरह विश्व कविता का एक खंड भी पहल संचयन के रूप में प्रकाश्य है। पहल के वैचारिक लेखों का संकलन एक खंड के रूप में शीघ्र वसुंधरा मुम्बई जारी करने वाली है। कहानियों के संकलन को दो खंडों में छापने का प्रस्ताव भी है। यह सारा कठिन श्रम कर्मेन्दु शिशिर ने किया है।

## पिछले दिनों प्राप्त (पहल कार्यालय को) बहुसंख्य किताबों में से कुछ रेखांकित करने वाले प्रकाशन

यह जनता अमर है - बिंदा करंदीकर - अनुवाद चंद्रकांत बांदीविडेकर (मराठी से)

लौटूँगा मैंने कहा था - नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती - अनुवाद चंद्रप्रभा पाण्डेय (बांग्ला से)

हाउस फुल (सिनेमा) ललित जोशी

मेरे कथा पात्र (जीवनगाथा) ईश्वरदत्ता वर्मा

धूमिल और परवर्ती जनवादी कविता (आलोचना) श्री राम त्रिपाठी

यह मुखौटा किसका है (कविता) विमल कुमार

लोक (संपादन) पीयूष दइया

सोचो साथ क्या जायेगा - जितेन्द्र भाटिया

आर्ष चिंतन के विकल्प (चिंतन) रामचन्द्र सरोज

अनुवाद और रचना का उत्तर जीवन - रमण सिन्हा

राष्ट्र और मुसलमान - नासिरा शर्मा

अंतरंग संस्मरणों में जयशंकर प्रसाद - संपादक पुरषोत्तमदास मोदी

राख का किला (कविता) - अजंता देव

अभी यह धरती (कविता) - सत्यनारायण

हमारे शहर की भावी लोक कथा ( कहानी) - रघुनंदन त्रिवेदी

जादू नहीं कविता - कात्यानी

दलित और अश्वेत साहित्य (विमर्श) - चमनलाल

पानी के बीज (गीत) - मुकुट बिहारी सरोज

वित्तीय पूँजी और उत्तर आधुनिकता (आलोचना) - राजेश्वर सक्सेना

नया अनहद (कविता) -दिनेश कुमार शुक्ल

होकर कृत इलियड (अनुवाद) - रमेशचन्द्र सिन्हा

संविधान का सच - कनक तिवारी

जन संचार का समाजशास्त्र - लक्ष्मेन्द्र चौपड़ा
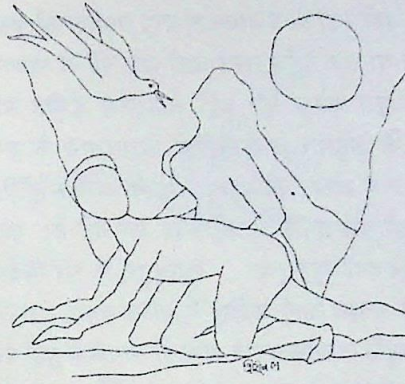
## प्रिय ज्ञान भाई,

'पहल-71' : अप्रैल-मई 2002 कुछ दिन पूर्व मिल गया था। इस बीच अधिकांश रचनाएँ पढ़ भी लीं। जितेन्द्र भाटिया टैक्नोलॉजी, भूमंडलीकरण, उदारीकरण (जो वास्तव में विश्व बैंक आदि से उधारीकरण है) और इन सब की पेचीदगियों तथा आम आदमी पर इनके प्रभाव पर लगातार एक सही समझ विकसित करने वाली लेख-श्रृंखला लिख रहे हैं। इन मुद्दों पर ऐसी गंभीर व सुचिंतित लेख-श्रृंखला मैंने हिन्दी और अंग्रेजी में इधर कहीं नहीं देखी। अरुंधती राय के बहाने कनक तिवारी ने न्याय व्यवस्था की खामियों और अंतर्विरोधों पर बहुत साफ ढंग से चंद महत्वपूर्ण सवाल उठाए हैं। लेकिन अपनी सीमित समझ के कारण शशांक और शिलाक्षी सिंह की कहानियाँ मुझे ठीक से समझ में नहीं आईं। मुझे यह भी कहना पड़ रहा है कि राही मासूम रज़ा की याद में शिवकुमार मिश्र का लेख अपेक्षाकृत कमजोर है। लगता है, उन्होंने 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला' आदि में अंदर तक घँस कर नहीं बल्कि जल्दबाजी में या सरसरी-सी नजर दौड़ाते हुए यह लेख लिख दिया। राही हमारे समय के साम्प्रदायिकता-विरोध के बेहद जुझारु लेखक थे। लेकिन इसके साथ ही उनमें कुछ अंतर्विरोध भी थे। मुझे यह कहते कतई संकोच नहीं हो रहा कि देश में साम्प्रदायिकता के पक्ष में वातावरण बनाने में 'रामायण' और 'महाभारत' नामक सीरियलों का बहुत बड़ा योगदान रहा है और राही 'महाभारत' के संवाद लेखक थे। इस सीरियल की मूल शक्ति इसके संवाद ही थे। जिन लोगों ने 'रामायण' और 'महाभारत' सीरियल बनाए, वे कोई

प्रतिबद्ध या प्रयोगशील फिल्मकार नहीं थे। वे विशुद्ध व्यावसायिक लोग हैं। इसके अलावा दूरदर्शन में 'रामायण' व 'महाभारत' की मूलकथाओं को लेकर कोई प्रतिबद्ध interpretation देना या प्रयोग करना संभव भी नहीं है। यह अकारण नहीं है कि 'महाभारत' के बाद अनेक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघी राही के प्रशंसक हो गए, क्योंकि जो कुछ लिखा और प्रस्तुत किया जा रहा था, वह घर-घर तक पहुँच रखने वाले छोटे पर्दे के माध्यम से उनकी जरूरतों को 'रामायण' की भाँति पूरा करता था। यदि राही जैसे घोषित सांप्रदायिकता-विरोधी (हालाँकि मेरी जानकारी के अनुसार वे कम्युनिस्ट विचारधारा के समर्थक नहीं थे) इस सीरियल से न जुड़ते, तो उनके लेखन की महत्ता और भी अधिक होती। खैर .... कई बार प्रगतिशील भी अनजाने ही दक्षिणपंथियों की मदद कर देते हैं। 'पहल-71' का पहला 'सामयिक' लेख 'इस साल दंगा बहुत हुआ ..' महत्वपूर्ण है। मेरे विचार से प्रत्येक अंक में सामयिक विषय पर सामग्री अवश्य जानी चाहिए। सैद्धांतिक बहस, देश-विदेश के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य की प्रस्तुति व आकलन के साथ ही सामयिक मुद्दों पर चर्चा करना जरूरी है खास तौर पर जब गुजरात जैसा कांड हो। गुजरात पर मैंने इधर कई लेखकों के पढ़ा है, लेकिन गुजरात के दंगे की कुछ नई प्रवृत्तियों पर या तो नहीं लिखा गया या कम लिखा गया। इस जनसंहार में हमने पहली बार देखा कि संघ परिवार से जुड़ी कुछ महिलाओं ने आगे बढ़ कर, हाथ में तलवार त्रिशूल लेकर शिरकत की। यह एक नई प्रवृत्ति है। मेरे ख्याल से किसी साम्प्रदायिक कांड में इससे पूर्व महिलाओं ने कभी भाग नहीं लिया था। इसे रेखांकित किया जाना चाहिए। दूसरी प्रवृत्ति यह कि ये दंगे इकतरफा या लगभग इकतरफा जनसंहार थे - अधिकांशतः मुसलमानों का कत्लेआम, जबकि इससे पहले के दंगे आम तौर पर दोनों समुदायों के बीच साम्प्रदायिक उपद्रव होते थे। तीसरी प्रवृत्ति यह कि इस जनसंहार को राज्य के सत्ता-प्रतिष्ठान और यहाँ तक कि केन्द का भी समर्थन प्राप्त था। निश्चय ही विभिन्न लेखों में इसको रेखांकित किया गया है। एक और बात यह कि जनसंहार पूर्व-नियोजित था, गोधरा एक बहाना भर था। यदि ऐसा नहीं होता तो रातों रात दंगाइयों के पास बड़ी मात्रा में हथियार कैसे आ गए? अब तो फोरैंसिक रिपोर्ट से लगने लगा है क़ि गोधरा कांड के पीछे भी संघ-परिवार का हाथ रहा होगा, क्योंकि इस रिपोर्ट के अनुसार जो डिब्बा जला और जिसमें बहुत से लोगों की मौत हुई, उसमें ज्वलनशील पदार्थ पहले से रखा था और आग लगाने के लिए इसे बाहर से नहीं फेंका गया। यों आडवाणी जी इस फोरैंसिक रिपोर्ट को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं, क्योंकि यह उनके मनोनुकूल नहीं है।

आपका
प्रदीप पंत
नई दिल्ली

# पत्र / वक्तव्य और कविताएँ
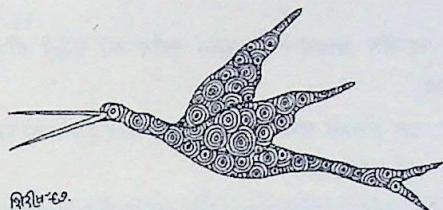
## अग्निशेखर

आदरणीय ज्ञान जी,

आपका पत्र कई दिनों से मेरी मेज़ पर पड़ा रहा। अंदर बाहर के ऐसे हालात हैं कि आप कुछ देर अपने लिए समय चुराकर न तो कोई किताब़ पढ़ सकते हैं और न एकाध पंक्ति लिख सकते हैं।

निरंतर असुरक्षा का माहौल है। कहीं भी और कभी भी कुछ भी हो सकता है।

आपकी अपनी परछाई अचानक उठकर आपकी पीठ पर पिस्तौल रख सकती है।

कालूचक नरसंहार में आतंकवादियों के हाथों मारे गये बस यात्रियों में मैंने एक दोस्त खो दिया। यों मारे गये तमाम लोगों में किसी एक व्यक्ति की दोस्त के रूप में शिनाख़्त कर शोक संवेदना के स्वर में बोलना नीचता है। मेडिकल रिप्रेज़ेंटेटिव था। बहुत दवाइयाँ लाकर देता था, जो हम विस्थापितों में बाँटते।

और जिस 'आतंकवादी मनोरोग' ने कालूचक के पास उसे धर दबोचा, उसकी दवा कोई नहीं बाँटता।

मेरे इस दोस्त की शक्ल एक अन्य विस्थापित मित्र शुबन गरीब से मिलती थी। निहायत शरीफ और कवि स्वभाव था। कश्मीर से जान बचाकर आये शुबन को डोड़ा ज़िले के एक पहाड़ी गाँव में भेज दिया गया था। अध्यापक था।

डोड़ा के वनों में सैनिक भी जाने से डरते हैं। इतने आतंकवादी हैं। डोड़ा राजमार्ग पर उस दिन बस से सभी यात्रियों को उतारकर उनमें हिन्दुओं की शिनाख़्त कर उन्हें मार

डाला गया था। शुबन गरीब भी उनमें था। एक रोज़ पूर्व मुझसे मिला था। हमने जम्मू के राजेन्द्र पार्क के किनारे भगवती नगर के रास्ते पर कुछ देर आम के पेड़ के नीचे बातें की थीं। मुझे याद है कि कोयल की आवाज़ सुनकर हमने पेड़ के झुरमुट में देखा था। वह बोला था, ''यहाँ हज़ार कोयलें भी गायें जलावतनी में। कश्मीर की एक पिद्दी सी याद के आगे सब फीका है।''

तीसरे दिन स्थानीय अखबार में शुबन गरीब की फोटो थी। हँसती हुई आँखें। पीड़ा से मुक्ति का जश्न।

हिंसा, मृत्यु, बम धमाके यहाँ की अब आम बात होती जा रही है। लोग चौंकना छोड़ रहे हैं। यह सबसे बड़ी दहशत है।

कैंपों में भी यही हाल है। तेरह बरसों से लोग पहले चीथड़े तम्बुओं में अब अँधेरे ढरबों में पड़े पड़े कीड़ों की तरह कुलबुलाते रहते हैं।

शहर से दूर हैं कैंप।

इसलिए आवाजही भी सीमित है। कुछ लोग टोलियों में सँकरी बस्तियों के बीच तंग और गंदी नालियों के चौराहों पर ताश खेलते रहते हैं। बीड़ियाँ फूँकते रहते हैं।

आपको सपाट भाव से देखेंगे। सुनेंगे। और कुछ नहीं कहेंगे।

आप बोलिये - हिंदुराष्ट्र, चुनाव के भागीदारी, स्वायतत्ता, धारा 370, काँग्रेसी राज भाकपा-माकपा .... वे कुछ नहीं कहेंगे। बस सुनेंगे। और पड़े पड़े सड़ेंगे। मरेंगे। और खुरटि मारेंगे।

यह हालत बना रखी है हमने लोगों की। वे इसके आदी हो चुके हैं। कुछ लोग अपराध, नशीली दवाइयों की तरफ भी खिंचे जा रहे हैं। भ्रष्ट तंत्र को हमेशा कुछ पुर्ज़ों की ज़रूरत रहती है, उनकी नज़र में इनसे बढ़िया लोग कहाँ मिलेंगे। एक समूची ज़िन्दादिल संस्कृति हमारे सामने दम तोड़ रही है।

और अभी राजीव नगर (कासिम नगर के पास) आतंकवादियों ने 27 निरीह लोगों को आराम से मक्की बुटों की तरह भून डाला।

साधुओं के वेश में आये आतंकवादी साथ के जंगल में इत्मीनान से तीर्थाटन करने को गये।

सुरक्षा बलों की कार्रवाही पर एक कश्मीरी मुहावारा 'शाल चलिथ बठ्यन चोब' खूब चरितार्थ होता है - गीदड़ के भागने पर ज़मीन पीटना!

दूसरे दिन लोगों ने उपप्रधानमंत्री लालकृष्ण आडवाणी और मुख्यमंत्री फारूख अब्दुल्ला की खूब खबर ली। मुँह पर खरी खरी सुनाई। बुरा-भला कहा। लेकिन राजनीतिज्ञों ने तो शर्म नाम की चीज़ भूनकर खाई होती है।

एक रूटीन बयान देकर अडवाणी अपने पुष्पक विमान में बैठकर इन्द्रप्रस्थ की तरफ उड़न-छू हुए।

*और समाचार समाप्त हुए कहकर उस रात रेडियो-टी.वी. ने सबसे बड़ा झूठ कहा।*
*उदासी अभी छायी हुई है।*

*सादर आपका*
*अग्निशेखर*

## वक्तव्य

किसी भी कवि से जब उसके कविता लिखने का कारण पूछा जाता है तो वह प्रायः मुश्किल में पड़ता है। खुद को टटोलता, खंगालता हुआ वह संवेदना, अनुभूति, भाषा आदि से होते हुए अनेक द्वन्द्वात्मक रिश्तों से जूझता है। उसके भीतर का जल खदबदाता है। केवल उसकी जीवन दृष्टि, उसके सरोकार उसे स्थिति से निपटने में सहायक सिद्ध होते हैं।

देखने में आता है जो कवि संघर्षचेता है, जिसकी दृष्टि चीज़ों को साफ साफ देखती है, जिसके पास अपने समय और समाज की समझ है, वह इस मूल प्रश्न का जवाब, भले ही कभी सरलीकृत ढंग से भी दे, बेहिचक दे जाता है। यह सहजता व्यापक जन के हितों के लिए सदा सक्रिय रहने से आती है।

कवि के लिए कविता में होना भी कविता करने जैसा होता है। कई बार कविता करने की अपेक्षा उसके लिए अपने सरोकारों के साथ प्राणप्रण से निरंतर जुड़े रहने का भाव ज़्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम बदल जाते हैं। दरअसल कवि का रास्ता तूत के दहकते अंगारों से होकर जाता है। काल को चुनौती देने का दम खम रखना सबके बूते की बात नहीं।

उदात्त मानवीय संवेदना हर दौर में खतरे में पड़ती रही है। संकट अपने रूपाकार बदलते रहे हैं। यह हमें साहित्य से इतिहास की अपेक्षा ज़्यादा प्रामाणिक रूप में पता चलता है। क्योंकि साहित्य संवेदना का संसार है। उसमें देश काल की साँसें हैं, लोगों के संघर्ष हैं, आशा-निराशायें हैं। यह मानव जीवन की नब्ज़ है। जो कविता धड़कती नहीं है वह रबड़ की कविता है। और हमारे समय में, सांस्कृतिक संकट के इस दौर में, ऐसे प्लास्टिक कवियों की कमी नहीं है।

मुझे भी लगता है संसार के सभी कवि एक ही कविता लिख रहे हैं। जिस तरह पृथ्वी की किसी भी नदी को छूने से आप संसार की सभी नदियों को छूते हैं, उसी तरह किसी भी देश की कविता हमें विश्वकविता से जोड़ती है। यह कविता का व्यष्टि से समष्टि तक का फैलाव है।

अच्छी कविता कवि को रचती है और महान कवि दोनों को।

आज हम जिस दौर से गुज़र रहे हैं, बद से बदतर स्थितियाँ हमारे सामने हैं, पता नहीं

इनसे हम कैसे उबर पायेंगे। सबसे भयानक बात तो यह है कि हम इन स्थितियों के आदी हो गये हैं। 'चलता है' जैसा एक घिनौना मुहावरा प्रचलन में है। मुक्ति की ओर ले जाने वाला परिप्रेक्ष्य शायद समकालीन कविता से खो गया है। कवि हाशिये पर हैं। कविताएँ अकेली हैं। सीमित साधनों के साथ अस्तित्व और अस्मिता का संघर्ष करती हुई। यह संघर्ष ही कविता की भूमिका है। कम से कम यह बात मैं अपनी कविताओं के बारे में तो निःसंकोच कह सकता हूँ।

## कविता

## अग्निशेखर की कविताएँ

### धूल

जब हमें दिखाई नहीं देती
पता नहीं कहाँ रहती है उस समय
और जब हम एक धुली हुई सुबह को
जो खुलती है हमारे बीच
जैसे कि एक पत्र हो
उसके किसी बे पढ़े वाक्य को छूने पर
हमारी ऊँगली से
चिपक जाती है

यह कैसे समय में रह रहे हैं हम
कि धूल सने काँच पर
हमारे संवेदनशील स्पर्श
हमारी उधेड़बुन
हमारे रेखांकन
हमारी बदतमीज़ियों के अक्स
कहे जाते हैं

यह समय क्या धूल ही है
जिससे कितना भी बचा जाए

पड़ी हुई मिलती है
उस अल्मारी में भी
जिसे हम सपने सामने नहीं खोलते

मैंने सपने में भी खिल आये
गुलाब पर इसे देखा है
यों देखा जाए तो
जिसे हम काली रात कहते हैं
यह सूरज की आँख में
धूल का झोंका है

इन शब्दों में
जबकि मैं लिख रहा हूँ कविता
झाँक रही होगी कहीं पास से
और मेरे कहीं चले जाने पर
उतर आयेगी मेज़ पर

## एक फिल्मी कवि से

देखो, कुछ देर के लिए
सोने दो मेरे रिसते घावों को
अभी अभी आई है
मेरे प्रश्नों को नींद

मुझे मत कहो गुलाब
एक बिसरी याद हूँ
जाग जाऊँगा

मुझे मत कहो जीत
सुलग जाऊँगा
बर्फ़ीले पहाड़ों पर

मुझे चाहिए दवा
कुछ ज़रूरी उत्तर
अपना सा मौसम
थोड़ा सा प्रतिशोध

मैं दहक रहा हूँ
गये हुए समय की पीठ
और आते हुए दिनों के माथे पर

मुझे मत बेचो
फिल्मी गीत में सजाकर

## लहरें

दौड़ती हुई आकर
उड़ भागना चाहती हैं
मुक्ति कामना का
यह अनंत संघर्ष उनका

कहती थीं मेरी माँ
सृष्टि के अनादिकाल में कभी
फिसल गिरी थीं चाँद से
और तब से नहीं टूटता
बूढ़े समुद्र में
उनका आजीवन कारावास

और तुम
कहते हो ज्वार-भाटा
सड़ियल तुम्हारा सौंदर्यबोध
फेंक आओ किसी कूड़े में
प्राचीन काव्यशास्त्र के ग्रंथ
अलंकार सिद्धांत

ये लहरें
बंद हैं हथकड़ियों में
गाती हैं क्रांति के गीत
देखना एक दिन
उड़ जाएँगी आकाश में
                हमारे ऊपर से
देखते रह जाओगे तुम
अपना सा मुँह लिए
समुद्र की तरह

## एक हिंदुस्तानी कंसेन्ट्रेशन कैंप

चारों तरफ बंजर पहाड़ों को देख
खुश हुए थे यहाँ पहुँच कर विस्थापित
तब उन्हें नहीं था मालूम
बीत जाएँगे इतने बरस यहाँ पड़े पड़े
खतरों और अफवाहों में
बहसों और भाषणों में
अवसाद, सन्नाटा,
धूप और बारिश रहेगी उनके साथ
घिसे-फटे तंबुओं में
उन्हें नहीं था मालूम
जब वे सोये थे यहाँ इन टैन्टों में
कृतज्ञता के साथ पहली रात
बाहर हँस रहे थे तपे हुए पहाड़
उनके हाल पर
यहाँ आज भी उसी तरह स्त्रियाँ
रोज़ रोज़ पकाती हैं खाना
धोती हैं कपड़े
दमे के मरीज़ बच्चों को
भेजती हैं स्कूल

करती हैं ईर्ष्या
औरों की मृत्यु पर
पुरुष उठकर चले आते हैं चुपचाप
कैदियों की तरह हर शाम जैसे
अपनी अपनी बैरकों में
जलते हैं लालटेन
चमक उठती हैं खामोशियाँ
कुछ  लोग घुमाते हैं ट्रांजिस्टरों की सूइयाँ
सुनने के लिए कहीं से
अपने बारे में कोई समाचार

(बटलबालियाँ कैंप वासियों के नाम)
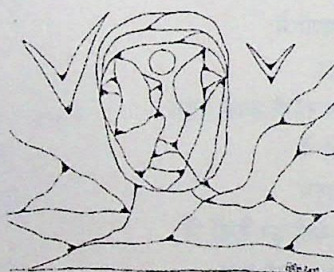
# रमेश पाण्डेय की कविताएँ

## वह जो अभी सामने से गुजरा है

(त्रिलोचन के लिए)

वह जो अभी सामने से गुजरा है
अपनी पीठ पर समय उठाये
उसकी बेलौस आँखों में झाँक कर देखो
वह तुम्हारी पुतलियों में
रक्त की तरह उतर जायेगा

तुम उसके पत्थर तराश हाँथों की
मजदूर अँगुलियों को नजरअन्दाज नहीं कर सकते
जिस शब्द कोष को तुम अपने कन्धों पर
तह किये दुशाले की तरह लिये फिरते हो
वह उसे वहीं तुम्हारे सामने जमीन पर बिछा देगा

और रख देगा उस पर तराशे नक्काशीदार नये शब्द
उससे बातें करो -
वह अपने जादुई गलीचे पर बैठ जायेगा
थोड़ी देर आँखे मूंद कर कहेगा कि तुम्हारे
इस सन्दर्भ का एक दृष्टांत फलाँ किताब के
सातवें अध्याय में है जो सन् 1953 में
आगरा से प्रकाशित हुई

उसकी एक खासियत है
तुम उसकी छाया को पकड़ सकते हो
उसे नहीं
तुम्हारे उसे आमूर्तन को वह
'सम्मूर्तित करने की कृतकृत्यता'
कह धन्यवाद देगा
और मुस्कराता हुआ चल देगा

उस पेड़ को पहचानो जहाँ वह बैठा था
और छोड़ आया है समय का हिस्सा
पाणिनि के सूत्र, भाषा विज्ञान
उस सराय में ठहरो जिसकी दीवार पर
टाँग दिया है उसने इतिहास
कीट्स, नज़रूल, चेराबन्डा राजू, मायकोवस्की

उस रास्ते से गुजरो
जिस पर वह छींट आया है तारीखें
शब्द, अक्षर और मात्रायें

उसके उन पन्नों को समेटो
जिस पर लिख छोड़ा है उसने इन सबके फातिहे।

## सरोकार

वे न जाने कब सीख जाते हैं ढोल ताशे बजाना
जितेन्द्र, गोविन्दा या मिथुन स्टाइल के डांस
उनके पास होते हैं शहर के सारे सस्ते मार्केट
और उसमें बिकने वाली चीजों की फिहरिस्त
पास की लड़कियों में दिलचस्पी, जुगराफिया
और काम काज की जानकारी,
छोटी उम्र में ही उन्हें हाथ लग जाती है पीली पन्नियों
में लिपटी किताबें
वे जान जाते हैं बीड़ी, सिगरेट के टोटे से
नशे का मजा

आधे मिनट में शौच से फारिग होने की कला,
कुछ बेचने, खरीदने में महारत,
उन्हें आता है इस उपभोक्तावादी संस्कृति में भी
शाहरुख़ खान जैसा दिखना

वे अनायास ही जानते हैं कई चीजों के बारे में
जिसका आम आदमी से कोई सरोकार नहीं होता।

*(मुम्बई के झोपड़पट्टी के लड़कों के बारे में)*

## धनेश *

तुम इतने खूबसूरत तो नहीं थे
कि पिंजरे में कैद कर
मोती चुगाये जाते

इतने चमकीले भी नहीं कि
टोपियों की शान बढ़ाते
साफों की कलंगी के लिए
नोंच लिये जाते पंख

चाँदी की तश्तरी में
सजाकर परोसे जाने के बारे में
कभी कुछ सुना नहीं

फिर भी गुम होते गए
सिमटते रहे रोज इन नए जंगलों में
एक पुरानी किताब की कहानी की तरह
भुला दिये गये तुम

कहाँ ढूढ़ूँ तुम्हें
अब कैसे दिखाऊँगा अपनी नन्हीं बच्ची को
कि जिस तरह ढँक कर अपना कोटर
सहेजते रहे तुम अपना संसार
मैंन भी उसे वैसे ही पाला है।

*(एक पक्षी जिसे अंग्रेजी में 'हार्नबिल' कहते हैं। इसकी विशेषता है कि प्रजनन काल में नर धनेश, मादा धनेश को एक कोटर में विशेष प्रकार का द्रव्य उत्सर्जित कर ढंक देता है जिसमें एक छिद्र बना देता है। उसी छिद्र के माध्यम से वह मादा धनेश को एक एक दाना अन्न आदि का चोंच में देता है। जब तक मादा धनेश अण्डे देने के पश्चात बच्चे नहीं दे लेती तब तक नर धनेश पहले मादा धनेश को फिर बच्चों को उसी छिद्र के माध्यम से भोजन उपलब्ध कराता है और सुरक्षित रखता है। जब बच्चे उड़ने योग्य हो जाते हैं तो नर धनेश ढंके कोटर को फोड़कर मादा धनेश व बच्चों को बाहर निकालता है। यह Highest level of parental care का अप्रतिम उदाहरण है।)*

## थोड़ी देर और

तीन बार बाजार से जंगल के रास्ते
लतीफशाह मजार तक सवारी ढोने के बाद
इक्के में जुते घोड़े को
चारे का बोरा बाँध कर
ढाक के लाल फूलों की साँवली छाया में
थोड़ी देर सुस्ता लूँ
ऊँघती दुपहरी की आँख बचाकर

भहराती हवा के उभारों का दबाव
थोड़ा महसूस कर लूँ

एक तिनका दूब से
चूस लूँ मन भर मिठास

साँझ ढले तो सही

उस मुर्गाबी को
एक वर्ग किलोमीटर फैले जल में
अकेले तैरते हुए थोड़ी देर और देख लूँ
तो चलूँ

*(लतीफशाह बन्धे पर चैत की एक दोपहर)*

## जिगना

जाड़ा आये
फागुन बीते

चैत-बैसाख की धूप से लथपथ जंगल
उतार दे शरीर से सारी पत्तियाँ

आषाढ़ चले
खूब फूली हो कोरैया
हवा में गमक हो
झर-झर बहते हों दऊ

उजियारी रात सिर पर उठाए
घुटनों तक पानी में अकेली खड़ी हो साँझ

मोतियों के गहने
चाँदी का कुर्ता पहने
बिल्कुल चुपचाप
खड़ा हो जिगना फिर एक बार
ठीक मेरे सामने।

*(विन्ध्य के वन क्षेत्रों में पाया जाने वाला मझोले आकार का वृक्ष)*

## घोड़े

(सन् 2078 में किसी एक दिन)

वनस्पति विज्ञान की क्लास में
अध्यापक चाइना रोज की पंखुड़ियों का आकार
हार्स शू शेप्ड पढ़ाने के पहले
छात्रों को बतायेंगे
घोड़े की नाल का इतिहास
उसका आकार

वे तमाम शब्द जो आज
कब्र में पाँव लटकाये बैठे हैं
तब दफ्न हो चुके होंगे
उनके सिरहाने खड़े पत्थरों पर
भद्दा सा लिखा होगा उनका नाम
जीन, सईस, लीद, अस्तबल

संग्रहालयों में पालिश किये हुए
जमीन के बल खड़े होंगे
आबनूस के चमकते रथ
बग्घी, तांगा और इक्के
जिनके पहियों की धुरी में जड़े पुराने सिक्के
बतायेंगे उनकी उम्र

हार्स ट्रेडिंग और घोड़े बेचकर सोने
मुहावरों का जिक्र
अलग-अलग तबकों के लिए मायने रखेगा
जो पहला इस्तेमाल करेगा
उसके लिए झूठी हो जायेगी दूसरी कहावत

कुछ शोध प्रबंधों के विषय होंगे
चॉक, ट्राट, कैन्टर, गैलप
और इन मुद्राओं की सुनहरे फ्रेम वाली पेंटिंग्स
जिसके दाहिने कोने में न पढ़ने में आने वाला हस्ताक्षर होगा

काफी मंहगी मिलेगी
आलोचक लय और गति की समीक्षा के वक्त
तय करेंगे इनसे मानक

गाँव, बाजार, सड़क पर
पुठ्ठों की चमक
उसका पौरुष नहीं दिखेगा कहीं
जो दिखेगा बिजली सा दौड़ते
वह इन्हीं से चुराया दम होगा
कई हार्स पावर का

## ऐसे ही अक्सर

कभी कभी मैं उन लोगों के बारे में भी
सोचता हूँ
जिनसे कभी नहीं मिला
जैसे अफजाल भाई का इकलौता पाँच साल का बेटा
जिसकी तस्वीर दिखाई थी उन्होंने
उसकी मृत्यु के तीन साल बाद
जब मैं उनसे नैनीताल में
कोई जान नहीं पाया

या फिर अपना ही दो साल चचेरा भाई
जिसको चुन्नू चाचा ने
साठ रुपये की पत्थर की पटिया, पन्द्रह रुपये की डोरी
और दस रुपये मल्लाह को देने में खर्च कर
हरिश्चन्द्र घाट के सामने बीच गंगा में
सिरा दिया था उसकी मृत्यु के बाद
डाक्टर नहीं कर पाये उसके रोग का इलाज

मैं ऐसे ही अक्सर कई लोगों के बारे में
सोचता हूँ जिन्हें मैं नहीं जानता

सामयिक : एक
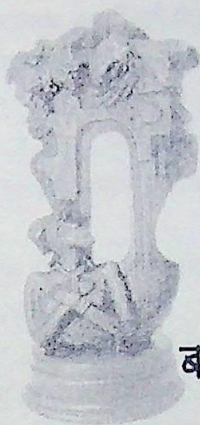
# बाज़ार में भगत सिंह

सुधीर विद्यार्थी

इन दिनों शहीद भगतसिंह के क्रांतिकारी जीवन पर बनी फिल्में चर्चा में हैं। यह चर्चा बुद्धिजीवियों और इतिहासकारों के बीच भी है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के सन् 1925 ई. से सन् 1931 ई. तक के कालखण्ड पर निर्मित यह फिल्में इसलिए भी कुछ लोगों का ध्यान आकर्षित करती हैं कि आखिर भगतसिंह के जीवन और विचारधारा के साथ पर्दे पर कितना न्याय किया गया है। ऐसा क्यों हुआ कि बॉलीवुड को एकाएक भगतसिंह तेजी के साथ याद आ गए और उन पर एक साथ पाँच-पाँच फिल्में बन गयीं। आखिर क्यों भगतसिंह हिंदी सिनेमा के लिए इतने प्रासंगिक हो गए कि पूरा फिल्मी जगत ''इन्कलाब जिंदाबाद' के नारों से गूँज उठा। आश्चर्य यह कि कहानी एक और फिल्में अनेक। सभी फिल्मों की जानकारी के स्रोत भगतसिंह पर उपलब्ध साहित्य और उनके दस्तावेज ही हैं। उल्लेखनीय यह है कि उस आन्दोलन का कोई साथी अब जीवित नहीं है। कौन जानता है कि उस दौर के अंतिम क्रांतिकारी सदाशिवराव मलकापुरकर अभी पिछले दिनों तक हमारे मध्य थे जिनका निधन 12 जुलाई सन् 2002 ई. को सागर मध्यप्रदेश के रहली गाँव में हो गया। कई वर्ष पूर्व वे अपनी कर्मस्थली झाँसी छोड़कर अपने पुश्तैनी घर चले गए थे जहाँ उन्होंने गुमनाम जिन्दगी जी। ''भुसावल बम केस'' में 15 साल के काला पानी की सजा पाने वाले इस क्रांतिकारी की मृत्यु का समाचार भी अखबारों, रेडियो और दूरदर्शन पर नहीं आया। भगतसिंह पर फिल्म बनाने वाले किसी निर्माता को सदाशिवराव के जीते जी उनकी सुधि नहीं आई।

शहीद भगतसिंह पर हिंदी फिल्में बनने का यह सफर ''शहीद'' (1948) से शुरु हुआ था जिसमें दिलीप कुमार ने भगतसिंह की भूमिका निभाई थी। सन् 1954 में प्रेम अदीब

और जयराज की फिल्म ''शहीद-ए-आजम'' आई। सन् 1963 में बनी ''शहीद भगतसिंह'' में शम्मी कपूर भगतसिंह बने थे। उसके बाद सन् 1965 में मनोज कुमार की ''शहीद'' आई जिसे सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। लेकिन यह सभी फिल्में एक अंतराल में बनीं थीं जबकि इस बार फर्क यह है कि कई निर्माता एक साथ भगतसिंह पर अपनी फिल्में लेकर आए और सभी का दावा है कि वह भगतसिंह के सच्चे किरदार को लोगों के सामने प्रस्तुत कर रहा है। यह ध्यान दिया जाना भी जरूरी है कि सन् 1948 ई. से सन् 1965 ई. तक बनी फिल्मों के समय भगतसिंह पर दस्तावेज के रूप में इतनी अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं थी। पर अब स्थिति पर्याप्त भिन्न है।

देश में इन दिनों उग्र राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता का भँवरजाल फैला हुआ है। गुजरात के नरसंहार से यह और भी भयावह रूप में सामने आया है। संसदीय राजनीति इस समस्या से निपटने में पूरी तरह नाकामयाब रही है। भगतसिंह सन् 1929 ई. में ही संसद में बम फेंककर इस सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के जनविरोधी चरित्र पर प्रहार कर चुके थे। क्या यह मान लिया जाना चाहिए कि भगतसिंह पर एक साथ इतनी फिल्में बनने का अर्थ यह है कि लोगों का साम्प्रदायिक राजनीति और संसदीय व्यवस्था के ढोंग-ढकोसले से मोहभंग हो गया है, या फिर फिल्मों की बाजारवादी दुनिया एकाएक प्यार, सेक्स, हत्या, अपराध की कहानियों से दूर भागकर मूल्यों और सिद्धान्तों की राजनीति को महत्व देने लगी है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि भगतसिंह की जुनूनी छवि का इस्तेमाल उग्र राष्ट्रवाद अपनी साम्प्रदायिक राजनीति के हित में करने की जुगत भिड़ा रहा हो। ऐसे में भगतसिंह सिनेमा उन सभी प्रगतिशील बुद्धिजीवियों से सतर्क रहने की अपेक्षा करता है जो इस क्रांतिकारी शहीद के जीवन को फिल्माये जाने से विशेष उत्साह में हैं।

भगत सिंह भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन के एक ऐसे नायक थे जो सन् 1925 ई. के ''काकोरी काण्ड'' के क्रांतिकारियों को फाँसी दिये जाने के पश्चात उस संघर्ष का बौद्धिक नेतृत्व करने के लिए आगे आये। उन्होंने न केवल पहले से चले आ रहे क्रांतिकारी दल का नए जोश और नए विचारों के साथ पुनर्गठन किया बल्कि ''साइमन कमीशन'' का विरोध करते हुए मारे जाने वाले लाला लाजपतराय की हत्या का बदला पुलिस अफसर साण्डर्स पर गोली चला कर लिया और 8 अप्रैल सन् 1929 को दो अत्यधिक दमनकारी कानूनों को पास किए जाने के खिलाफ केन्द्रीय असेम्बली दिल्ली में बम विस्फोट करके पर्चे फेंके। उनका उद्देश्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध के साथ ही अपनी नीतियों और उद्देश्यों को जनता के बीच पहुँचाना भी था। भगतसिंह पहले क्रांतिकारी थे जो क्रांतिकारियों के संग्राम को स्वतन्त्रता से समाजवाद की ओर ले गए। उनका यह बहुत बड़ा योगदान था कि सम्पूर्ण आन्दोलन को आतंकवादी घेरे से निकाल कर उन्होंने उसे विचार की सर्वोच्च ऊँचाई दी। वे कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों से अनुप्राणित थे और उसी आधार पर अपने देश में समतामूलक समाज का निर्माण करना चाहते थे। अपने इसी लक्ष्य और आदर्श के लिए उन्होंने देश की जनता को ''इन्कलाब जिंदाबाद''

का नारा दिया और जेलों के भीतर भी साम्राज्यवाद से लड़ते हुए 23 मार्च सन् 1931 ई. को अपने साथी राजगुरु और सुखदेव के साथ फाँसी के फन्दे पर झूल गए।

भगतसिंह सही अर्थों में क्रांतिद्रष्टा थे। क्रांति से उनका अर्थ अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना से था जो हर प्रकार के संकटों से मुक्त होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। जानने योग्य है कि वे क्रांति को सिर्फ बम या पिस्तौल का सम्प्रदाय ही नहीं मानते थे। उनका अभिप्राय अन्याय पर आधारित मौजूदा व्यवस्था में आमूल परिवर्तन था। ऐसे में भगतसिंह को सिर्फ एक रोमांटिक हीरो के रूप में प्रस्तुत करना उस सम्पूर्ण क्रांतिकारी चेतना की अनदेखी और अपमान है जिसने खास तौर पर सन् 1925 ई. से सन् 1931 ई. तक अपने विचार से भारतीय राजनीति में गुणात्मक परिवर्तन किया। भगतसिंह सन् 1927 ई. के बाद उस आन्दोलन के केन्द्र अवश्य बने लेकिन सर्वेसर्वा नहीं। भगतसिंह को व्यक्ति के रूप में देखने का अर्थ उस सम्पूर्ण आन्दोलन और उसके क्रमिक विकास पर पर्दा डालना है जिसे ''हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ'' ने सांगठनिक रूप से खड़ा किया था। इस आन्दोलन में भगतसिंह कहीं एकाएक नहीं आ गए थे। उनकी शुरुआत काकोरी-युग में ही एक नौजवान क्रांतिकारी के रूप में हो चुकी थी जब वे रेल के सरकारी खजाने को लूटने की उस बड़ी और ऐतिहासिक घटना को देखने-समझने के साथ ही उस संग्राम के भविष्य को भी अपनी आँखों से परखने लग गए थे। काकोरी दल के नेता रामप्रसाद बिस्मिल को फाँसी चढ़ाये जाने से पहले उन्हें जेल से छुड़ाने की योजना में वे गहरे तक जुड़े और उसके कामयाब न होने पर निराश भी बहुत हुए। काकोरी की फाँसियों ने उन्हें दल के पुराने ढर्रे पर काम करने के तौर-तरीकों तथा आन्दोलन का पक्ष जनता तक न पहुँच पाने की विवशता पर सोचने को बाध्य किया। उन्हें लगता कि संगठन को अब ज्यादा व्यापकता दी जानी चाहिए। यानी ''हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र संघ'' जो अभी तक उत्तर भारत तक सीमित था, उसका दायरा बढ़ाकर उसमें पूरे भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व हो। यह भी कि क्रांतिकारियों का लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने से आगे बढ़कर शोषण मुक्त समाजवादी समाज के लिए समर्पित होना चाहिए। उन्हें यह भी महसूस हुआ कि जिस आजादी के लिए वे संघर्ष कर रहे हैं, वह आजादी क्या और कैसी होगी ताकि जिस जनता के लिए वे लड़ रहे हैं वह उनके उद्देश्य की गम्भीरता को समझकर उनका साथ देने को तैयार हो।

कुछ ऐसे ही विचारों और चिन्ताओं को लेकर उन्होंने देश के कुछ चुने हुए क्रांतिकारियों को दिल्ली के फीरोजशाह कोटला के खण्डहरों में गुप्त रूप से इकट्ठा किया जिसमें उत्तर भारत के अलावा अन्य प्रान्तों के प्रतिनिधि भी थे। उन्होंने दल के नाम में ''समाजवादी'' शब्द जोड़ने का प्रस्ताव रखा जो सर्वमत से स्वीकार कर लिया गया। पार्टी के अलग-अलग विंग बनाये गए और सभी की जिम्मेदारियाँ निर्धारित कर दी गयीं। ''कमाण्डर-इन-चीफ'' चुना गया चन्द्रशेखर आजाद को जो काकोरी की घटना में सक्रिय तो थे ही, लेकिन उससे पूर्व सन् 1921 ई. के असहयोग आन्दोलन में भारत मामा और महात्मा गाँधी की जय

बोलकर अपना नाम ''आजाद'', पिता का नाम ''स्वाधीन'' और घर ''जेलखाना'' बताकर मजिस्ट्रेट से 14 बेतों का पुरस्कार पाकर जनता के बीच लोकप्रिय हो चुके थे। काकोरी केस में जब उन्हें पकड़ा नहीं जा सका तो आजाद एक किंवदन्ती ही बन गए।

भगतसिंह और आजाद की कथा एक दूसरे के बिना पूरी नहीं होती। एक क्रांतिकारी सेना का कमाण्डर था तो दूसरा पार्टी को विचार और दिशा देने वाला क्रांतिदर्शी। दोनों हमकदम। एक दूसरे के पूरक। साण्डर्स को मारने के अभियान में दोनों साथ थे। फिर भगतसिंह को लाहौर से सुरक्षित कलकत्ता पहुँचाने का श्रेय भी आजाद के कुशल नेतृत्व को ही जाता है। बाद को केन्द्रीय असेम्बली में बम फेंकने का ऐक्शन भी उन्हीं की अगुआई में बना और सफलतापूर्वक कार्यान्वित हुआ। 27 फरवरी सन् 1931 ई. को आजाद इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में ब्रिटिश पुलिस की गोलियों का जवाब गोलियों से देते हुए शहीद हो गए, तो इसके तुरन्त बाद ही 23 मार्च सन् 1931 ई. को भगतसिंह अपने साथी राजगुरु और सुखदेव के साथ लाहौर जेल में फाँसी पर झूल गए। यद्यपि आजाद बौद्धिक क्रांतिकारी नहीं थे, पर स्वतन्त्रता और समाजवाद की लड़ाई में वे भगतसिंह की क्रांतिकारी चेतना से कदम मिलाकर चलने में कभी पीछे नहीं रहे। आजाद ने अपने जीवन काल में कोई किताब नहीं लिखी, पर अपने अंतिम क्षणों में अपनी मामूली पिस्तौल और चन्द कारतूसों से उन्होंने क्रांतिकारी आन्दोलन के इतिहास के पृष्ठों पर जो कुछ अंकित कर दिया, वह सदैव प्रेरक और अविस्मरणीय रहेगा।

आजाद के दूसरी ओर भगतसिंह ने क्रांति के प्रत्येक पक्ष पर लिखा और बोला। उन्होंने क्रांति का अर्थ, समाजवाद का लक्ष्य, मजदूर आन्दोलन, साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज, धर्म, धर्मनिरपेक्षता, ईश्वर और नास्तिकता, भाषा और लिपि की समस्या, अछूत समस्या आदि विषयों पर खुला विमर्श किया। भगतसिंह पर बनी फिल्में में आजाद क्रांतिकारी दल के नायक नहीं बल्कि अकेले हीरो के रूप में खड़े नजर आते हैं तो दूसरी ओर भगतसिंह को भी समग्रता में प्रस्तुत न करके उनके प्रखर चिन्तक पक्ष को काट कर आधा-अधूरा दिखाया गया है। यानी वे सिर पर फैल्ट हैट लगाये एक देशभक्त बहादुर नौजवान ही पर्दे पर है जो साण्डर्स का वध करके और केन्द्रीय असेम्बली में बम फेंककर दर्शकों के भीतर उत्तेजना पैदा करते हैं। भगतसिंह भारतीय सिनेमा को ही नहीं, उन अनेक राजनीतिक पार्टियों को भी अक्सर याद आते रहते हैं जिन्हें भगतसिंह-विचारधारा के विरोध में खड़े देखा जा सकता है। साहित्य और इतिहास में भी दक्षिणपंथी लोगों को खेत में बंदूकें बोने वाले, जलियाँवाला बाग की खून सनी मिट्टी की पूजा करते, और सिर्फ साण्डर्स को मारकर संसद में बम विस्फोट करने तथा अदालत में देशभक्तिपूर्ण डॉयलाग बोलकर राष्ट्र स्तुति गाते हुए फाँसी के फन्दे को चूमने वाले भगतसिंह आकर्षित करते रहे हैं। मौजूदा दौर में राष्ट्रवादी उनकी जुनूनी छवि को अपने पक्ष में खड़ा करने की कुचेष्टा कर रहे हैं। इसलिए भगतसिंह का इस्तेमाल सिर्फ सिनेमा ने ही किया हो ऐसी बात नहीं। बॉलीवुड के फिल्मी निर्माता करोड़ों रुपया लगाकर व्यवस्था परिवर्तन के लिए सचेत और समर्पित क्रांतिकारी भगतसिंह को पर्दे पर क्यों प्रस्तुत करना

चाहेंगे। जाहिर है कि बाजारवाद के इस युग में फिल्म वाले वह सब कुछ बेचना चाहते हैं जो उनके धन्धे में गर्माहट ला सके। फिर चाहे वह सेक्स हो या भगतसिंह। मामला मुनाफे का है। इसलिए भगतसिंह की क्रांतिकारी चेतना का प्रचार-प्रसार फिल्मी दुनिया का लक्ष्य नहीं हो सकता। इन फिल्मों को इस नजरिये से देखा भी नहीं जाना चाहिए कि उनमें उस संग्राम को आगे बढ़ाने का उद्देश्य भी निहित हो सकता है जिसे भगतसिंह अधूरा छोड़ गए थे और जिसे क्रांति-विरोधी शक्तियों के सन् 1947 ई. में सत्ता में आ जाने के चलते हासिल नहीं किया जा सका था। हुआ यह कि ''लगान'' और ''गदर'' जैसी पीरियड फिल्मों की बॉक्स ऑफिस पर कामयाबी के बाद फिल्म निर्माताओं को लगा कि भगतसिंह भी स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर के ऐसे नायकों में हैं जिनकी छवि को बेचा और भुनाया जा सकता है। पर इसके लिए उन्हें ''मसाले'' की तलाश थी। यानी क्रांतिकारी हीरो ऐसा हो जिसकी जिन्दगी में प्यार-व्यार भी हो। अब तक प्रदर्शित फिल्मों में ''23 मार्च 1931 शहीद'' और ''द लीजेण्ड ऑफ भगतसिंह'' में भगतसिंह की मंगेतर / प्रेमिका को तलाश कर लिया गया क्योंकि इसके बिना हिंदी सिनेमा की मांग पूरी नहीं होती। वे भूल जाते हैं कि ''गाँधी'' फिल्म भी सफल हुई थी जिसमें कोई प्यार का गाना और दृश्य नहीं थे। भगतसिंह पर धर्मेन्द्र की फिल्म में बॉबी देओल (भगतसिंह) और ऐश्वर्य राय (मंगेतर) साथ-साथ गाना गाते हैं। कहा जाता है कि ऐश्वर्य राय को इस छोटी-सी भूमिका के लिए 30 लाख रुपये का पारिश्रमिक दिया गया। तो दूसरी फिल्म के निर्माता राजकुमार संतोषी भी अजय देवगन (भगतसिंह) के साथ उनकी मंगेतर को फिल्मी लटके-झटके के साथ तुड्डक-तुड्डक और बल्ले-बल्ले करा देते हैं। मंगेतर यानी प्रेमिका गाती है और नाचती है। वह भगतसिंह के पीछे दौड़ती है। भगतसिंह भी गाते हैं। फिर उसका हाथ अपने कंधे से हटाते हुए कहते हैं - ''तेरी मेरी राहें अलग-अलग हैं।'' एकदम मुंबईया फिल्मीकरण। भले ही उस नायिका को बाद में पर्दे पर इस तरह का सपना देखते हुए दिखा दिया गया हो। भगतसिंह के जीवन में कोई ऐसा प्रसंग नहीं था, पर शायद इस नाच-गाने के बिना फिल्में पूरी नहीं हो सकती थीं। निर्माता इन दृश्यों को फिल्मों की माँग कहेंगे और यह भी बतायेंगे कि यह उनके व्यवसाय की मजबूरी है। पर क्या व्यवसायिक मजबूरी के चलते एक क्रांतिकारी शहीद की छवि को जनता और नई पीढ़ी के सम्मुख गलत ढंग से प्रस्तुत करने की छूट किसी को दी जानी चाहिए। भगतसिंह के भांजे प्रो. जगमोहन सिंह कहते हैं कि भगतसिंह की कभी सगाई नहीं हुई। और न ही ऐसी कोई रस्म हमारे परिवार में चलन में थी जिसमें सगाई से पहले सम्भावित दुल्हन को दूल्हे के घर लाया जाये। यह हमारी इतिहास-चेतना की अनुपस्थिति का बड़ा उदाहरण है कि यह फिल्में सिनेमा हॉल में प्रदर्शित हो रही हैं और हम सवाल भी खड़े नहीं करते। ''माउण्टबेटन : द लास्ट वायसराय'' जैसी फिल्म हमारे इतिहास को विकृत तरीके से प्रस्तुत करती है और हम चुप रहते हैं। मनोज कुमार के धारावाहिक ''भारत के शहीद'' में भी कई स्थानों पर क्रांतिकारियों की छवि को ध्वस्त करने पर हमारे मध्य बहुत हलचल नहीं हुई थी। यह सही है कि फिल्में इतिहास नहीं होतीं और न ही फिल्मों को देखकर हमें कोई ऐतिहासिक निष्कर्ष

निकालने चाहिए। बावजूद इसके यदि फिल्में इतिहास अथवा उसके किसी नायक के व्यक्तित्व और विचारधारा  को इस हद तक नुकसान पहुँचाये कि लोग उसे लेकर किसी बड़े भ्रम का शिकार होने लगें तो उन सभी को उसका विरोध करना चाहिए जो उसकी वास्तविकता से गहराई तक परिचित हैं। आश्चर्य होता है कि भगतसिंह के परिवार के दो सदस्यों ने धर्मेन्द्र और सन्तोषी की फिल्मों में सलाह-मशविरा भी दिया है तो भी इन  फिल्मों में भगतसिंह की भूमिका के साथ न्याय नहीं हो सका है। इसके लिए हम किसे दोषी कहें। जिन फिल्मों से कुलतार सिंह और जगमोहन सिंह जुड़े हैं वे उन फिल्मों की आलोचना न करके दूसरी अन्य फिल्मों के प्रस्तुतीकरण पर ऊँगली उठाते हैं। कुछ और भगतसिंह के रिश्तेदार जो इन फिल्मों के विरोध में बयानबाजी कर रहे हैं वे सिर्फ यह दिखाने के लिए ही कि वे भी उस शहीद के रक्त सम्बन्धी हैं और उनका भी भगतसिंह पर अधिकार है। जिस तरह यह सब हुआ है उसे देखकर लगता है जैसे भगतसिंह कोई पारिवारिक वस्तु या सम्पत्ति हों। देखा यह भी जाना चाहिए कि भगतसिंह की फिल्मों पर उनके परिवार के सदस्यों की जो आपत्तियाँ हैं उनमें उस शहीद की विचारधारा को दबाने या छिपाने का लेकर कहीं कोई विरोध नहीं है। क्या भगतसिंह की फिल्मों पर सवाल उन कुछेक लोगों और संगठनों को नहीं खड़े करने चाहिए जो उनकी विचारधारा को आगे बढ़ाने के लिए जनता के बीच वर्षों से कार्य कर रहे हैं। पर क्या कारण है कि दिल्ली में जिस ''भगतसिंह विचार मंच'' को कभी हंसराज रहबर बना गए थे उसके संचालक आज इन फिल्मों पर एक बयान, या आपत्ति भी दर्ज नहीं कराते। मैं मानता हूँ कि भगतसिंह पर बनी इन फिल्मों से यह लाभ तो होगा कि नई पीढ़ी उस क्रांतिकारी के नाम से बखूबी परिचित हो सकेगी। लेकिन हम चाहते हैं कि यह फिल्में भगतसिंह को सम्पूर्ण रूप से जानने-समझने का प्रस्थान बिन्दु बन सकें। भगतसिंह से परिचित होने के लिए फिल्में नहीं, इतिहास और साहित्य ही माध्यम बनेगा। यह हमारा सौभाग्य है कि भगतसिंह के सम्पूर्ण दस्तावेज और उस आन्दोलन की अधिकांश चीजें आज हमारे बीच उपलब्ध हैं। क्या यह अत्यन्त खेदजनक स्थिति नहीं है कि किसी फिल्म निर्माता ने भगतसिंह सम्बन्धी दस्तावेजों और पुस्तकों से पर्याप्त शोघ नहीं किया। भगतसिंह की छवि को वास्तविक और जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए उनके बयानों, लेखों, जेल नोटबुक के साथ ही यशपाल, विश्वनाथ वैशम्पायन, भगवानदास माहौर, सदाशिवराव मलकापुरकर, दुर्गा भाभी, सुशीला दीदी, सुरेन्द्र पाण्डेय, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, जितेन्द्रनाथ सान्याल, पं. किशोरीलाल, डॉ. गयाप्रसाद, विजयकुमार सिन्हा, का. सोहनसिंह जोश आदि उनके साथियों के संस्मरणों को भी देखा जाना चाहिए। भगतसिंह जनता के बीच एक दंतकथा अवश्य बन गए थे। यह उनकी जनप्रियता का नमूना है। पर उन दंतकथाओं के आधार पर उस वैचारिक क्रांतिकारी की छवि को पुस्तक या पर्दे पर उकेरना नितान्त असंगत होगा। यह भी ध्यान दिये जाने योग्य है कि भगतसिंह के व्यक्तित्व को किताबों में भी कई बार गलत ढंग से प्रस्तुत किया जाता रहा है। किसी ने उन्हें हिंसा का समर्थक आतंकवादी कहा तो किसी ने अराजकतावादी। किसी ने उन्हें राष्ट्रवादी देशभक्त के रूप में देखा। किसी ने उन्हें मार्क्सवादी

माना तो कोई यह भी कहता रहा कि भगतसिंह अगर आज जिंदा होते तो नक्सलवादी होते। सबके अपने-अपने राम, अपने-अपने भगतसिंह। चूकें संस्मरणों को लिखे जाने में हुई हैं। कुछ अनजाने में तो कुछ जानबूझकर अपना महत्व प्रदर्शित करने की चेष्टाओं के चलते भी भगतसिंह की छवि निरन्तर वास्तविकता से परे होती चली गई। मुझे याद है कि बहुत पहले दिल्ली के एक लेखक ने अपनी एक पुस्तक में लिख दिया था कि एक बार भगतसिंह पानी के जहाज से यात्रा कर रहे थे कि उस जहाज पर बैठे हुए कुछ अंग्रेजों ने भारत माता की शान के विरुद्ध अपशब्द कह दिये। भगतसिंह ने इस पर क्रुद्ध होकर उन अंग्रेजों को कान पकड़कर समुद्र में फेंक दिया। पहली बात तो यही कि भगतसिंह ने अपने जीवन में कोई समुद्र यात्रा नहीं की थी। दूसरे यह कि कान पकड़कर किसी कुत्ते के पिल्ले या बिल्ली को तो उठाकर फेंका जा सकता है, आदमी को नहीं। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि अनेक क्रांतिकारियों की छवि को उनके साथी संस्मरणकारों ने प्रस्तुत करने में मनगढ़न्त बातों का साहरा लिया है और इससे कई तरह की विसंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं। इस मामले में यशपाल जैसे बड़े रचनाकार भी पीछे नहीं रहे। विगत दिनों मुंबई से आने वाले ''जनसत्ता'' की साप्ताहिक नगर पत्रिका ''सबरंग'' के 27 दिसम्बर सन् 1998 ई. के अंक की आवरण-कथा ''जानकीदास : गुजरा हुआ जमाना'' में शहीद भगतसिंह से सम्बन्धित जानकी दास का एक संस्मरण छपा था। मैंने पढ़ा तो वह सब मुझे बहुत अविश्वसनीय लगा। डी ए वी कालेज लाहौर के प्रधानाचार्य पं. रामरतन वक्षी को ''केश बंधे युवक'' भगतसिंह का केन्द्रीय असेम्बली दिल्ली में बम फेंकने जाने का रहस्य बताने को कोई अर्थ नहीं है। क्रांतिकारी दल में इस तरह के ऐक्शनों का खुलासा नहीं किया जाता था और न ही उस समय भगतसिंह केशधारी क्रांतिकारी थे। उन्होंने साण्डर्स वध के पश्चात अपने केश कटवा दिये थे। ऐसा करने के पीछे उनका धर्मनिरपेक्ष क्रांतिकारी चिन्तन था और यह भी कि साण्डर्स को मारने के बाद वे वेश बदलकर लाहौर से कलकत्ता दुर्गा भाभी के साथ निकल कर गए थे। यह किसी फिल्मी दृश्य की तरह लगता है कि जाड़े का मौसम था और जंगल में राजगुरु, सुखदेव व बटुकेश्वर दत्त आग ताप रहे थे। क्रांतिकारी दल में भर्ती का ऐसा नियम भी उन दिनों नहीं था कि सदस्यों से जलती आग के सामने हाथ रखवा कर परीक्षा ली जाती हो। भगतसिंह-युग के क्रांतिकारियों ने बहुत-सी पुरानी परिपाटियों को पीछे छोड़ दिया था। जानकीदास जब यह कहते हैं कि लाहौर की इस मुलाकात के दूसरे ही दिन भगतसिंह ने दिल्ली की असेम्बली में बम का विस्फोट किया तो यह कहानी और भी हास्यास्पद प्रतीत होती है। भगतसिंह से लाहौर की भेंट में वह जाड़े का मौसम लिखते हैं और अगले दिन बम फेंकने की घटना। जबकि असेम्बली बम काण्ड 8 अप्रैल सन् 1929 ई. को हुआ था और तब मौसम गर्मी का था। यह भी ध्यातव्य है कि भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त यदि बम काण्ड के एक दिन पहले लाहौर में रामरतन वक्षी और जानकी दास से मिल रहे थे तो अगले रोज वे दिल्ली कैसे पहुँच गए। यह सब बहुत अस्वाभाविक और अकल्पनीय है।

ऐसे संस्मरणों के भीतर की सच्चाई को जानने के लिए क्रांतिकारी आन्दोलन के उस

पूरे दौर के इतिहास को खंगालना होगा जो निश्चय ही श्रमसाध्य कार्य है और जिसके लिए समय के साथ समर्पण की भी आवश्यकता है। शायद यही कारण होंगे जिनके चलते अभी तक भगतसिंह की फुललेन्थ की जीवनी की प्रतीक्षा बनी हुई है। यह काम विजय दा (विजय कुमार सिन्हा) कर सकते थे, पर वे उसे कर नहीं पाये। मन्मथनाथ गुप्त ने अवश्य भगतसिंह और उनके पूरे युग पर एक निष्पक्ष और गहरी दृष्टि डाली, लेकिन उसमें बहुत सारी चीजें इसलिए भी छूट गईं क्योंकि भगतसिंह की जेल नोट बुक जैसे जरूरी दस्तावेजों का प्रकाशन तब नहीं हो पाया था। भगतसिंह की कुछ पुस्तकें तो आज भी हमारे सामने नहीं आ सकीं, जैसे ''आइडियल ऑफ सोशलिज्म'', ''द डोर टु डेथ'', '' आटोबायोग्राफी'' और चौथी ''द रिवोल्यूशनरी मूवमेन्ट ऑफ इण्डिया''। सवाल यह कि क्या हुआ इन पुस्तकों का। वीरेन्द्र संधु की सूचना अनुसार ये पुस्तकें थोड़े-थोड़े कागजों के रूप में उनके छोटे भाई कुलबीर सिंह के हाथों जेल से बाहर आयीं। भगतसिंह का आदेश था कि यह सब सामग्री कुमारी लज्जावती जी को दे दी जाये। कुलबीर सिंह के ही शब्दों में - ''मुझे कुछ मोह हुआ और मैंने कुछ सामग्री अपने पास भी रख ली।'' बाद को भगतसिंह के दुबारा कहने पर उन्होंने वह चीजें लज्जावती जी को सौंप दीं। इसके बाद की कहानी कुलबीर सिंह ने जो बताई वह इस प्रकार है - ''1933-34 में मैंने इस साहित्य की बात चाचाजी (सरदार अजीत सिंह) को लिखी, जो उस समय जर्मनी में थे। उन्होंने उत्तर दिया कि उस सब साहित्य की नकल कराकर मुझे भेज दो। मैं उन्हें यहाँ अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं में छपा दूँगा। मैं लज्जावती के पास गया। उन्होंने कहा, वह देश की सम्पत्ति है, इसलिए मैंने पंडित जवाहरलाल नेहरू को दे दी थी। कुछ दिन बाद पंडित नेहरू लाहौर आए, तो मैंने उनसे उस साहित्य की नकल दे देने को कहा। वे बोले, तुमसे किसने कहा कि मेरे पास वह साहित्य है। मैंने लज्जावती जी का नाम लिया। वे चुप हो गए। इसके बाद मैंने फिर लज्जावती जी से पूछा तो वे बोलीं, मैंने वे पुस्तकें विजय कुमार सिन्हा को दे दी हैं। मिलने पर श्री विजय कुमार सिन्हा ने स्वीकार किया और 1946 तक कहते रहे कि उन्हें देखभाल कर जल्दी ही छपायेंगे। पर बाद में उन्होंने कहा कि वे पुस्तकें सुरक्षा के ख्याल से किसी मित्र के पास रखी थीं, वहीं नष्ट हो गयीं।''

मैं लम्बे समय तक विजय दा के सम्पर्क में रहा, पर उनसे भगतसिंह की इन पुस्तकों की चर्चा नहीं की, न उन्होंने कुछ बताया। क्या सचमुच भगतसिंह का वह साहित्य नष्ट हो गया। वह सिर्फ एक व्यक्ति का ही साहित्य नहीं, हमारे समाज और इतिहास की अमूल्य धरोहर थी। उसके नष्ट हो जाने या खोने का मुझे अत्यन्त दुख है। आज वे चीजें सामनें होतीं तो हम देख पाते कि भगतसिंह स्वयं अपने बारे में क्या कहना चाह रहे थे, मृत्यु के नजदीक खड़े होकर उनका चिन्तन कैसा था और समाजवाद को पाने के लिए उनके पास कैसी योजनाबद्ध लड़ाई का खाका था।

बहुत पहले दिल्ली से प्रकाशित एक लोकप्रिय हिंदी दैनिक में किसी पगड़ी बेचने वाली दुकान का विज्ञापन छपा जिसके साथ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की तस्वीर थी। मैं

मानता हूँ कि तिलक की वह तस्वीर अनजाने में ही उस विज्ञापन के साथ जुड़ गई होगी। पर संपादक का ध्यान आकर्षित कराने के बाद भी उसमें भूल-सुधार की जरूरत नहीं समझी गई। तिलक को पगड़ी बेचने के लिए इस्तेमाल किये जाने के पीछे यही रहा होगा कि उस क्रांतिकारी के चित्र को समाचार पत्र के कार्यालय के लोग नहीं पहचानते होंगे। यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि लोकमान्य की छवि हमारे देशवासियों के लिए अपरिचित रह गई। शायद इतिहास नायकों के प्रति हमारा उपेक्षा भाव ही इसके लिए दोषी है। फिल्मी नायक-नायिकाओं की छवियाँ जिस नई पीढ़ी के दिलोदिमाग पर गहराई तक बसी हों वहाँ राष्ट्रपुरुषों के चेहरों की ओर कौन देखे।

तिलक का पगड़ी बेचने के लिए इस्तेमाल भले ही अनजाने में हुआ हो, पर नमक बचेने के लिए गाँधी के दांडी आंदोलन के नाम का दुरुपयोग रोकने की बात किसी के दिमाग में नहीं आती। इसलिए भी कि राष्ट्रीय चेतना के प्रति हमारे भीतर वह सम्मान ही नहीं है जो किसी देश के जागरुक नागरिक में होना चाहिए। हमारे देखते-देखते एक आन्दोलन, एक विचार और एक अहिंसक साम्राज्यवाद विरोधी अभियान को उपभोक्ता सामग्री में तब्दील कर दिया गया और हम खामोश बने रह गए। भगतसिंह यानी एक क्रांतिकारी इस सदी में सिर्फ बाक्स ऑफिस के ही हिस्से नहीं बनते, बल्कि लखनऊ में उनके नाम पर एक रेस्त्रां भी चलाया जाता है जिसका द्वार लाहौर जेल के दरवाजे की तरह तैयार किया गया। बाहर भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेश की तस्वीरें फाँसी के फन्दों के साथ दिखाई जाती हैं, और भीतर शहीदों और क्रांतिकारियों के नाम पर मुर्ग-मुसल्लम की लजीज़ डिशें – 'स्वराज्य चिकन', 'काकोरी कबाब', 'सरफरोश कबाब', और 'लाहौरी बिरियानी'। पानी और रोटी जो परोसी जाती है उसे ''काला पानी'' और ''जेल की रोटी'' का नाम दिया जाता है। बैरे क्रांतिकारी कैदियों की वेशभूषा में होते हैं। ''भगतसिंह फुड फेस्टिवल'' के नाम पर यह आयोजन लखनऊ के तुलसी थियेटर स्थित नौजीशान रेस्टोरेन्ट में किया जाता है। रेस्त्रां में भोजन खा रहे ग्राहकों से पूछे जाने पर वे कहते हैं – उन्हें ऐसा लग रहा है कि जो भोजन जेल में भगतसिंह और उनके साथी खाते थे, वे वही खा रहे हैं। ''आज तक'' टी.वी. पर देश भर के लोग इस रेस्त्रां को देखते हैं पर कहीं कोई हलचल नहीं होती। सत्तर साल पहले बलिदान हुए अपने अमर शहीदों का अपमान और खुला मजाक हमें तनिक भी विचलित नहीं करता। शहीदों के नाम पर मुर्ग-मुसल्लम और कबाब। खा-पी रहे हैं लोग। बिक रहा है सब कुछ। क्या हमारे व्यवसाय का कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं होना चाहिए। क्या हमारे लिए राष्ट्रीय शर्म जैसी कोई चीज नहीं रह गई है। लखनऊ उत्तर प्रदेश की राजधानी है। वहाँ कम्युनिस्ट पार्टियों के कार्यालय हैं, लेखक-कवि और संस्कृतिकर्मी हैं, सामाजिक संगठन हैं। पर सबके सब चुप हैं बुरी तरह। बाजार अब किसी भी चीज का कबाब बना देगा। अब सब कुछ बिकेगा बाजार में और इस देश के लोग उनके खरीदार होंगे। हो सकता है आगे चलकर पर्दे या विज्ञापनों में भगतसिंह पेप्सी या कोला बेचते हुए नजर आयें।

आओ, हम ''भगतसिंह जिंदाबाद'' न कह कर ''बाज़ार जिंदाबाद'' का नारा बुलन्द करें।

सामयिक : दो

# धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्मविहीनता नहीं है!

सुधा अरोड़ा

गुजरात के दंगों में जो कुछ हुआ, उसने सारी नैतिक आचार संहिताओं को पीछे छोड़ दिया है। हिंसा के तांडव के सामने भावनाओं की बीन का कोई असर नहीं होता। आनंद पटवर्धन की 1995 में बनाई एक फिल्म है - 'पिता, पुत्र और धर्मयुद्ध' (Father, son and the holy war)। उसमें 1993 के मुंबई के दंगों के कुछ दृश्य हैं। उसमें एक दिल दहला देने वाला दृश्य है - सड़क के बीचोबीच पड़ी एक महिला की जली हुई देह, अपने बचाव में भागते हुए गिर जाने की मुद्रा में फ्रीज हुई सी और उस सड़क पर से गुजरते हुए बगैर उस ओर देखे कुछ असंपृक्त जीवित मनुष्य .... आठ साल बाद सन् 2002 के 'कम्यूनलिज्म कॉम्बैट' के 'जेनोसाइड' वाले अंक में भी कुछ ऐसी ही जली हुई बोलती लाशों की तस्वीरें हैं - भयभीत खुली हुई आँखें और बचाव की प्रार्थना में उठे दोनों हाथ और चीखते होंठ - धर्म और संप्रदाय के नाम पर हिंसा से दहशतजदा फ्रीज हो चुके चेहरे और सत्ताधारी पक्ष की संवेदनहीनता देखकर न सिर्फ निराशा और हताशा घेरती है, कहीं अपने प्रति एक भर्त्सना का भाव भी उभरता है। इतने सालों में क्या किया हमने? सिवाय चंद मर्सिए पढ़ने के? राही मासूम रजा के शब्दों में कहने को मन होता है, 'लगता है बेकार गए हम' ... कहाँ हम यह समझे बैठे थे कि धर्म को राजनीति का मोहरा बनाने वाले लाख रथयात्रा निकाल लें, साधु संतों की मंडली को राजनीति के अखाड़े में उतार लें, जहर से बुझी ललकारें माइक पर उगलें, बहुसंख्यक वोट बटोरने के लिए सोया हुआ हिन्दुत्व जगाएँ, लेकिन यह राजनीति की हवा का अस्थायी झोंका है, तात्कालिक जुनून है, एक न एक दिन वे स्वयं बेनकाब हो जाएंगे और लंबे अरसे तक

करोड़ों की आबादी को बेवकूफ बनाने में हरगिज कामयाब नहीं होंगे, लेकिन हमें पता ही नहीं चला कि कब इसने आम आदमी के भीतर अपनी जड़ें फैला लीं, कब हमारे अपने लोगों के बीच से उठकर एक बड़ी जमात दूसरे खेमे में जा बैठी, कब हत्यारे अपनी मूँछों पर ताव देते हुए जनता के हीरो बनकर गर्व से पुलिस और कानून को धता बताते हुए अपने जुर्म को तर्कसंगत ठहराते रहे और हम उनके खिलाफ लाखों हस्ताक्षर इकट्ठे कर लुटे पिटे से उन्हें देखते रहे। सारे नियम कानून उनके हाथों की कठपुतली हैं, पुलिस और सत्ता उनकी हिमायती है - ''ये अंदर की बात है, पुलिस हमारे साथ है।'' गुजरात में हुए दंगों न ने सिर्फ हमें विस्मित और हताश किया है, एक हद तक सभी धर्मनिरपेक्ष ताकतों को ठेंगा दिखा दिया है। ऐसा नहीं है कि यह जुनून एकाएक आम जनता के सिर चढ़कर बोलने लगा, बेहद सुनियोजित ढंग से यह जहर हर संभव तरीके से हर वर्ग, हर उम्र के नागरिक की नसों में धँसाया जा रहा है। इस जहर को निकालना अब इतना आसान नहीं रह गया है। अगर आम आदमी की को धर्म के नाम पर बर्बर हिंसा, खून खराबा, कत्ले आम करने की सीमा तक उकसाया और गुमराह किया जा सकता है तो इसका सीधा अर्थ है कि प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष ताकतें कहीं पूरी तरह असफल और निष्क्रिय हो गयी हैं। आम जनता पर उनकी पकड़ ढीली हुई है। माना कि आम आदमी की प्रकृति में ही हिंसा की नकारात्मक प्रवृति धँसी हुई है और भूख, गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, महँगाई इस हिंसा की आग को हवा देने का काम करती है जिसकी पहचान करते ही राजनीतिक पार्टियाँ उस आग में अपनी रोटियाँ सेंकने लगती हैं। पर क्या हमने आम आदमी के इतने बड़े जत्थे को अपने साथ जोड़ने की कोशिश की? या हम उन्हें बौद्धिकता के दायरे में कैद सिर्फ सिद्धांत पिलाते रहे? आज सत्ता में होने के कारण इन फासीवादी पार्टियों के औजार भी पैने हो गए हैं। इन औजारों को निरस्त करने के लिए अपने औजारों की भी शिनाख्त जरूरी है।

अपनी बात शुरू करने से पहले मुंबई में घटित पिछले कुछ महीनों के आयोजनों का ब्यौरा देना चाहूँगी जो हमें अपनी तई कुछ सोचने को मजबूर करते हैं।

1. आय.आय.टी., मुम्बई, के हॉस्टलो के नोटिस बोर्ड पर लैम्पपोस्टों के नीचे लगे बोर्डों पर एक महत्वपूर्ण सूचना लगी है - 26 जनवरी 2002 को गणतंत्र दिवस की सुबह आय.आय.टी. के परिसर में प्रभात फेरी का आयोजन होगा। प्रभात फेरी के कार्यकर्ता आय.आय.टी. के पद्मावती देवी मंदिर के अहाते से शुरुआत करके हॉस्टलों और प्रोफेसरों के आवास में प्रसाद वितरण करते हुए आय.आय.टी. के शिक्षण संस्थान से गुजरेंगे। प्रभात फेरी कार्यक्रम हमें सीधे स्वतंत्रतापूर्व के आजादी के संघर्ष की याद दिलाता है। हमारी उत्सुकता जगाने के लिए यह शब्द काफी था। उस दिन हम देखने के लिए पहुँचे तो वहाँ हरे राम, हरे कृष्ण संस्थान यानी इस्कॉन के गेरुए वस्त्रधारी गोरे विदेशी हरे राम हरे कृष्ण आलाप पर आय.आय.टी. की सड़कों पर नाचते गाते झूम रहे थे और आय.आय.टी. के छात्रों में और प्रोफेसरों के क्वार्टरों में प्रसाद बाँट रहे थे। यह सन् 2002 के गणतंत्र दिवस पर आयोजित आय.आय.टी के परिसर में प्रभात फेरी का आयोजन था।

2. एक दोपहर विखोली स्टेशन से रिक्शे से घर आते समय चौराहे पर ट्रैफिक में रिक्शा रुक गया क्योंकि दाहिनी ओर की सड़क पर एक लंबा जुलूस गुजर रहा था। लगभग तीन सौ लोगों का जुलूस था, जिसमें दोनों ओर दो कतारों में बाड़े बना रखे थे और भीतर कुछ रंग बिरंगे आयोजन चल रहे थे। जुलूस आधा किलोमीटर से कुछ ज्यादा ही लंबा होगा। जुलूस की शुरुआत में कुछ भारतीय वाद्ययंत्रों - डमरू, ढोल, मंजीरें, खड़तालों के साथ लोकधुन में कुछ भजन गाए जा रहे थे। उसके बाद कुछ छात्राएँ सड़क के किनारे रंग बिरंगे पाउडर और घोल से तत्काल रंगोली के बड़े खूबसूरत डिजाइन बनाती जा रही थीं। दोनों कतारों के बीच में एक लम्बा कार्पेट बिछा था और उस पर पूजा अर्चना की कुछ क्रियाएँ हो रही थीं, जिसमें पहले झाड़ू लगाने की क्रिया, फिर गंगाजल का छिड़काव, फिर नारियल, धूप, अगरबत्ती की थाली तैयार करना, फिर जलता हुआ दीया और घंटिया बजाते हुए आरती की क्रियाएँ दोहराई जा रही थीं। एक बार सब क्रियाएँ हो जातीं तो वह कार्पेट वापस रोल कर दिया जाता और कुछ दूर जाकर फिर से यह पूरी प्रक्रिया दोहरायी जाती। जुलूस के अंत में एक सुसज्जित हथगाड़ी में किसी गुरू की तस्वीर लगी थी, उस पालकी के अगल-बगल भी कुछ रंगबिरंगी चुनरियों में सजी धजी युवा छात्राएँ थीं और अंत में कुछ लोग परचे बाँट रहे थे। जुलूस अपनी रौ में चल रहा था पर राह चलते लोगों के रुक कर जुलूस को देखने के लिए जमा हुई भीड़ के कारण ट्रैफिक जैम हो रहा था।

3. आय.आय.टी. कैम्पस स्कूल में 2 मई से 5 मई तक नवनिर्मिति ट्रस्ट की ओर से विज्ञान, साहित्य, काव्य और सांस्कृतिक संध्या का आयोजन हुआ। चार दिन के ये सभी कार्यक्रम साम्प्रदायिक सद्‌भावना पर केन्द्रित थे। आखिरी दिन 5 मई को दो नुक्कड़ नाटक हुए 'ये धुआँ, शोर, धमाका' और 'अपुन को क्या करना है'। दोनों ही नाटक बहुत प्रभावी थे। इसके अगले ही दिन विश्व हिंदू परिषद का एक छपा हुआ लीफलेट 'गोधरा हत्याकाण्ड - सत्य क्या है' आयोजको के घरों और आसपास के मकानों में बांटा गया। इस परचे में एम.वी.कामथ, वीर संघवी, जया जेतली और जयललिता के भाषणों के वे टुकड़े थे जो विश्व हिंदू परिषद की मान्यताओं में फिट बैठते हैं। इस एक पन्ने के परचे में अंग्रेजी मीडिया और सेक्युलर लोगों को 'काले अंग्रेजों' और 'निधर्मी' विशेषणों से नवाजते हुए वह पूछते हैं ''राम जन्मभूमि हिन्दुओं को देने के पक्ष में बोलनेवाले मुसलमानों के वक्तव्य अंग्रेजी मीडिया हमेशा क्यों दबा देता है?' ताजा उदाहरण - श्रीमती शौकत आजमी का बयान केवल शिवसेना के मुखपत्र 'सामना' ने छापा। (परचा संलग्न)

4. 1 तथा 2 जून 2002 को गोरेगाँव, मुंबई में कुछ रचनाकर्मियों, फिल्म निर्माताओं द्वारा एक शांति सभा का आयोजन रखा गया था। कार्यक्रम से तीन दिन पहले इस आयोजन के लिए दी गयी पुलिस अनुमति वापस ले ली गई, कारण पूछने पर दलील दी गई कि गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी मुंबई आने वाले थे, उनको भी आने की इजाजत नहीं दी गई है। यानी नरेंद्र मोदी के महाराष्ट्र दौरे पर प्रतिबंध और शांति सद्‌भावना सभा पर प्रतिबंध का

मापदंड एक ही है।

पहली जून को प्रो. सुधीर याद्रि स्मारक ट्रस्ट ने अपने पहले कार्यक्रम में आनंद पटवर्धन की तीन घंटे की डॉक्यूमेन्टरी फिल्म ''अमन और जंग'' का शो रखा गया था। इससे पहले 31 मई 2002 को कोलकाता के डॉक्यूमेन्टरी फिल्म फेस्टिवल में भी उद्घाटन आनंद की इसी फिल्म से होने वाला था, लेकिन अचानक इस फिल्म को न दिखा पाने के हर संभव तरीके अपनाए गए और दोनों दिन इस फिल्म की स्क्रीनिंग को रोका गया, वह सिर्फ सत्ताधारियों की कायरता और असुरक्षा को ही जाहिर करता था। आनंद पटवर्धन ने इस फिल्म की जगह 1995 में बनायी गयी अपनी एक पुरानी फिल्म 'पिता, पुत्र और धर्मयुद्ध' दिखायी , जो फरवरी 2002 के गोधरा कांड और गुजरात के कत्लेआम की स्थितियों पर पूरी तरह सटीक बैठ रही थी। अगर उस वक्त इस फिल्म को कुछ हिन्दुत्ववादियों ने देखा होता तो हॉल में तोड़ फोड़ मच गई होती क्योंकि इन तथाकथित 'सच्चे' हिंदुओं और 'सच्चे' रामभक्तों की असहनशीलता और उग्रवादिता जगजाहिर है। इसे देखने के बाद लगा कि आखिर आप कहाँ कहाँ प्रतिबंध लगाएंगे, किस किस का मुँह बंद करेंगे - तमाम पत्रकार, फिल्म निर्देशक, चित्रकार, लेखक, विचारक, सब वही कह रहे हैं जो आप सुनना नहीं चाहते ... कतार बहुत लंबी है। पर इस लंबी कतार के बावजूद कहीं कोई बदलाव क्यों नहीं हो रहा? सब कुछ रिवर्स गियर में क्यों जा रहा है? आज देखने की जरूरत है कि इन फासिस्ट ताकतों से लड़ने के लिए हमारे अपने औजार कितने धारदार हैं।

इन घटनाओं का पुनर्परीक्षण करने की जरूरत है। ये घटनाएँ हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में दखल देती हैं। सबसे पहले पहली घटना को लें -

आय.आय.टी. के परिसर में तीस साल पहले मैं भी रह चुकी हूँ। हमारे कई मित्र आय.आय.टी. में प्रोफेसर रहे हैं। एक मित्र कुछ वर्षों तक वहाँ के डीन ऑफ स्टूडेंट्स अफेयर रह चुके हैं। उन्होंने बताया था कि कई बार इस तरह की संस्थाएँ, इस्कॉन या आर्ट ऑफ लिविंग आय.आय.टी. के परिसर में आयोजन करने की अनुमति लेने आ चुकी हैं लेकिन हर बार उन्हें यही समझाया जाता है कि इस शिक्षण संस्थान में हर धर्म, हर जाति के छात्र पढ़ते हैं, यहाँ किसी एक धर्म के प्रचारकों को कोई आयोजन करने की अनुमति देना गलत है। आय.आय.टी. संस्थान अपने छात्रों के उदारवादी दृष्टिकोण और प्रगतिशील विचारों के लिए जाना जाता रहा है, इस बार गणतंत्र दिवस के दिन 26 जनवरी को न सिर्फ इस्कॉन संस्था को भजन गाते हुए प्रसाद बाँटने की अनुमति दी गई बल्कि इस कार्यक्रम को नाम दिया गया - प्रभात फेरी। यों तो प्रभात फेरी का शाब्दिक अर्थ सुबह सवेरे घूमने वाली टोली है पर इस शब्द को आप आजादी की लड़ाई से जोड़े बिना नहीं रह सकते। तीस साल पहले के इस अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त संस्थान में इस बदलाव के अन्तर्निहित अर्थ हैं। आय.आय.टी. में पढ़ रहे कुछ सीनियर छात्र, जिन्होंने पिछले दो तीन सालों से फाइनल परीक्षा नहीं दी है, नियमित रूप से नए छात्रों, प्रोफेसरों, परिचितों, मित्रों को ई मेल पर 'क्षत्रिय' नाम से कुछ हिन्दुत्ववादी संदेश थोक

में भेजते रहते हैं, जिसमें सफदर हाशमी से लेकर शबाना आजमी और अरुंधती राय जैसे 'छद्म धर्मनिरपेक्षतावादी' स्यूडो सेक्यूलर के लिए भर्त्सना भरे उद्गार व्यक्त किए जाते हैं। जाहिर है कि ये जहीन, प्रतिभासम्पन्न छात्र हैं वर्ना इन्हें आय.आय.टी. जैसे संस्थान में प्रवेश न मिला होता। इस संस्थान की सालों से अपनी एक बेहद सुसंस्कृत परम्परा रही है जिसमें शास्त्रीय संगीत से लेकर बेहतरीन विश्व साहित्य और क्लासिक विदेशी फिल्मों के प्रति छात्रों में एक परिष्कृत रुचि तैयार की जाती रही है। आज इस परम्परा में घुन लगता दिखाई दे रहा है। ऐसे संस्थानों में आए मेधावी छात्रों को भी 'सच्चा' क्षत्रिय बनाने के लिए ऐसे रणबांकुरे मौजूद हैं जो धर्म और संस्कृति के फर्क को धुंधला कर रहे हैं। आज आय.आय.टी. के कई छात्र इंजीनियरिंग की अपनी पढ़ाई को बीच में छोड़कर या अपने प्रोफेशनल केरियर को तिलांजलि दे आर्ट ऑफ लिविंग या इस्कॉन या चिन्मय आश्रम से जुड़ गए हैं। उनके अनुसार उन्हें वहाँ 'मानसिक और आध्यात्मिक शान्ति' मिलती है। आज के आपाधापी और गलाकाट प्रतिस्पर्धा वाले समय में इस तरह की आध्यात्मिक संस्थाएँ राहत देती हैं। उनका कहना है, इसका विकल्प कहाँ है? इससे आगे बढ़कर कुछ छात्र पढ़ाई खत्म करने के बाद हिन्दू धर्म के प्रचार प्रसार के लिए आर.एस.एस. के होल टाइमर कार्यकर्ता बनने का इरादा रखते हैं। एक और तस्वीर विदेश में बसे पढ़े लिखे प्रोफेशनल आप्रवासी भारतीयों की है, जिनकी उम्र पचास से साठ के बीच है, जिनके बच्चे पूरी तरह अमरीकी रंग में रंगे हैं, विदेशी जमीन पर बरसों से रहते हुए जिनके लिए अपनी संस्कृति और अपनी पहचान का संकट त्रासद हो रहा है। विदेशों में निजी व्यवसाय में जुटे ये आप्रवासी भारतीय, भारत में बसे हुए अपनी पुरानी पीढ़ी के लोगों, जिनमें हम अपने को भी शुमार करते हैं, से कहीं ज्यादा पुरातनपंथी और रुढ़िवादी हैं। अपनी हिन्दू संस्कृति को किसी भी कीमत पर बचाए रखने के जुनून में वे अपनी आकर्षक आय का एक बड़ा हिस्सा विहिप जैसे संगठनों को फलने फूलने के लिए भेंट करते हैं और यहाँ की समस्याओं से आँखें मूँदे हुए इस खुशफहमी में रहते हैं कि वे अपनी हिन्दू संस्कृति की रक्षा के लिए और अपने देश की प्रगति के लिए बहुत बड़ा योगदान दे रहे हैं। 26 जुलाई 2002 को गणेश मंदिर, न्यूयॉर्क में साध्वी ऋतंभरा उर्फ दीदी माँ की स्वागत अभ्यर्थना का विस्तृत आयोजन सम्पन्न हुआ जिसमें अनाथ बच्चों के लिए विहिप की नयी योजना, 'वात्सल्य ग्राम' के लिए आर्थिक सहयोग जुटाना प्रमुख था। विहिप के अनुयायियों ने अपने बंधु बांधवों से 100 से 1000 डॉलर तक की राशि दान करने की अपील की है, जिस पर आयकर की छूट शामिल है। इधर आउटलुक में भी विहिप के विशालकाय अनुदानों पर एक शोधपरक आलेख आया है।

अब दूसरी घटना पर आएँ। विखोली स्टेशन से गाँधीनगर के रास्ते से गुजरता यह जुलूस महज एक धार्मिक प्रतिष्ठान का जुलूस नहीं है। सड़कों पर जुलूस निकलना आम बात है। पर यह जुलूस हमें कुछ सोचने पर मजबूर करता है। आमतौर पर जुलूसों में कुछ बैनर, कुछ नारे होते हैं जिसके शोर से एक नीरसता पैदा होती है जो रोजमर्रा की दिनचर्या में खलल डालती

है, सड़कों के यातायात में रुकावट पैदा होती है और आदमी जुलूस देखते ही खीझता है। पर इस जुलूस में कुछ क्रियाएँ हैं, कुछ रंग हैं, लोकगीत और संगीत है। आसपास से गुजरते लोग इसे देखने के लिए रुकते हैं और हाथ में एक परचा लिए-लौटते हैं। धर्म के कर्मकांड में एक चुम्बकीय आकर्षण होता है। आम आदमी की इसी नब्ज पर हाथ रख अडवानी की रथयात्रा ने करोड़ों की जनता का सोया हुआ हिंदुत्व जगा दिया था और रातों रात कस्बों के गली कूचों का 'जै राम जी की' का प्रेम भरा संबोधन 'जय श्री राम' की हुंकार भरी मुट्ठियों में तब्दील हो गया था। एक आम निम्नमध्यवर्गीय आदमी के लिए धर्म न गीता है, न रामायण, न महाभारत क्योंकि उसने कोई भी धर्मग्रंथ नहीं पढ़ा है, ज्यादा से ज्यादा वह टी.वी. धारावाहिक रामायण या महाभारत देखकर या गांव की रामलीला या रासलीला के माध्यम से उसकी कहानी की रोचकता पर मुग्ध होता है। इस निम्नमध्यवर्गीय आदमी को डराने धमकाने उकसाने के लिए धर्म काम आता है। वह नहीं जानता कि धर्म क्या है, पर उसे जब बताया जाता है कि उसका धर्म खतरे में है तो इस धर्म की ज़िन्दगी से बड़े आकार की तस्वीर के खौफ से वह हड़बड़ाकर उठता है और धर्म की रक्षा के लिए हिंसक भीड़ के हाथ में उठा हुआ खंजर उसे शिव का त्रिशूल दिखाई देता है। गुजरात की हिंसा में लोगों ने औरतों पर बलात्कार कर उनके माथे पर उन्हीं के खून से ओम लिख दिया था। ये सारे काम विश्व हिंदू परिषद के राजनीतिक गुंडों ने किए, आम आदमी ने नहीं। आम आदमी सिर्फ समर्थक और लूटपाट की भूमिका में था। धर्म की रक्षा के लिए ऐसी हिंसा, बर्बरता, खूनखराबा - सब कुछ उसे जायज लगता है। इसका पाठ पढ़ाने वाले अपने आप को सच्चा हिंदू और सच्चा रामभक्त कहते हैं।

उद्भावना : 61 में अजेयकुमार लिखते हैं - "मुझे लगता है हमने अपने सारे वेद-पुराण, रामायण-गीता-महाभारत, भाजपाइयों के हाथ सौंप दिए हैं। क्या ये ग्रंथ केवल हिंदू राष्ट्रवादियों के हैं?" राजेंद्र यादव का तर्कसम्मत और तल्ख आक्रोश धरा रह जाता है जब वह हिंदुत्व की सही परिभाषाएँ देने के बाद एक गैर जिम्मेदार जुमला कस देते हैं कि रावण की लंका जलाने वाले पहले आतंकवादी हनुमान थे या सीना ठोकर अपने को नास्तिक घोषित करते हैं या अपने हर संपादकीय में हिंदुओं की ऐसी तैसी करते रहते हैं। आनंद पटवर्धन जैसा प्रतिभावान फिल्म निर्देशक 'राम के नाम' और 'पिता, पुत्र और धर्मयुद्ध' जैसी धारदार फिल्में बनाते हुए जब साथ ही पाँच मिनट की दया पवार और संभाजी भगत की कविता पर आधारित 'नाही आम्ही वानर' (we are not your monkeys) जैसी फिल्म में राम और हनुमान में सवर्ण और दलित की सुनियोजित परंपरा को रेखांकित करता हैं तो उस आम आदमी के अपेक्षाकृत बड़े तबके से अपने को काट लेता है जो धर्म को लेकर संवेदनशील तो है पर बहुत जागरुक नहीं है। 'धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई किसी प्रकार की बौद्धिक अय्याशी की इजाजत नहीं देती।' एक आम आदमी धर्मनिरपेक्षता का अर्थ देवी देवताओं का अपमान करने वाले घोर नास्तिक किस्म के प्राणी से लगाता है जबकि धर्मनिरपेक्षता धर्मविहीनता का पर्याय नहीं है।

मुझे डॉ. रिफ़अत हसन का भाषण याद आता है, जब वह कुछ पहले मुंबई के

इंडियन मर्चेंट्स चेंबर में 'फेमिनिस्ट व्यू ऑफ कुरान' विषय पर बोल रही थीं। बकायदा सर पर दुपट्टा पूरी तरह ओढ़ कर कुरान की आयतों का पाठ करते हुए उन्होंने अपने भाषण की शुरुआत की। बेहद तार्किक और वैज्ञानिक तरीके और विद्रोही तेवरों के साथ कुरान की आयतों और हदीसों को उन्होंने पुर्नव्याख्यायित किया। सैकड़ों बरसों से चली आ रही पुरुषवादी व्याख्याओं को पूरी तरह ध्वस्त करते हुए उन्होंने अपने तर्कों और दलीलों से बुर्के वाली महिलाओं और कट्टरपंथी मुल्लाओं को भी प्रभावित किया। यह बात मूर्खतापूर्ण या पूर्वाग्रह युक्त लग सकती है लेकिन यही सारी दलीलें अगर रिफअत ने कटे बालों और सिगरेट का धुँआ उड़ाते हुए कही होती तो अब तक उनके नाम का फतवा जारी हो गया होता और पाकिस्तान की जमीन पर तो उन्हें पाँव रखने की भी इजाजत नहीं मिलती। तसलीमा नसरीन के संदर्भ में हम यह रवैया देख ही चुके हैं। इसके अर्थ गहरे हैं। एक आम नागरिक या औसत नागरिक धार्मिक ही होता है। धर्म की काट धर्म से ही संभव है। यहाँ स्थिति यह है कि धर्म, प्राचीन संस्कृति या परम्परा की बात करते ही आपको दक्षिणपंथी करार दिया जाता है। यह मार्क्सवादी संकीर्णता ही तो है कि अगर आचार्य रामविलास शर्मा तुलसीदास पर विवेचना करते हैं तो हम उन्हें तत्काल भाजपाई खेमे में डाल देते हैं। आज स्थिति यह है कि विश्व हिंदू परिषद हिंदुओं की तथाकथित स्वघोषित प्रतिनिधि संस्था बन गई है। हम सभी जानते हैं कि धर्म से उनका कोई सरोकार नहीं है और धर्म के बहाने वह राजनीति कर रहे हैं, 'नकली हिंदुत्व' या 'उग्रवादी असहनशील हिंदुत्व' का पाठ पढ़ाकर अपनी गोटी सीधी कर रहे हैं। डॉ. खगेन्द्र ठाकुर इसके लिए बड़ा सीधा सवाल पूछते हैं, ''राम के नाम पर जब भाजपाई राजनीति करते हैं तो यह तक भूल जाते हैं कि राम राज्य के लिए या सत्ता के लिए कभी लड़ते। चित्रकूट में जब भरत रामचन्द्र के राज्याभिषेक का जल लेकर पहुँचते हैं तो राम टाल देते हैं। आखिर राम की खड़ाऊँ लेकर भरत बुझे मन से चले जाते हैं। राज्य को ढेले की तरह भरत भी ठुकराते हैं और राम भी। यहाँ तो राम मन्दिर के नाम पर आँखें दिल्ली की कुर्सी पर लगी हैं। इन रामभक्तों को ईश्वर के पास तो जाना नहीं है। जाना है दिल्ली। इसलिए गरीब जनता से वह कहते हैं – महँगाई से मत लड़ो, बाबर से लड़ो। बेरोजगारी से मत लड़ो, औरंगजेब से लड़ो। गरीबी, बेरोजगारी, महँगाई सब धर्मनिरपेक्ष हैं। ये धर्म से पैदा नहीं हुई है।'' यह सब भूखे भजन करने की शिक्षा है। भूख से ध्यान हटाकर कहीं और उनका ध्यान केंद्रित किया जा रहा है। गुजरात में जिस तरह दलित और आदिवासियों को हिंसा के लिए उकसाया गया, वह कूटनीति से भरा एक सुनियोजित कदम था। दलित और आदिवासियों को अपने पक्ष में करने के लिए एक बाहरी शत्रु का निर्माण किया गया और वह दुश्मन मुसलमान ही हो सकता था, उसी को सामने खड़ाकर इन पिछड़ी जातियों का वोट बैंक तैयार किया गया। ग्राहम स्टेन्स जैसे ईसाई मिशनरियों को अपने रास्ते से हटाकर एकाएक 'बनवासियों' के हिमायती बन जाना आदिवासियों और पिछड़ी जातियों के वोट बटोरने की दिशा में ही एक सक्रिय कदम है। सत्ता मनुष्य को हृदयहीन और संवेदनहीन बना देती है। कवि प्रधानमंत्री वाजपेयी का गोवा में भाषण इसी संवेदनहीनता

का जीता जागता प्रमाण है। सत्ता की शतरंज में सारे मोहरे जीतने के लिए आड़े तिरछे फलांगते हुए चलते हैं। देश विदेश से लाखों नागरिकों के विरोध के बावजूद सत्ता में बने रहने का इतिहास रचते हुए गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी का 12 जुलाई की रथयात्रा को ''गौरव यात्रा'' की संज्ञा देना भी धर्म की बिछी हुई बिसात पर खेला जाने वाला एक मोहरा था, जिसमें गृहमंत्री अडवानी भी शामिल होने की अनुमति दे चुके थे। अशोक सिंघल इस बीच हरिद्वार में आयोजित अपनी सभा में गुजरात में गोधरा की प्रतिक्रिया में हुए जनसंहार को हिंदुओं के लिए गौरव गाथा घोषित कर चुके हैं। रथयात्रा तो केन्द्र के दबाव से स्थगित की जा चुकी है पर गुजरात में किए गए राहत कार्यों में भी जिस तरह पक्षधरता का रुख अपनाया जा रहा है, उसे देखते हुए सत्ताधारी पार्टी ने गुजरात के हर इलाके में संवेदनहीनता के नए प्रतिमान स्थापित किए हैं।

उद्भावना के संपादक अजेयकुमार की टिप्पणी से मैं बिलकुल सहमत हूँ कि ''जिस तरह दंगे भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग बन चुके हैं, क्या उसी तरह दंगों के फौरन बाद की सांप्रदायिकता विरोधी हलचलें भी एक रुटीन अभ्यास में तब्दील नहीं हो गईं? क्या आर एस एस के 70 वर्षों की कड़ी मेहनत का जवाब इन तात्कालिक गतिविधियों से दिया जा सकता है? शायद नहीं। अगर सांप्रदायिकता से लड़ने के लिए हम वाकई गंभीर हैं तो कम से कम एक पचास साला कार्यक्रम बनाने की जरूरत है। जो बारूद की फैक्ट्रियाँ (विभिन्न संगठन) संघ परविार ने 70 वर्षों में तैयार की हैं, उसका खामियाजा तो समाज और देश को झेलना ही पड़ेगा। आज हम केवल यह कर सकते हैं कि ये बारूद जब फटे तो नुकसान उतना न हो। सवाल यह है कि क्या इस बारूद को डिफ्यूज करने के औंजार हमारे पास हैं? अगर हैं तो हम उन्हें इस्तेमाल क्यों नहीं करते? क्या आज देश की 100 करोड़ की जनता में ऐसे 1-2 लाख लोग तैयार नहीं किए जा सकते जो जान की बाजी लगा कर सांप्रदायिक संगठनों की गतिविधियों का मुकाबला कर सकें? वे लाखों 'भक्तों' को अयोध्या में इकट्ठा कर लेते हैं। क्या हम ऐसी धर्मनिरपेक्ष फौज तैयार नहीं कर सकते जो इन भक्तों की कार्रवाइयों को सीधे चुनौती दे सके?'' अयोध्या में 15 मार्च को शिलादान से पहले रोजाना हजारों कारसेवकों के लिए मुफ्त लंगर युवा बेरोजगारों के विशालकाय वर्ग को आकर्षित करने में सफल रहा। साथ ही महिलाओं एवं बच्चों के लिए मुफ्त की तीर्थयात्रा और परलोक सुधारने का जुगाड़ भी हो गया। यह एक बेहद व्यावहारिक स्थिति है कि मुफ्त के खाने के नाम पर आप लाखों की भीड़ इकट्ठी कर सकते हैं और यह सब धर्म के नाम पर हो रहा है तो सोने में सुहागा।

अब तीसरी घटना पर आएँ - धर्मनिरपेक्ष ताकतों के संगठन में जितना बिखराव है, उतना ही संगठित, चौकन्ना और तत्पर तेवर विश्व हिंदू परिषद और उससे संबंधित अन्य संगठनों का है। इधर विहिप के बहुत से परचे देखने में आए हैं। गुजराती में छपे कुछ परचे भी हमारे सामने हैं - (देखें - अंतिम पृष्ठ, समकालीन जनमत, अप्रैल-जून 2002)। सभी में एक समानता है - परचे के अंत में श्री रामचंद्र जी की सौगंध या हनुमानजी की सौगंध के बाद नीचे

सच्चा रामभक्त या सच्चा हिंदू छपा हुआ है। मुझे अपने बचपन की एक बात याद आती है। जब भी कोई झूठ बोलता था तो कहता था, मैं सच बोल रहा हूँ। झूठे लोग ही अपने सच्चे होने की दुहाई ज्यादा देते हैं और जो बात बात में भगवान जी की कसम खाकर बात करे तो वह अपने झूठ को छिपाने के लिए ही सौगंध की ओट लेता है। अगर ये परचे लिखने वाले सच्चे हिंदू हैं तो इन्हें यह भी बताना चाहिए कि झूठे हिंदू कौन से हैं? उनकी पहचान क्या है? बार-बार इन सच्चे हिंदुओं को अपने इष्टदेवों की सौगंध क्यों खानी पड़ती है? बहरहाल, इन 'सच्चे रामभक्तों' से निबटने के लिए जरूरी है कि कुछ 'झूठे' रामभक्त भी अपने एक पृष्ठीय परचे जारी करें और उनमें अपने धार्मिक ग्रंथों के उद्धरण और धार्मिक प्रतीकों के धर्म निरपेक्ष होने के सप्रसंग उदाहरण दिए जाएँ। आखिर धर्म की काट धर्म से ही संभव है, अधार्मिकता से नहीं। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात और भी है। हिंदू कट्टरपंथियों के ही बरक्स मुस्लिम कट्टरपंथी भी हैं। हिंदू कट्टरपंथी राष्ट्र के लिए घातक हैं तो मुस्लिम कट्टरपंथियों के लिए उनका कट्टरपंथी होना आत्मघातक भी है। दोनों में अभूतपूर्व समानताएँ हैं। राही मासूम रजा ने दोनों के लिए बहुत प्रासंगिक फिकरे कसे हैं। उनके जुमलों के उद्धरण दोनों के लिए अनुकरणीय सिद्ध हो सकते हैं। अंत में अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध का सवाल - जो मकबूल फिदा हुसैन के चित्रों और दीपा मेहता की फिल्मों, फायर, वॉटर से होता हुआ आनंद पटवर्धन के वृत्तचित्र 'अमन और जंग' पर तारी है। इस वृत्तचित्र पर सेंसरबोर्ड द्वारा छह कट्स की माँग की गई है जिसमें राजनेताओं के भाषण को निकाल देने की माँग की गई है। सार्वजनिक स्थलों पर माईक पर दिए गए भाषण स्टार न्यूज और आज तक में छोटे परदे पर प्रसारित किए जा चुके हैं। तहलका कांड के अंश भी कई बार छोटे परदे पर दिखाए जा चुके हैं पर इन्हीं वक्तव्यों को जब कोई फिल्म निर्माता उनके अर्न्तनिहित अर्थों के साथ एक जगह समेट कर रख देता है तो सत्ता पक्ष को यह नागवार गुजरता है। एक सामान्य नागरिक के जीने, पढ़ने लिखने, बोलने, आलोचना करने, विकल्प के बारे में सोचने के अधिकारों पर बार बार प्रहार किया जा रहा है। अहमदाबाद के गाँधी आश्रम में मेधा पाटकर और कुछ पत्रकारों के साथ बदसलूकी और हिन्दुस्तानी के सुप्रसिद्ध शायर वली गुजराती की मज़ार को ध्वस्त कर वहाँ पर सड़क बना देना इसी प्रहार का हिस्सा है और यह सीधे सत्ताधारी पक्ष के अपराध बोध और असुरक्षा बोध को ही उजागर करता है। आज आम आदमी में प्रजातंत्र पर मंडरा रहे इस खतरे की चेतना को विकसित करने की जरूरत है। हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि इस बहुसंख्यक जनता को साइलेंट मेजॉरिटी न बनने दिया जाए। कुछ सवाल पूछे जाएँ और आम आदमी को इन सवालों के उत्तर ढूंढने के लिए प्रेरित किया जाए - मसलन,

1. विश्व हिंदू परिषद और बजरंग दल को इस देश के करोड़ों शांतिप्रिय हिंदुओं का प्रतिनिधित्व करने का ठेका किसने दिया। इन दलों का फासीवादी तेवर यह सिद्ध करता है कि धर्म से इनका कोई लेना देना नहीं है। एक सांप्रदायिक पहचान की आड़ में ये एक असहिष्णु तानाशाही शासन कायम करने का सपना पिछले कई दशकों से देख रहे हैं। गुजरात में जनसंहार

के बरक्स चुनाव की तैयारी करना और वोटरों की मानसिकता और चुनाव की आबोहवा का अनुमान लगाना इन्हीं खतरनाक इरादों का पर्दाफाश करता है। क्या इन्हें अपने इरादों में कामयाब होने की छूट दी जानी चाहिए?

2. हिंदू धर्म की हजारों साल पुरानी परंपरा में सर्वधर्म समभाव, सहिष्णुता, त्याग और सत्ता विमुखता के सैकड़ों उदाहरण मिल जाएँगे। हिंदुओं को अपने इस धर्म को लेकर शर्मिन्दा होने या उग्रपंथ का आँचल पकड़ने की अपेक्षा व्यावहारिक होकर अपनी परंपरा में धर्मनिरपेक्षता के सूत्र ढूंढने होंगे। यही बात इस्लाम और कट्टरपंथी मुसलमानों पर भी लागू होती है। जरूरी है कि दूसरा पक्ष भी इस्लामी कट्टरपंथ के खिलाफ अपनी आवाज उतनी ही तेजी के साथ बुलंद करे।

3. धर्म मन को आधार देता है, शांति देता है। आज की आस्थाविहीन और आपाधापी से भरी स्पर्धात्मक दुनिया में धार्मिक आस्था से परहेज जरूरी नहीं। जरूरी है इस बात को समझाना कि यह आस्था हमें संकीर्णता की ओर नहीं, व्यापक मानवधर्मिता या इन्सानियत की ओर ले जाती है। परहेज अगर जरूरी है तो धर्म की राजनीति से जो अंततः सत्ता प्राप्ति की जहरीली बिसात है जिसका धार्मिक आचरण के साथ छत्तीस का नाता है। 19 नवंबर 2001 को राजस्थान के मुख्यमंत्री अशोक गहलोत के अनुसार देश भर में बजरंग दल द्वारा 40 लाख त्रिशूल बाँटे गए। इनके द्वारा हथियार प्रशिक्षण कैंपों का संचालन और त्रिशूल वितरण किस धर्म की ओर इंगित करता है? इन्हीं अर्थों में धर्म की दुहाई देकर निहत्थे नागरिकों की बर्बर हत्या करने वाले, भगवा पट्टा बाँधे, तिलक लगाए, आम जनता को उकसाने भड़काने वाले ये तमाम त्रिशूलधारी किसी धर्मविशेष के प्रतिनिधि नहीं, बल्कि धर्मविरोधी राजनीतिक गुंडे मात्र हैं जिनकी सही जगह जेल की सलाखों के पीछे ही है।

1977 के आपातकाल के बाद जनता ने अपना फैसला तानाशाही के खिलाफ सुनाया था और यह सिद्ध कर दिया था कि हिन्दुस्तान की आम जनता बेपढ़ीलिखी जरूर है पर बेवकूफ नहीं है। अगले चुनाव में भी इस जनता का फैसला हिन्दुस्तान में लोकतंत्र की दिशा तय करेगा।
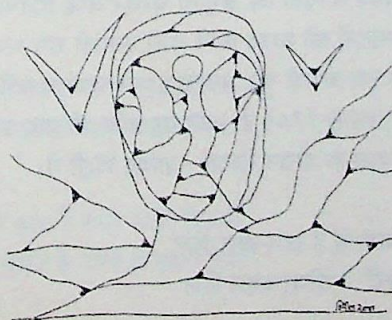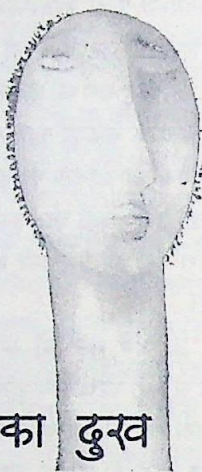
# गुजरात के विछोह का दुख

वली दकनी

गुजरात में घटित क्रूरतम साम्प्रदायिक हिंसा में हत्या-लूट, विनाश, ध्वंस व इंसानी अस्मिता की अवमानना का जो भयानक ताण्डव हुआ, उसे शब्दों में बयान कर पाना बहुत कठिन है। इस प्रक्रिया में साझी संस्कृति तथा उदात्त मानवीयता के मूल्यवान प्रतीक सूफ़ी संतों-संगीतकारों-शायरों की मज़ारों-दरगाहों को भी पूरी निर्ममता से ध्वस्त कर दिया गया। इन मज़ारों में आधुनिक उर्दू ग़ज़ल के अग्रणी शायर तथा साझी सांस्कृतिक विरासत को जीवन व कविता में समान रूप से बिम्बित करने वाले सूफ़ी शायर वली दकनी की मज़ार (अहमदाबाद) भी शामिल है। गुजरात उसकी विशिष्ट बहुरंगी संस्कृति तथा वहाँ के लोगों के प्रति वली के बेपनाह बेलौस प्यार के बिम्ब उनकी शायरी में बिखरे पड़े हैं। गुजरात से अटूट प्यार की इतनी भयानक सज़ा उन्हें क्यों दी गयी?

क्या फ़र्क है विश्व सभ्यता की अमूल्य धरोहर बौद्ध प्रतिमाओं को तोड़ने वाले उग्र तालिबानों और मक़बरों-मज़ारों को ध्वस्त करने वाले उन्मादी राम भक्तों में?

लम्बेकाल तक इस त्रासदी की भयावहता पर चर्चा चलती रहेगी और गुजरात पर लिखा गया वली दकनी (1668-1744 ई.) का यह क़ता भी याद आता रहेगा, जिसे उन्होंने गुजरात के बाहर किसी प्रवास के दौरान लिखा - शायद दिल्ली में।

गुजरात के फ़िराक़ सूं है ख़ार-ख़ार दिल<br>
बेताब है सिनेमनीं[1] आतिश बहार दिल

मरहम नहीं है उसके ज़ख़्म का जहाँ मनीं
शमशीरे हिज्र सूं जो हुआ सो हुआ है फ़िगार[2]-दिल

अव्वल सूं था ज़ईफ़ प पाबस्ता सोज़ मैं
ज्यों बाल है अगन के उपर बेक़रार दिल

उस सैर के नशे सूं अव्वल तर दिमाग़ था
आख़िर कूं इस फ़िराक़ में खींचा ख़ुमार दिल

मेरे सीने में आके चमन देख इश्क़ का
है जोशे ख़ूँ सों तन में मेरे लालाज़ार दिल

हासिल क्या हो जग में सरापा-ए-शिकस्तिगी[3]
देखा है मुझ शिकेब[4] सूं सुब्हे बहार दिल

हिजरत सूं दोस्तां के हुआ जी मिरा गुदाज़[5]
इशरत के पैरहन कूं किया तार-तार दिल

हर आशना की याद की गर्मी सूं तन मनीं
हर दम में बेक़रार है मिस्लेशरार दिल

सब आशिक़ा[6] हुज़ूर अच्छे पाक सुर्ख़ रू
अपना अपस लहू सूं क्या है निगार[7] दिल

हासिल हुआ है मुजकूं समर[8] मुझ शिकस्त सूं
पाया है चाक-चाक हो शक्लेअनार दिल

मिजमर[9] नमन हुआ है बदन सोज़े हिज्र सूँ
इसपन्द की मिसाल है आतिशे सवार दिल

अफ़सोस है तमाम कि आखिर कूं दोस्तां
इस मैकदे सूं उठ के सुध बिसार दिल

लेकिन हज़ार शुक्र वली हक़ के फ़ैज़ सूं
फिर उसके देखने का है उम्मीदवार दिल

*1-सीने में, 2-आहत, जख्मी, 3-पराजय की विराटता, 4-सहनशक्ति,धैर्यवान, 5-कोमल, 6-चित्र, 7-फल, 8-थकान, 9-काला दाना।*

***लिप्यंतरण - शकील सिद्दीक़ी***

धारावाहिक/एक
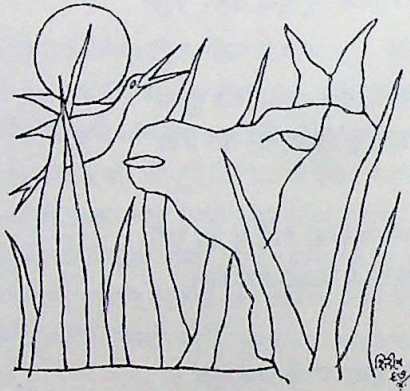
# इक्कीसवीं सदी की लड़ाईयाँ

जितेन्द्र भाटिया

*'पहल' के पिछले कुछ अंकों में जितेन्द्र भाटिया टेक्नॉलॉजी की पक्षधरता और उसके बदइस्तेमाल के ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं की विवेचना करते रहे हैं। पाठकों की विशेष मांग पर इस अंक से वे एक नया धारावाहिक शुरू कर रहे हैं जिसमें आप रू-ब-रू होंगे नई सदी के आने वाले वर्षों में इंसान की सांस्कृतिक जमीन और उसकी अस्मिता के बचाव में लड़ी जाने वाली उन सर्वथा नई लड़ाईयों से, जिनसे गुजरे बगैर इस सभ्यता को पतन की कगार से बचा पाना शायद संभव नहीं होगा।*

*संपादक*

अंग्रेजी के विख्यात विज्ञान कथा लेखक रे ब्रैडबरी की 1952 में लिखी गयी एक चर्चित कहानी है 'ए साउंड ऑफ थंडर'। इस कहानी में शहर के बाशिंदों के लिए सैर सपाटे का आयोजन करने वाली एक ऐसी ट्रैवल एजेंसी का किस्सा है, जो अपनी ईजाद की गयी अनोखी 'टाइम मशीन' में यात्रियों को प्रागैतिहासिक काल के डायनोसॉर दिखाने के लिए लाखों वर्ष पीछे छूटे किसी घनघोर जंगल में ले जाया करती है। यात्रियों को सख्त ताकीद दी जाती है कि वे जंगल के बीच बनी समय पट्टी से बाहर किसी भी चीज को छूने की कोशिश न करें क्योंकि ऐसा करने के भयंकर परिणाम निकल सकते हैं। लेकिन यात्राके दौरान एक दर्शक का पैर फिसलता है और वह असावधानीवश पट्टी से बाहर प्रागैतिहासिक काल की एक सुनहरी तितली को अपने बूट तले कुचल डालता है। आयोजक बेतरह नाराज होते हैं और फिर बाद में जब यात्रियों का काफिला उस 'टाइम मशीन' में बैठकर वापस वर्तमान में लौटता है तो उन्हें पता चलता है कि दुनिया पूरी तरह बदल गयी है। प्रागैतिहासिक काल में इतिहास के साथ की गयी

उस छोटी सी छेड़छाड़ के परिणामस्वरूप 'वर्तमान' में भयानक और दूरगामी परिवर्तन आ गए हैं। ब्रैडबरी की इस विज्ञान कथा में प्रकृति के स्वाभाविक विकास के साथ मनमानी करने के दुष्परिणामों के प्रति एक भयानक चेतावनी तो है ही, लेकिन इससे आगे उनका यह रूपक एक तरह से आज की सभ्य दुनिया के सबसे गंभीर संकट का पूर्वानुमान भी देता प्रतीत होता है।

सिर्फ एक कदम उठा था गलत राहे-शौक में
मंजिल तमाम उम्र मुझे ढूँढती रही

उर्दू का यह शेर महज़ भटके हुए एक कदम के परिणामस्वरूप पूरी उम्र गर्दिश के खामियाजे की बात करता है, वहीं रे ब्रैडबरी की कहानी में इससे भी आगे एक व्यापक स्तर पर अनेकानेक सदियों और पीढ़ियों तक फैले किसी मनहूस दुष्परिणाम की गंभीर चेतावनी समाहित है।

टेक्नॉलॉजिकल विकास, दुर्धष उपभोक्ताधर्मिता और संपन्नता के विस्तार (creation of wealth) की अंधी दौड़ में बेतहाशा भागता इस पृथ्वी का मानव क्या सचमुच प्रगति की ओर जा रहा है? क्या सचमुच प्रकृति के भयानक अतिक्रमणों, रसयानों के निर्बंध व्यवहार, छोटी-छोटी नैसर्गिक खुशियों की अनभिज्ञता और आत्मकेंद्रित मनोवृत्तियों के बीच हमारी जिंदगी पहले से बेहतर बन रही है या कि हम सब किसी बिना ब्रेक वाली गाड़ी पर सवार एक ऐसी ढलान पर गति पकड़ते जा रहे हैं जिससे आगे सिर्फ नीचे की अंधी खाई में हमेशा के लिए विलीन हो जाने की एकमात्र गुंजाइश ही बाकी बचती है?

हममें से अधिकांश के पास तो आज ठिठककर अपनी इस इस दशा पर विचार करने का समय भी बाकी नहीं बचा होगा। जानवरों और प्रकृति की बात कौन करे, आदमी द्वारा आदमी के निर्ममतम संहार की सच्ची घटनाओं ने भी अब हमें विचलित करना बंद कर दिया है। अपनी तमाम बदकारियों के लिए हमारे पास अब अगर कोई तर्क बाकी बचा है तो सिर्फ यह कि दूसरी जगह दूसरे लोग भी ऐसा ही कर रहे हैं या हमसे पहले के लोगों ने भी ऐसा ही या इससे भी बुरा किया था, फिर हम क्यों न करें?

ऐसे विघटनशील समय में विनाश के किसी भविष्यवक्ता पैगम्बर (prophet of doom) की तरह खड़े होकर फतवों और नसीहतों के लाभप्रद नुस्खों की फेहरिस्त तैयार करना बहुत आसान है। गीता के 'यदा यदा हि धर्मस्य ....' वाले अंदाज में हम भाग्यवादियों की तरह इस संकटकाल में अपने बीच प्रकट होने वाले किसी ईश्वर के अलौकिक हस्तक्षेप का निष्क्रिय इंतजार भी कर सकते हैं। तात्कालिक राजनीतिक अनिवार्यताओं और सुविधाओं के अनुसार इतिहास के पन्नों और सामाजिक न्याय की संहिताओं को भी बदला जा सकता है। अपनी अंधी तार्किकता की जिद में मनु से लेकर जीसस क्राइस्ट और पैगम्बर मुहम्मद के आख्यानों और तुलसीदास से लेकर स्वामी विवेकानंद तक के साहित्य को तोड़-मरोड़कर या संदर्भों से काटकर अपने पक्ष में प्रस्तुत करना भी बहुत मुश्किल नहीं है। लेकिन ले-देकर, तमाम उठा-पटक और सारे दाँव-पेंचों के बावजूद वह यक्ष-प्रश्न, वह शाश्वत सवाल फिर भी

लगातार हमारे साथ-साथ चलता चला आता है, कि जिस डाल पर सवार होकर हम आज उसे काट रहे हैं, या कि यह दुनिया जिसके बशिंदों और नदियों-पहाड़ों, झरनों-समंदरों के साथ हम यह भयावह खिलवाड़ कर रहे हैं, उसमें हमारा अपना वजूद और हिस्सा है कि नहीं? और अगर है तो आज जो भयानक खेल हम अपनी इस धरती के स्वजनों के साथ खेल रहे हैं, उसके चलते हमारे आने वाले बच्चों और उनके भी बच्चों, नाती-नातिनों और उत्तराधिकारियों के लिए पैर टिकाने लायक जमीन का कोई सम्मानजनक टुकड़ा या साँस लेने लायक हवा का कोई अप्रदूषित बगूला बाकी बचेगा या नहीं?

इस सवाल की सबसे बड़ी भयावहता यह है कि इसमें किसी स्वतः स्फूर्त धर्मगुरु का आध्यात्म या किसी विज्ञान कथा लेखक की असंभाव्य फंतासी समाहित नहीं है। बल्कि यह सवाल हमारी रोजमर्रा की जिंदगी से जुड़ा इस सदी और समय का सबसे बड़ा और ज्वलंत सवाल है। इसका उत्तर भी बहुत मुश्किल, पेचीदा, लंबा और थका देने वाला साबित हो सकता है। शायद यह असंभव भी हो। लेकिन फिर भी हमें इससे जूझना होगा। इस यक्ष प्रश्न के निपटारे की जिम्मेदारी धर्मगुरुओं या युधिष्ठिर जैसे किसी 'बड़े भाई' पर छोड़कर अपनी तात्कालिक आत्मकेंद्रित संलग्नताओं की ओर लौटने की सुविधा भी आज हमारे पास नहीं है, क्योंकि एक तो खंडित जनादेशों और विचारधाराओं से पटी इस धरती पर पैगम्बरों का आना-जाना लगभग बंद हो चुका है और दूसरे पिछली कुछ दशाब्दियों के विश्वव्यापी छद्म और फरेब के चलते इस दुनिया के तमाम 'बड़े भाइयों' पर से हमारा विश्वास भी पूरी तरह उठ चुका है। तो फिर यह गुत्थी हमें स्वयं सुलझानी होगी। बकौल फ़ैज़ हमें स्वयं अपना पैरवीकार, अपना निर्मम शल्य चिकित्सक, अपना मसीहा बनना होगा :

**तेरे आज़ार का चारा नहीं नश्तर के सिवा**
**और ये सफ्फाक मसीहा मेरे कब्ज़े में नहीं**
**इस जहाँ के किसी जी रूह के कब्ज़े में नहीं**
**हाँ मगर तेरे सिवा, तेरे सिवा, तेरे सिवा .....**

अपनी जिंदगी के इस सबसे अहम सवाल को सुलझाते हुए हमें बहुत सी अप्रत्याशित चुनौतियों और नई लड़ाईयों का सामना करना होगा। नई सदी की इन नई लड़ाइयों को लड़े बगैर मानव मुक्ति के सपने देख पाना संभव नहीं है। इन लड़ाइयों के लड़े जाने के दौरान अधिकांश पुराने हथियार कुंद और नाकाम साबित होते चले जाएंगे। हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सहारा लेते हुए नए हथियारों की तलाश करनी होगी और यह भी मानना होगा कि समूची सावधानी और दृष्टिपरकता के बावजूद अंततः ये हथियार भी नाकाम साबित हो सकते हैं। लेकिन मानव जाति का करोड़ों वर्ष का इतिहास तमाम मुश्किलों और कठिनाइयों के समक्ष इंसान की अदम्य जिजीविषा और उसकी समाजपरकता का इतिहास भी है। यह इतिहास हमारे लिए जहाँ एक चुनौती है, वहीं प्रेरणा का अक्षुण्ण स्रोत भी है! एक बार फिर बकौल फ़ैज़ :

दस्ते सैयाद भी आजिज़ है कफे-गुलचीं भी
बू-ए-गुल ठहरी न बुलबुल की ज़बां ठहरी है!

तो फिर आइए, मैदान में उतरें ......

## 'विशेषज्ञ' संस्कृति के विरुद्ध

अंग्रेजी में कहावत है कि a specialist is a person who knows more and more about nothing शायद सभी अर्थों में यह उक्ति सच न हो लेकिन इतना जरूर है कि स्पेशलाइजेशन के इस युग में हम चीजों को खानों मे बांटकर देखने के आदी होते जा रहे हैं। माइक्रोस्कोप के नीचे किसी चीज को बढ़ा-चढ़ाकर देखने पर हमें उसका रेशा-रेशा तो दिखाई दे जाता है, लेकिन उसके इर्दगिर्द की चीजें और उनकी अंतर्संबद्धता हमारी आँखों से ओझल हो जाती है। ज्ञान के छोटे से छोटे हिस्से पर विशिष्टता हासिल करना महत्वपूर्ण है, बशर्ते उस ज्ञान की बड़ी तस्वीर भी हमारी आँखों के सामने रहे। वर्ना हम अपने इर्दगिर्द के हर सवाल पर अंधों के हाथी का सा दृष्टिकोण अपनाकर सर्वथा गलत निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं। लेकिन विशेष ज्ञान का तमगा कई बार हमारे मंतव्य का बाजार भाव बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है। इसे इन अर्थों में मारकेटिंग में मदद देने वाला एक जरूरी लटका भी कहा जा सकता है। किसी डाक्टरी मसले पर एक जनरल प्रैक्टीशनर की राय पर हम शक करते हैं, लेकिन वही राय जब किसी स्पेशलिस्ट से सुनने को मिलती है तो हमें सहज ही यकीन आ जाता है। टी.वी. पर पुरुषों के इस्तेमाल के प्रसाधनों को अलग ढंग से प्रचारित किया जाता है, कमर दर्द में सामन्य दर्द-निवारक मल्हम के प्रयोग के खिलाफ दलीलें दी जाती हैं और 'सर्दी जुकाम में सरदर्द की गोली क्यों? जैसे प्रभावकारी जुमले बार-बार दोहराये जाते हैं। ये सारी दलीलें उपभोक्ताधर्मी संस्कृति की सिद्धियाँ हैं, जो कई बार हमें प्रत्यक्ष को नजरअंदाज कर अमूर्तता में भटक जाने के लिए बाध्य करती है। जगजीत सिंह की गायी एक गज़ल का शेर है :

सामने है जो उसे लोग बुरा कहते हैं
जिसको देखा ही नहीं उसको खुदा कहते हैं

इस संदर्भ में अमरीकी डॉक्टरी विज्ञान का एक दृष्टांत पिछले दिनों वहाँ की प्रगतिशील पत्रिका 'केमटेक' में देखने को मिला। किस्सा यूँ है कि अमरीका की एक बड़ी दवा कंपनी ने लाल चींटों के काटने के इलाज की मल्हम के आविष्कार के लिए पेंटेट का आवेदन दायर किया। पेटेंट की अर्जी का मुख्य मुद्दा यह था कि लाल चींटों के डंक में फॉर्मिक एसिड प्रचुर मात्रा में रहता है जो जलन पैदा करता है। आविष्कृत मल्हम में कुछ ऐसे प्राकृतिक क्षारों का समावेश था जो फार्मिक ऐसिड के असर को समाप्त कर देते हैं। बाद में पेंटेट पर मुहर लगाने से पहले जब इसे सार्वजनिक रूप से प्रकाशित किया गया(ताकि जनसाधारण के किसी व्यक्ति को इस पेंटेट पर आपत्ति हो तो वह सामने आ जाए) तो एक व्यक्ति ने कहा कि यह

नुस्खा रेड इंडियनों में कई साल पहले प्रचलित था और इसका जिक्र गोरों द्वारा प्रकाशित उनके कई दस्तावेजों में भी आता है। उसने ऐसे ही एक ग्रंथ का हवाला भी दिया जिसमें एक गोरे यात्री ने लिखा था कि रेड इंडियन इन लाल चींटों को बड़े चाव से खाते हैं और जब कभी-कभार ये चींटें उन्हें काटते हैं तो वे झट कान में उंगली डालकर कान का मैल अपने जख्म पर लगाते हैं और इससे उन्हें फौरन आराम मिल जाता है। पेटेंट पर आपत्ति करने वाले व्यक्ति ने कहा कि कान के मैल में उन्हीं प्राकृतिक क्षारों का समावेश होता है जिनके लिए दवा कंपनी ने पेटेंट की अर्जी दायर की है। इसलिए यह पूर्ववर्ती ज्ञान का ही एक हिस्सा है और इस पर पेटेंट नहीं दिया जाना चाहिए। अमरीकी पेटेंट आफिस को अंततः इस आपत्ति के आधार पर पेटेंट की अर्जी को खारिज करने पर मजबूर होना पड़ा।

सवाल उठता है कि क्या आज हमें लाल चींटों के काटे के उपचार के लिए किसी पेटेंटेड मल्हम की जरूरत है या कि हम सैकड़ों वर्ष पहले के रेड इंडियनों की तरह अपने कान के मैल से काम चला सकते हें? सवाल यह भी उठता है कि ज्ञान का यह बारीक स्पेशलाइजेशन हमारी रोजमर्रा की जिंदगी के लिए सचमुच उपयोगी है या कि इसका एकमात्र उद्देश्य उपभोक्ता संस्कृति के अपार मुनाफों में कुछ और वृद्धि करना ही है।

सवाल का तीसरा पक्ष इस स्पेशलाइज्ड संस्कृति में चीजों को पूरे परिप्रेक्ष्य में देख पाने की हमारी मजबूरी से ताल्लुक रखता है। अभी हाल ही में हमारे देश में अनुवांशिक रूप से परिवर्द्धित कपास की एक नस्ल बी टी कॉटन की खेती को स्वीकृति दी गयी है। इस अनुमति का सबसे बड़ा फायदा इस नस्ल को बेचने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनी मोनसांटो को पहुँचेगा। बी.टी. दरअसल एक कीटनाशक जीवाणु का नाम है, जिसका प्रयोग कपास की खेती करने वाले किसान कपास में लगने वाले धुन को मारने के लिए अक्सर करते हैं। अब अमरीकी वैज्ञानिकों ने कपास और बी.टी. के अनुवांशिक जोड़ से कपास की यह नई नस्ल बी.टी. कॉटन तैयार की है कपास के कीड़े बॉलवीविल का मुकाबला करने की आंतरिक शक्ति बतायी जाती है, जिसके कारण महंगे कीटनाशकों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती। लेकिन अमरीका, ऑस्ट्रेलिया और भारत में होने वाले प्रयोगों से अब यह तथ्य सामने आ रहा है कि कपास की इस नस्ल के निरंतर इस्तेमाल से कपास के कीड़ों में बी.टी. कीटनाशक के लिए प्रतिरोधकता विकसित हो जाती है जिससे कीड़ों का संकट कम होने की जगह कई गुना बढ़कर अंततः लाइलाज हो जाता है। (आस्ट्रेलियन ब्रॉडकास्टिंग कारपोरेशन ने 19 अप्रैल 2001 को किसानों के नाम एक चेतावनी जारी करते हुए न्यू साउथ वेल्स डिपार्टमेंट ऑफ ऐग्रिकल्चर के हवाले से बताया कि बी.टी. कॉटन की फसल उगाने के कारण इस वर्ष कपास के कीड़ों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है और फसल को भारी नुकसान पहुँचा है। बी.टी. कपास की जन्मस्थली अमेरिका में यह फसल 1996 में पहली बार उगाई गयी थी। वहाँ भी युनिवर्सिटी ऑफ ऐरिजोना और नॉर्थ कैरोलाइना स्टेट यूनिवर्सिटी जैसी अत्यंत महत्वपूर्ण संस्थाएँ पाँच वर्षों के शोधकार्यों के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि बी.टी. कपास की नस्लों

से बी.टी. जैसे प्रचलित कीटनाशकों की पूरी प्राभाविकता ही खतरे में पड़ जाएगी।) लेकिन शक्तिशाली व्यावसायिक ताकतों के दबाव में आकर भारत ने इन सारे तथ्यों एवं देश - विदेश के अनेकानेक वैज्ञानिकों के कड़े प्रतिरोध के बावजूद कपास की इस खतरनाक फसल के रोपण की अनुमति दे दी है। अनुवांशिक फसलों के प्रयोग के दीर्घकालीन खतरे अपनी जगह हैं, लेकिन बी.टी. कपास का यह उदाहरण स्पष्ट रूप से दिखाता है कि फसलों में अनुवांशिक फेरबदल करने वाले विशेषज्ञों द्वारा बिना पूरी जानकारी हासिल किए इस नस्ल को विश्व बाजार में उतारने की हिमाकत के कितने भयावह परिणाम निकल सकते हैं। भारत में कपास की खेती करने वाले गरीब एवं अनपढ़ किसानों के लिए यह दोहरी मौत है। एक तरफ आर्थिक कठिनाइयों के बोझ तले आंध्र प्रदेश और दूसरे प्रांतों के अनेक किसान बी.टी. जैसा ही कोई कीटनाशक खाकर आत्महत्या के लिए मजबूर हो रहे हैं तो दूसरी ओर बी.टी. कॉटन का प्रयोग विनाशकारी कीड़ों की एक ऐसी नस्ल तैयार कर रहा है, जिस पर दुनिया के किसी भी कीटनाशक का कोई असर नहीं होगा। जानकार लोगों का मानना है कि किसी भी विकासशील देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों और सरकारी सूत्रों की आपसी मिलीभगत के बगैर इस तरह का राष्ट्रविरोधी कदम कभी उठाया नहीं जा सकता था। बताया यह भी जा रहा है कि बी.टी. कपास की व्यावसायिक सफलता के बाद कीटनाशक दवा कंपनियाँ अब एक के स्थान पर दो अनुवांशिक जोड़ वाली नयी नस्लें तैयार करने में जुटी हैं। लेकिन इस शोधकार्य को यदि रे ब्रैडबरी के दुःस्वप्न के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो हो सकता है कि इन नस्लों की मेहरबानी से आने वाले दिनों में कीड़े इतने ताकतवर हो जाएँ कि इस दुनिया से कपास का वजूद ही उठ जाए। पर्यावरण संतुलन के अन्य अंतर्सबंधों में इन कीड़ों या कि कपास के पौधे के स्थान को हम आज भी पूरी तरह नहीं समझते हैं। ऐसे में इन नस्लों के साथ की जाने वाली अनुवांशिक छेड़छाड़ भविष्य में कितनी खतरनाक साबित हो सकती है, इसका अंदाज सहज ही लगाया जा सकता है।

दिक्कत यह है कि हमारी 'विशेषज्ञ' संस्कृति पर्यावरण के बृहत्तर प्राकृतिक अंतर्संबंधों की परवाह किए बगैर अपने शोधकार्य के तात्कालिक और संकुचित व्यावसायिक फायदों को सबसे ऊपर रखने लगी है। साथ ही हमने अपने तमाम निर्णयों के लिए सुविधाजनक खाने या कंपार्टमेंट बना लिए हैं, जिनके बाहर झाँककर देखना भी हम अपनी योग्यता के खिलाफ समझते हैं। विशेषज्ञ संस्कृति के इस इंद्रजाल का एक और बड़ा उद्देश्य है अपने संकुचित ज्ञान के इर्दगिर्द ऊँची दीवारें या entry barriers बनाना, ताकि विकासशील संस्कृतियाँ इसकी तह तक न पहुँच सकें। जाहिर है कि कान में उंगली डालकर लाल चींटियों के काटे से निजात पाने वाला व्यक्ति किसी महंगे पेटेंटेड मल्हम की जरूरत क्योंकर महसूस करेगा?

हमें इन दीवारों को तोड़ना होगा। यह काम काफी मुश्किल है, लेकिन असंभव नहीं। सबसे पहले तो हमें अपने पारंपरिक ज्ञान को इस उपभोक्ता संस्कृति के बीच एक जायज और सम्मानीय जगह दिलानी होगी। इस दिशा में एक महत्वपूर्ण पहल नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर साइंस

कम्यूनिकेशंस ने की है। इस संस्था ने एक नया कंप्यूटर सॉफ्टवेयर बनाया है जिसके द्वारा आयुर्वेदिक नुस्खों पर आधारित संस्कृत के श्लोकों को पाँच अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं में बदलना संभव होगा। इस संस्था के वैज्ञानिकों का मानना है कि अमरीका एवं योरोप में भारत के पारंपरिक ज्ञान से जुड़े विषयों पर पेटेंट इसलिए मिल जाते हैं क्योंकि वहाँ के पेटेंट निरीक्षकों के पास इस ज्ञान की कोई जानकारी नहीं होती। अब इस सॉफ्टवेयर के जरिए यह सारा ज्ञान इन निरीक्षकों को उपलब्ध हो सकेगा और उन्हें इस तरह के पेटेंट आवेदनों को रद्द करने में आसानी होगी। अब तक पैंतीस हजार सूत्रों को इस सॉफ्टवेयर द्वारा तत्काल अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश और जापानी में बदलने का काम पूरा हो चुका है और आयुर्वेद के बाद यह संस्था यूनानी, सिद्ध, यौगिक, पारंपरिक आदिवासी और घरेलू जानकारियों को भी इस सॉफ्टवेयर द्वारा लिपिबद्ध करने की योजना बना रही है। यदि ऐसा हो पाया तो यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं साहसिक कदम होगा।

इसी कदम के विस्तार के रूप में हमें विदेशों में पहले से दिए जा चुके पारंपरिक ज्ञान से संबंधित पेटेंटों को चुनौती भी देनी होगी। इस दिशा में भारतीय संस्था वंदना शिवा रिसर्च फाउंडेशन द्वारा लड़ी जा रही कानूनी लड़ाइयाँ अत्यंत सराहनीय हैं। इस संस्था ने पाँच वर्ष पहले अमरीकी कंपनी डब्ल्यू आर ग्रेस और अमरीकी कृषि विभाग के नाम स्वीकार किए गये एक ऐसे अमरीकी पेटेंट को चुनौती दी थी, जिसमें नीम के औषधीय गुणों पर एकाधिकार जमाने की साजिश रची गयी थी। भारतीय वैज्ञानिकों ने इस केस की सुनवाई के दौरान सिद्ध कर दिया कि नीम के औषधीय गुण हमारे पारंपरिक ज्ञान का ही एक पुराना हिस्सा हैं और इसमें पेटेंट किए जाने लायक कुछ भी नया नहीं है। पाँच वर्षों की लंबी लड़ाई के बाद अब हाल ही में योरोपियन पेटेंट आफिस ने इस पेटेंट को खारिज कर एक नयी परंपरा का सूत्रपात किया है। दृष्टव्य है कि यह अभी एक शुरुआत ही है और बासमती चावल, हल्दी, बैगन और जामुन के सत्वों पर आधारित अमरीकी पेटेंटों के विरुद्ध भारतीय वैज्ञानिकों की साहसिक लड़ाई अभी जारी है।

ग्रामीण अंचलों में बसा हमारे देश का किसान आज भी दुनिया में चल रही इस उठा-पटक से अनभिज्ञ है। उस तक फसलों, पौधों और कीटनाशकों संबंधी आवश्यक जानकारी और दुनिया भर में चलाए जा रहे इन षडयंत्रों की समझ फैलाना अत्यंत जरूरी है। इस चुनौती को स्वीकार करने वाली एक संस्था का उल्लेख यहाँ अनिवार्य लग रहा है। जबलपुर स्थित परिक्रमा पर्यावरण शिक्षा संस्थान पिछले कुछ वर्षों से किसानों के लिए सरल हिंदी भाषा में औषधीय फसलों की खेती के प्रशिक्षण संबंधी कार्यक्रम चला रहा है। इसमें इन उपयोगी एवं आर्थिक लाभप्रद पौधों की खेती का प्रत्यक्ष दर्शन भी कराया जाता है। यह संस्थान पर्यावरण संबंधी विषयों पर एक उपयोगी मासिक पत्रिका 'खबर परिक्रमा' भी निकालता है। महत्वपूर्ण यह है कि संस्थान से जुड़े सभी व्यक्ति अवैतनिक रूप से यह जिम्मेदारी निभा रहे हैं। कहना न होगा कि हमारे देश को इस प्रकार की सकारात्मक संस्थाओं की आज कितनी जरूरत है।

हम देख चुके हैं कि आने वाले वर्षों में इस देश की कृषि एवं वन संपदा समूची

दुनिया की अर्थ-व्यवस्था के लिए एक निर्णायक भूमिका अदा करने वाली है। ऐसे में इस बहुमूल्य संसाधन को विदेशी लुटेरों और ब्रैंडों की कमाई खाने वाले बहुरूपियों से बचाने की लड़ाई आज की दुनिया में अत्यंत महत्वपूर्ण है। अब समय आ गया है कि अपनी नाकामियों का दुखड़ा रोने की जगह हम इस विकराल विश्वतंत्र की बारीकियों तक पहुँचे और आने वर्षों के लंबे संघर्ष के लिए कारगर हथियारों की तलाश को एक निश्चित अन्विति तक पहुँचाएँ।

कविताएं
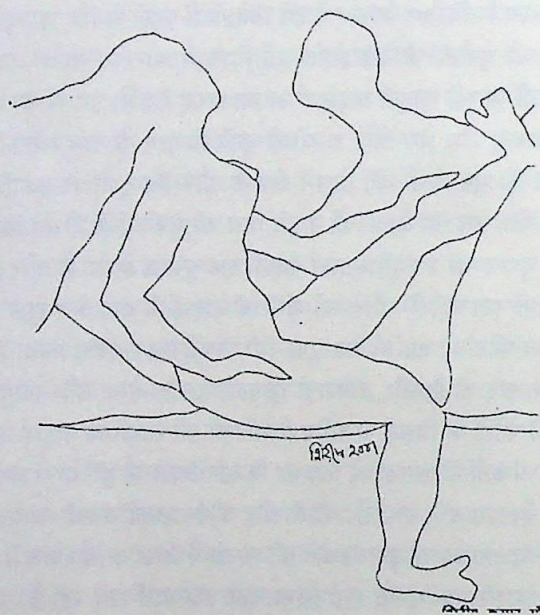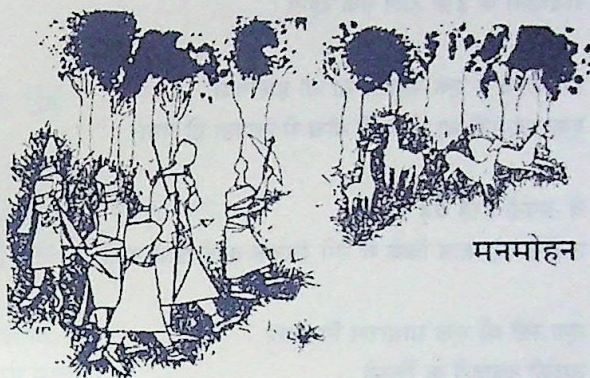
मनमोहन

## महान आदमी

महान आदमी की पूजा करो
मत झाँको उसके तहख़ाने में

हो सकता है कोई बच्चा वहाँ बन्द हो
सुनाई दे किसी उदास और अकेली स्त्री के
रोने की आवाज

या कुछ शव बरामद हों
कुछ गुमशुदा लोगों के शव
मिले कोई छुरा जिस पर खून सूख चुका हो

कई गवाह ऐसे हैं
जो इसी शहर में हैं
या दूर के किसी छोटे से कस्बे में
जहाँ किसी बीमार बल्ब की रोशनी में

अभी तक खाँसती है खटिया पर कोई बुढ़िया
जब बड़े सबेरे नालियों में पानी छूटता है

उन तक न पहुँच जाना
राजधानी के इसी हॉल तक रहना

उस कस्बे में एक पड़ौसी था जो हार गया
एक सहपाठी था जो कहीं बीच से लापता हो गया

वे अपनी तरह बड़े थे
उन्होंने बड़े काम किये थे ऐसे जिनके कोई खाते न थे

एक स्त्री थी एक साधारण गिरस्तिन
उसकी बहादुरी के किस्से
दिल दहला देने वाली रोमांचक कथाएँ
कोई आसानी से जान न सकता था

अभी भाषा का कारोबार इतना आगे न बढ़ा था
खैर छोड़िये
आइए फिलहाल महान आदमी को पुरस्कृत करें / उसे नहलाएँ धुलाएँ सजाएँ
वह बूढ़ा होता जाता है, आइए उसे पीठ पर ढोकर ले चलें
पालकी हो तो और अच्छा है
इस नश्वर समय में उसे किसी तरह
अमरता के यान तक पहुँचाएँ

वह पचास का हुआ, साठ का हुआ
पचहत्तर और अस्सी का हुआ
वक्त निकला जाता है
कुछ तो करें

लेकिन वह जायेगा कहाँ
कुछ न हुआ तो उसका बुत बनायेंगे
हर साल उसकी ड्योढ़ी पर आयेंगे

उसके शब्द दुहरायेंगे गुण गायेंगे
अपने-अपने बाजे लायेंगे
और बारी-बारी से उन्हें बजाकर दिखलायेंगे
तभी कुछ चैन पायेंगे।

## हम तुम्हें मार देंगे

भूखा मार देंगे
या खिला खिला कर मार देंगे
हम तुम्हें मार देंगे

दूर रखकर
या पास बुलाकर
सामने से या पीछे से
अकेला करके
या किसी कबीले में खड़ा करके
बटन दबाकर
या किसी करार पर दस्तख़त कर के
हम तुम्हें मार देंगे

जिन्दा जला कर मार देंगे
फूलों से दबा कर मार देंगे

हम तुम्हें अमर कर देंगे
और इस तरह तुम्हें मार देंगे

हम तुम्हें मार देंगे
और जीवित रखेंगे

एक दिन तुम पड़ौसी के मर जाने से ईर्ष्या करोगे
और अपने बचे रहने पर शर्म करोगे

तुम कहोगे कि मैं जल्द से जल्द मरना चाहता हूँ
और हम कहेंगे कि जल्दी क्या है

## बुरी खबर

शायद
एक बुरी ख़बर
हमें फ़िर सुननी है

वह क्या होगी
हमें अन्दाज़ा है

उसकी जगह तक
कोई छिपी हुई नहीं

अभी वह आई नहीं है
चाहें तो कह सकते हैं
बनी नहीं है

लेकिन बन रही है
इसका गहन अनुमान है

बड़े-बड़े शक्ति चक्र
जिनमें से कई भूमिगत और अदृश्य हैं
उसे बनाने में
दिन रात लगे हैं

हो सकता है
अख़बार के किसी कोने में
वह एक बहुत छोटी सी ख़बर हो
या वह भी न हो
अब बुरी ख़बर से डरना भी क्या

इस बात को अब एक
अरसा हुआ
जब हमने सुनी थी
बुरी खबर
और उसे अच्छी तरह समझ लिया था

## उसका कहना

उस दिन वह कुछ कहती थी
विद्वत मंडली में दो मिनट का समय पाकर

उसकी डरी हुई आँखें
सभागार में चारों ओर फिरती थीं

वह बोलती थी जैसे
जल्दी से छिप जाना चाहती हो

वाक्य अधूरे थे और शब्द अस्पष्ट
उनमें असमंजस था और
एक पुरानी थकान का बोझ था
जो बोले जाने से हर बार पहले उतर आता था

उसके शब्द किसी और ही गूढ़ भाषा के शब्द थे
लेकिन कोई जरूरी बात थी जिसे वही कह सकती थी

इतना तय था
कि धारावाहिक मुख्य विमर्श के किले में
दाखिल होने का कोई रास्ता दो मिनट में ढूंढना
उसके वश में नहीं था

विद्वत मंडली ने कुछ पल
इस अटपटे कौतुक का आनंद लिया

लेकिन दो मिनट होते न होते
सभा का धैर्य चुकने लगा
बुदबुद होने लगी
यहाँ तक कि चोटी के विद्वान महामना अध्यक्ष
जिनके चेहरे पर पहले कुछ पल
उदार वात्सल्य छलक आया था
अचानक विवर्ण हो गए और घड़ी देखने लगे

जब ढाई मिनट हुआ
उन्होंने घंटी बजाई
और समय सीमा का ख्याल रखने का अनुरोध करते हुए
आगामी वक्ताओं को हिदायत दी
कि कृपया विषय से बाहर न जायें
और जो कुछ कहा जा चुका है
उसे न दोहरायें

## कला का पहला क्षण

कई बार आप
अपनी कनपटी के दर्द में
अकेले छूट जाते हैं

और कलम के बजाय
तकिये के नीचे या मेज की दराज में
दर्द की कोई गोली ढूंढते हैं

बेशक जो दर्द सिर्फ आपका नहीं है
लेकिन आप उसे गुजर न जाने दें
यह भी हमेशा मुमकिन नहीं

कई बार एक उत्कट शब्द
जो कविता के लिए नहीं

किसी से कहने के लिए होता है
आपके तालू से चिपका होता है
और कोई उपस्थित नहीं होता आसपास

कई बार शब्द नहीं
कोई चेहरा याद आता है
या दूर की कोई पुरानी शाम
और आप कुछ देर
कहीं और चले जाते हैं रहने के लिए

भाई, हर बार रूपक ढूंढना या गढ़ना
मुमकिन नहीं होता
कई बार सिर्फ इतना हो पाता है
कि दिल ज़हर में डूबा रहे
और आँखें बस कड़वी हो जायें

## बूढ़े के पास कोई रास्ता नहीं

रात को यह बूढ़ा
रह रह कर खाँसता है

लोंगों को यह खाँसी
इसके सिवा कुछ नहीं बताती
कि बूढ़ा है खाँस रहा है

बूढ़े का चिड़चिड़ापन भी
उसके बुढ़ापे में आसानी से शामिल हो गया है

धोखा जो हुआ
उसे बताने का बूढ़े के पास
कोई रास्ता नहीं

## तो इस तरह स्पर्श का जल अलग हुआ

एक दिन उसने पानी को स्पर्श करना चाहा

तब पानी नहीं था
त्वचा व्याकुल थी कांटे की तरह
उगी हुई पुकारती हुई

यही मुमकिन था
कि वह त्वचा को स्पर्श से हमेशा के लिए
अलग कर दे

तो इस तरह स्पर्श से स्पर्श यानि जल
अलग हुआ
और उसकी जगह
खाली प्यास रह गई

किसी और दिन किसी और समय
मोटे काँच के एक सन्दूक में
बनावटी पानी बरसता है
जिसे वह लालच से देखता है
लगातार

पानी की कोई स्मृति
अब उसके पास नहीं है

## वह जो बताती है

अपने दुखों के साथ अकेले रहती
वह यहाँ तक चली आई है
कि बाकी सब भूल गया है

कई बार जब वह कुछ कहती है
तो अपना कमाया सच कहने की तक़लीफ
और अपनी विफलताओं के अभिमान की सुन्दरता
एक साथ उसके चेहरे पर आ जाती है

कभी कुछ कहते-कहते यूँ ही
उसकी आवाज भींग जाती है

उसे ठिठके हुए लमहे में
वह यही बताती है
कि अपने दुखों पर से उसका भरोसा
अभी उठा नहीं है

और सामने वाले को आजाद कर देती है

## वे मुझे फिर से बुलाते हैं

उन्होंने कहा
अब तुम जाओ
तुम्हारी जगह खाली हुई
यह तुम्हारी नकल
तुम्हारा हमशक्ल है
जो अब से नियुक्त किया जाता है
फिर मैं अज्ञात जगह रहने चला गया
त्यागपत्र देकर और लेकर अपने तमाम स्वत्वाधिकार
जिनकी अब उन्हें कोई जरूरत न थी

एक अरसा हुआ
और मैं खुद ही भूल गया
कि मैं क्यों था, और कहाँ था
जब मैं पूरी तरह भूल गया
तो एक दिन मुझे फिर से आमंत्रित किया गया

## सपने में जगना

किसी और शहर में
एक रोज रात ढाई बजे
माँ ने
एक अजनबी स्त्री के वेश में आकर
गंजे होते अपने अधेड़ बेटे को
सपने में जगाया

'भूखी हूँ' यह
पूरे तीस बरस बाद बताया

## दुखद कहानियाँ

दुखद कहानियाँ जागती हैं

रात ज्यादा काली हो जाती है
और चन्द्रमा ज्यादा अकेला

इनका नायक अभी अपने मंच पर नहीं आया
या बार-बार वह आता है
अब किसी और ही वेश में
पर पहचाना नहीं जाता

दुखद कहानियाँ जागती हैं
जो सुबह की ख़बरों में छिपी हुई रहीं
और दिनचर्या की मदद से
हमने जिनसे खुद को बचाया

इन्हें सुनते हुए हम अक्सर बेखबरी में
मृत्यु के आसपास तक चले जाते हैं
या अपने जीवन के सबसे गूढ़ केन्द्र में लौट आते हैं

## एक आदमी

एक आदमी
कम कहता है
और कम साँस लेता है

एक आदमी
कम सुनता है
और कम देखता है

कम हँसता है
और कम रोता है

कम चलता है
और लौट आता है

कम याद करता है
और बार-बार भूल जाता है

एक आदमी
छोड़ देता है
और क्षमा कर देता है

एक आदमी
प्रियजन के बिना रहता है
और रहे जाता है
(और इसके लिए राष्ट्रपति से कोई पदक नहीं पाता)

## इन शब्दों में

इन शब्दों में
वह समय है जिसमें मैं रहता हूँ

गौर करने पर
उस समय का संकेत भी यहीं मिल जाता है
जो कितना ही न हो
लेकिन मेरा अपना है

यहाँ कुछ जगहें दिखाई देंगी
जो हाल ही में खाली हो गई हैं
और वे भी
जो अभी तक खाली पड़ी हैं

यहीं मेरा यक़ीन है
जो बाकी बचा रहा

यानी जो खर्च हो गया
वह भी यहीं पाया जायेगा

इन शब्दों में
मेरी बची खुची याददाश्त है

और जो भूल गया है
वह भी इन्हीं में है

*आठवें दशक की कविता की लय और स्वभाव का ट्रेंड सेट करने का काम जिन कवियों ने किया है उनमें मनमोहन सबसे प्रमुख हैं। मनमोहन भाषा को बरतने में बेहद मितव्ययी हैं इसलिये उनकी कविता साफगोई के बावजूद धीमी लेकिन साफ आवाज में बोलती है। मनमोहन समकालीन कवियों में भाषा और शिल्प के प्रति बेहद सतर्क लेकिन प्रयोगधर्मी कवि हैं। उनकी कविता में विट की विलक्षण क्षमता है। मनमोहन की कविता दमित और परिधि पर धकेले जा रहे मनुष्य का सच है शायद इसीलिये उसमें जीवन का वैविध्य और विराटता भी है और उसकी आवाज समाज में, परिधि पर धकेले जा रहे मनुष्य की आवाज के समानुपातिक भी है। इस विडम्बना ने ही जैसे मनमोहन की कविता के पूरे स्वभाव और शिल्प को रचा है।*

*राजेश जोशी*

# कम्यूनिस्टों का आल्हा और अन्य डिस्पैच
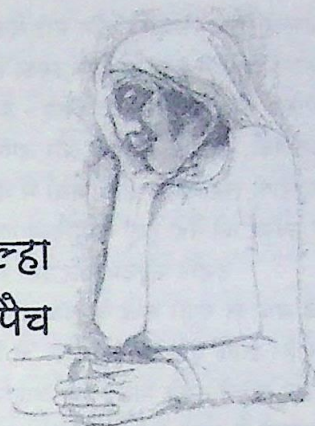
पाब्लो नेरुदा, अनुवाद : गीत

## कम्युनिस्टों का आल्हा

मैं आप सबको बधाई देता हूँ, कॉमरेड्स! मैं उन क्रांतिकारी नाविकों को अपनी ओर से बधाई भेजता हूँ जिन्होंने औरोरा या भोर पर से विन्टर पैलेस पर आए तूफान का संकेत देने के लिए तोपें दागी थीं। उन गोलों ने रूस का अंधकार मिटा दिया। मैं उन दिनों के क्रांतिकारी सैनिकों और किसानों को भी बधाई देता हूँ और लेनिन द्वारा जारी पहले राज्यादेश का स्वागत करता हूँ - सभी देशों के हित में जारी किया गया पहला लोकतांत्रिक कानून-शांति का हुक्मनामा।

उन कठिन और भयानक दिनों में बर्फ से पटी पेट्रोग्राद की गलियों में अकाल घिसट रहा था। बारूद के धुएँ ने जार की प्रतिभाओं को छेंक लिया था और नेवा युद्ध की लपटों से सुबह-सुबह ही जल उठा था। मद्धिम रोशनी में बंद पड़े कैथेड्रल के सुनहरे कक्ष झिलमिल कर रहे थे।

उन दिनों आदमी ने इतिहास का सबसे बड़ा चमत्कार करने के लिए हथियार उठा लिए थे। यूरोप अब किसी प्रेतबाधा का शिकार नहीं था क्योंकि कम्युनिज़्म पैदा हो गया था। वह एक स्वस्थ शिशु था।

नवागंतुक की शिनाख्त कोई नहीं करना चाहता था। यह वह नवजात शिशु था जिसकी पहली रुलाहट विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के अमन-चैन के लिए खतरे के अलार्म की तरह थी।

'दस्ताने और पूंछलगी कोटों वाले सूरमा', लंदन, पेरिस और न्यूयार्क में इकट्ठे हुए। अपने फौलादी हाथ उन्होंने बच्चे के दस्ताने में छिपा लिए। पूँछवाली कोटों ने उनके बम और अस्लहे छिपा लिए। वे लोग सारे बैंकों, स्टॉक एक्सचेंज, सेना के मुख्यालयों और दुनिया के तमाम चर्चों में इकट्ठा हुए। उनका निर्णय एकमत में था : क्रांति की मौत जरूरी है। उन्होंने अंग्रेजी और फ्रेंच में वादे किए - हम इससे निपट लेंगे। क्रांति को मरना ही होगा, उन्होंने इतालवी, स्पैनिश, जापानी और जर्मन में छपवाया। अचानक उन्होंने दस्ताने उतारे और अपने बहुभाषी लड़ाकों के साथ हाथों में बम वगैरह लेकर क्रांति को मार डालने के लिए जुट गए। 7 नवंबर को पैदा हुए कम्युनिज़्म नामक उस बच्चे को मार डालने के लिए उन्होंने ठान ली।

उन्होंने पश्चिम और उत्तर से हमला किया, दक्षिण और पूर्व से भी लेकिन बच्चा खुद को बचा ले गया। बच्चे के हाथ बहुत दुबले थे लेकिन उसने जो मारा कि आज तक घबराए हुए हैं। उसके घूंसे ऐसे ताकतवर थे कि उन्होंने मान लिया कि उन्हें उसकी ताकत का अंदाजा गलत था। वे उसके पालने तक आए और अपना-सा मुँह लेकर लौट गए। लाल सेना की भारी पदचापों से स्तेपी थरथरा रही था। बच्चा बढ़ रहा था और उसकी आवाज असीमित भूमि में इतनी जोर से गूँज रही थी कि लोगों को लगा होगा, यह पहाड़ों की आवाज है, नदियों का गाना है और आसमान से आया अंधड़ है। वह विजय की किलकारी थी जिसने समूची दुनिया को हिलाकर रख दिया।

कई बरस बीत गए और इतिहास बन गए। जो जमीन बहुत दुखी थी, वहाँ बेशुमार फसलें उगीं, युद्ध की भूमि को स्कूलों और कारखानों ने घेर लिया। नये समाज ने दुनिया को बदलना शुरू कर दिया। यह चमत्कारी क्रांति थी, आदिम इतिहास में अपने तरह की अकेली। यह हर समय का सबसे अद्‌भुत सामूहिक प्रयोग था, ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। यह संघर्ष के लिए भी उतना ही शक्तिशाली था जितना रचना के लिए। इसने न केवल अपने कानून और रास्ते बनाए बल्कि दूसरों को भी सिखाया कि काम कैसे करना चाहिए और कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए। नये समाज ने अपने विशाल भूभाग पर ही नहीं, सारी दुनिया पर रोशनी डाली। उसने सारी दुनिया के मजदूरों को दिखा दिया कि वे अपनी आजादी और न्याय अपने हाथों पा सकते हैं।

कई साल बीते और पश्चिम में नये संदेहों ने जन्म लिया। फ्रैंको, मुसोलिनी और हिटलर ने यूरोप को खून में डुबो दिया। युद्ध की लपटों ने एक के बाद एक देश को लपेटे में ले लिया। फिर आततायियों ने मानवता की आत्मा पर प्रहार करना चाहा। दुश्मन सोवियत क्षेत्र में अंदर तक घुस आए। कई गाँव व शहर तबाह कर दिए। सैकड़ों गाँवों को जमींदोज कर दिया और करीब 2 करोड़ लोगों की जान ले ली।

पर क्रांति काफी वयस्क हो चुकी थी। महान सर्वहारा ताकत को जीना था। आदमी की सबसे बड़ी उम्मीद को बचाए रखना उसका कर्तव्य था। युवा कम्युनिज़्म द्वारा रखे गए उदाहरणों का अनुसरण करते हुए उसने नाजी हत्यारों को जबर्दस्त झटके दिए। स्तेपी में जमा

बर्फ पिघलकर खून बन गई पर अपूर्व साहस से भरे इस नायक ने अपनी पवित्र धरती से उन आक्रांताओं को खदेड़ बाहर किया।

उस जमीन से शांति और रचना के काम फिर हुए और नई फसलें लहलहाई।

दुनिया फिर से हिल उठी थी जब आदमी ने अंतरिक्ष को जीत लिया। एक अंतरिक्ष यात्री ने इस दुनिया को इससे बाहर जाकर देखा। वह एक सोवियत था। जल्द की सनसनी ने फिर घेर लियाः इतिहास में पहली बार किसी अंतरिक्षयात्री ने अपना यान छोड़ा और अंतरिक्ष में उड़कर दिखाया। वह भी एक जवान सोवियत था। सब लोग खबरदार! रेडियो और टीवी ने घोषणा की कि अंतरिक्ष में एक महिला भी पहुँच गयी है। उसने हमारे ग्रह की किसी भी महिला से ज्यादा ऊँचा उठकर दिखाया। वह खूबसूरत मुस्कुराती लड़की भी सोवियत थी। आदमी द्वारा बनाई गई पहली चीज चाँद तक पहुँची - काम के प्रतीक हँसिया-हथौड़े से सजा परचम। दुनिया के सारे मजदूरों ने इस बात पर फक्र किया कि वह दुनिया का पहला सर्वहारा देश था जो श्रम की निशानी दूसरे ग्रह पर भी छोड़ आया था। बेशक, वह सोवियत संघ था जिसने इतनी प्रेरक मिसाल के रूप में काम किया और जिसने दुनिया के सारे संघर्षरत देशों को मदद दी।

इस दुनिया में ऐसे भी मूर्ख हैं जो खुद को अतिवामपंथी मानते हैं बावजूद उसके कि वे वाम को धक्का पहुँचाने से ज्यादा कुछ नहीं करते। वे वैसी ही दुनालियाँ चलाते हैं जैसा कट्टरपंथी प्रतिक्रियावादी या नव-साम्राज्यवादी। वे एक पंखवाली चिड़ियों की तरह हैं। मसलन वो चिंचियाते हैं कि सोवियत संघ वियतनाम का समर्थन नहीं करता। जबकि खुद पश्चिमी प्रेस वियतनामी वायुसेना को मिग के जरिए अमेरिकी 'हॉक' को निशाना बनाते दिखाते हैं - वह मिग सोवियत संघ में बना होता है। सोवियत संघ वियतनाम को जो सहायता देता है, उससे सारे देशों के सम्मान की रक्षा होती है और दुष्ट, हवसी साम्राज्यवादियों को सबक मिलता है।

सोवियत संघ में मेरे बहुतेरे मित्र हैं। मुझे उनकी सहजता और गंभीरता पसंद है - जो आम तौर पर सारे सोवियत में होती है। मैं सोचता हूँ उन्हें उनकी जिंदगी ने ही ऐसा बनाया है। समाजवादी और पूँजीवादी समाज का फर्क यह है कि एक बहुत सारी चिंताओं से मुक्त है और दूसरे को तंग करने पर लगा रहा है। जब मैं बूढ़ा हो जाऊँगा, तो मेरा क्या होगा? मैं क्या करने जा रहा हूँ? मेरे बच्चे किस बात का इन्तजार कर रहे हैं? अगर मैंने नौकरी खो दी तो मेरा क्या होगा? ये ऐसे सवाल हैं जो तथाकथित 'आजाद दुनिया' के हर आदमी को परेशान करते हैं।

उस दुनिया में भविष्य को एक बेचैन बादल ढाँप लेता है जो आदमी की आत्मा को भी भ्रष्ट कर देता है। ये बातें मुझे अपने मरहूम फोटोग्राफर दोस्त की याद दिलाती हैं। वह बहुत गरीबी में जिया और अंतिम दिनों में उसे यह चिंता सताने लगी कि क्या वह अपनी अंत्येष्टि और कफन जितने पैसे भी कभी जुटा पाएगा। यह चिंता उसे गहरे अवसाद तक ले गई। अंततः वह मुर्दा गाड़नेवाले एक आदमी के पास गया और अपनी फिक्रों का बयान इतने द्रावक तरीके से किया कि उसे लौटते हुए यह वादा मिल गया कि जब वह मरेगा तो वह व्यक्ति उसके लिए सबसे सस्ती अंत्येष्टि का इंतजाम कर देगा। इसके बाद ही उसका चित्त स्थिर हो सका।

ये पंक्तिया केवल बधाई के लिए लिखी जा रही हैं - मैं मास्को, त्बिलिसी, साइबेरिया और यूरल के सारे लोगों को बधाई देता हूँ। मैं पुराने मकानों की छतों पर जमा बर्फ को भी बधाई देता हूँ जो टॉलस्टॉय, गोर्की, दोस्तोवस्की और गोगोल की किताबों के चरित्रों जैसा महौल बनाती हैं।

*प्रावदा*
*20 फरवरी, 1967*

## खून के थक्के, नफरत की लपटें

मेरे लिए निकारागुआ उन छोटे बेघर देशों में से एक है जो अपने जंगलों की हरियाली के अँधेरेपन में सिमटे हुए हैं और बाहरी दुनिया के लिए एक करिश्मे की तरह उपस्थित। वे एकरेखीय पेड़ों से लदे हुए गझिन झरनों की तरह हैं जिनके मुकम्मल अंधकार में सारी चीजें गड्ड-मड्ड लगती हैं। पहले भी और अब भी, यह अंधकार अचानक किसी चमक से चिर जाता है और चौंधिया देनेवाली स्पॉटलाइट एक जालिम और एक हीरो पर पड़ती है - प्रेम और नफरत पर।

1926 से 1929 तक के साल ऐसी ही चमकों के गवाह रंहे। फोकस सैंडिनों पर पड़ा था। उसकी छोटी-सी दीवानी और बेचैन सेना ने अमेरिकी साम्राज्यवादियों को जबर्दस्त हौल दी थी। इसमें कोई शक नहीं कि सैंडिनो, फिदेल कास्त्रो का सीधा-सीधा पूर्वज था। पर उस समय उसके बचाव के लिए कोई था नहीं। समाजवादी दुनिया विकास की अपनी जटिल समस्याओं को सुलझाने में मुब्तिला थी। और लैटिन अमेरिका की जनता जो आरंभ से ही उसके संघर्षों का मायना समझ रही थी, उस नायक के लिए कुछ भी कर पाने में बेबस थी। पहाड़ों के बीच एक दुश्मन गोली ने उसकी जान ले ली।

तब से बंधे हाथों और पैरों वाले निकारागुआ पर अमेरिकी मालिकों का भक्त सोमोजा परिवार राज कर रहा है। समय आएगा, जब लोगों को पता चल जाएगा कि निकारागुआ के लोग कितने पीड़ित हैं और ढँके-छिपे तौर पर वहाँ कितने अपराध होते हैं। कवि रिगोबर्तो लोपेज पेरेज की ओर से दागी गई एक गोली ने निर्दयी सोमोजा की जान ले ली जिसने करीब तीस साल तक खून की अनबुझी प्यास के साथ उस देश पर राज किया था। लोपेज पेरेज अच्छी तरह जानता था कि वह मारा जाएगा और अपने प्रयास में सफल हो जाने के बाद उसकी हत्या भी हो गई, मर गए तानाशाह की जगह एक और सोमोजा आ गया - उसका बेटा और सब कुछ वैसा ही रहा।

मेरा मानना है कि निकारागुआ में आज बहुत गंभीर परिवर्तन हो रहे हैं। उस अंधकार से देश की क्रांतिकारी कविता तो कम से कम फूट कर बाहर निकली ही है। मैंने अभी-अभी निकारागुआ से निर्वासित विद्रोही कवियों का संकलन पढ़ा है जो बाहर छपा है।

इस छोटी सी किताब ने मुझे झकझोर दिया है। उस तिलिस्मी देश के घटाटोप अँधेरे से निकल रही चौंधिया देने वाली स्पॉटलाइट को मैं बखूबी देख सकता हूँ।

किताब में करीब 60 छोटी कविताएँ संकलित हैं। अनजान कवियों और एडविन कास्त्रो, आलफांसो कोर्टेस, जोआकिन पासोस, असारियास पैलियान्स, मनोलो कुआद्रा और सालोमन डी ला सेल्वा जैस मशहूर कवियों की भी।

सालोमन डी ला सेल्वा के साथ मेरे ताल्लुकात बड़े दोस्ताना रहे हैं। हम दोनों मेक्सिको में आव्रजक के रूप में एक साथ रहे हैं। वह प्रखर बुद्धि का स्वामी था - साहस, यात्रा और मनोरंजन के प्रति गहरा प्रेम रखनेवाला। अभी कुछ साल पहले ही उनका निधन हुआ। इसका श्रेय भी सालोमन डी ला सेल्वा को ही है कि हमारे पास अपने महाद्वीप में प्रकाशित एक अद्‌भुत किताब है। मेरा आशय कविता के इस संकलन 'एक अनजान सैनिक' से है जिसे उन्होंने पहले विश्वयुद्ध के बाद संयोजित और प्रकाशित की थी। किताब अपने गांभीर्य और मकबरेपन के कारण अद्वितीय है। इसकी पंक्तियाँ किसी प्राचीन पत्थर पर अनुशासित शास्त्रीय शैली में उकेरी गई-सी लगती हैं। सार्वभौमिक शांति के लिए दिया गया यह पहला कविताई योगदान था। उस किताब में सुजान, ताजा और उदार कविताएँ थीं।

पर किताब में सबसे ज्यादा प्रासंगिक कवि जो है, वह अज्ञात है। आधी से ज्यादा कविताएँ उसकी हैं। निश्चित ही वह एक ही या अकेला कवि नहीं होगा क्योंकि कवि की उम्र का फर्क कविता में साफ दिख जाता है। संभव है कि इन अज्ञात कवियों में से एक अब तक जीवित है, बाकी के लोगों की मृत्यु हो चुकी है। वह निकारागुआ में जिए और मरे कई कवियों से मिलकर बना है। वे ही लोग कविता का सार हैं - पुरानी और समकालीन कविता के।

इन कविताओं में कोई नाटकीयता नहीं है, न ही शब्दों से खिलवाड़। है तो बस-खून के थक्के, नफरत की लपटें। ये कविताएँ किसी यातना-कक्ष की तरह हैं। एक अज्ञात कवि लिखता है :

**जेल के कुत्ते फिर भौंकने लगे हैं**
**और तुम्हारी पीठ से लगा**
**लोहे का दरवाजा बजने लगा है**
**तुमसे सवाल किए गए हैं फिर**
**तुम तो एक साजिश के मुजरिम हो**
**तुम मुख्तसिर-से जवाब देते हो**
**और अपनी सेल में लौटा दिए जाते हो**
**तुम अपनी बीवी की तस्वीर की**
**मृगतृष्णा में टहलते हो**
**यह रात सिसकियों,**
**गड़गड़ाहट और सन्नाटे से पैबस्त है**
**मुर्दुस सन्नाटा।**

एक दूसरे अज्ञात कवि की कविता में देशप्रेम देखने लायक है। वह विशाल भूमि का बखान करता है लेकिन उसके पास अमेरिकी निगमों द्वारा अमीरों के बीच की जा रही सिंचाई के प्रति जागरुक नफरत भी है :

मेरे देश!
वादियों की धरती!
तुम्हारे पाइन की लड़कियों को
कितना चाहता हूँ मैं
लेकिन ये नदी बहा ले जाती है
काले कुंदों को
निकारागुआ की पाइन कंपनी को
मुनाफे से लबरेज करती
जहाँ बदनाम पाइन उगते थे ऊँचा
वहाँ मुर्दा जड़ों और पत्थरों के सिवाय कुछ नहीं
खजाने का महकमा
खोदे ले जा रहा है हमारा सोना
अपने लंबे हड़ियल हाथों से।

संकलन में शामिल कवियों से हमारा परिचय रत्ती-भर ही है। जोआकिन पासोस की कविताएँ कवि के विश्वास और प्रतिबद्धता का उच्चारण हैं। उनकी कविता एक साथ इतनी आध्यात्मिक, आरोहित और परिपक्व है कि उसमें एक हथियार की सारी योग्याताएँ हैं और वह लड़ने के लिए माकूल है। उनकी कविता सैनिकों की तरह मार्च करती है :

यंकी, भाग जाओ!
यंकी, घर जाओ!
तुम यहाँ हो, मंजूर नहीं।
सीधे बाहर!
हमें कितनी सदियाँ और लगेंगी
तुम्हारे सिर में ये बातें डालने को कि
हमारे बगीचों की जड़ें
मेरे दिल में गहरे तक हैं
और ये परिंदे गुनगुनाते हैं सिर्फ मेरे लिए
और यह भी कि यह देश
मेरा इकलौता प्यार और खुशी है?

एडविन कास्त्रो जिन्हें 18 मई 1960 को जेल में क़त्ल कर दिया गया था हमारे लिए संघर्ष की धुन छोड़ गए हैं, अकंप विश्वास के साथ। इसे पढ़ते हुए लगता है जैसे किसी

ने किसी का धड़कता हुआ दिल अपने हाथों में थाम रखा है:

कल सब कुछ बदला हुआ होगा, बर्खुरदार!
हमारे दुख और तकलीफें खो जाएँगी अच्छाई की खातिर।
और नये, मजबूत लोगों के भरोसेमंद हाथ
सख्ती से, उनके पीछे भिड़का देंगे दरवाजे
हाँ, कल सब कुछ बदला हुआ होगा, बर्खुरदार!
सिसकियाँ, वेदना और गोलियाँ बहुत हो गए अब
अपने बच्चों को पकड़ा अपनी उंगलियाँ
हर शहर की हर गली में तफरीह करोगे तुम
काश मैं भी चल सकता तुम्हारे साथ!
तुम्हारी तरुणाई को कोई नहीं फेंक सकेगा
दुखों के घटिया घटाटोप में,
जैसे फेंक दी उन्होंने मेरी।
तुम निर्वासन में नहीं मरोगे
अपने प्यारे देश से दूर
जैसे तुम्हारे दादा या मेरे पिता.....
हाँ, कल सब कुछ बदल जाएगा, बर्खुरदार!

अलफाँसों कार्टेस की कविता भी अविस्मरणीय है

मई में तीनों के तीनों थे वहाँ
लेकिन काले डहेलिया ने फूँक दी
उनके शरीर में मौत
हर माह मरता है कोई न कोई
क्योंकि कोई न कोई चाहता है उन्हें मरते देखना ...
आज की रात कौन होंगे वे दो?
एक की आँखों में अजब-सा जुनून होगा
या घायल गर्दन वाला उसका कोई साथी?
वे दर्द की निशानियाँ हैं जो बनी हैं ढेर सारे
बेवजनी धागों से
निकारागुआ की माँओ
तुम कुचले जंगली फूलों की तरह हो
ओ मेरे निकारागुआ,
तुम्हें रौंदा जा रहा है
खून से भरे पोखर में डुबो-डुबोकर।

अलफांसो कार्टेस जेल में पागल हो गए थे। दीवानगी की हिंसक किरणों से भरी उनकी कविता जुल्म और अमेरिकी नीतियों पर सीधा आरोप है। उनकी कविता केवल रुंदते निकारागुआ ही नहीं, पीड़ित आत्माओं की बेअंत कतारों को संबोधित करती है। और स्वतंत्रता और वैयक्तिक गरिमा को बचाए रखने की मनुष्य की हीरे जैसी कठोर प्रतिबद्धता को भी।

*कोम्सोमोल्स्काया प्रावदा,*
*25 अगस्त, 1963*

## ऊँचाई

यह अद्‌भुत संयोग है कि अलग-अलग देशों और युगों में पैदा हुए दो युवकों के पोर्ट्रेट मेरे अपार्टमेंट की एक ही दीवार पर टँगे हुए हैं। उनके कर्म अतुलनीय थे और वे अलग-अलग भाषाएँ बोलते थे। जो भी इन दोनों की पोर्ट्रेट देखता है, वह दोनों की हैरतअंगेज पसंद से टकरा जाता है।

एक पोर्ट्रेट है फ्रेंच कवि ऑर्थर रिम्बो का 17 साल की उम्र का और दूसरा पोर्ट्रेट है 1909 के वक्त के ब्लादिमीर मायकोवस्की का।

दोनों की कर्णधार थे : रिम्बो ने कविता की पुनर्संरचना की और उसे थरथराते हुए सौंदर्य में तब्दील कर दिया और मायकोवस्की के बलवान और रचनात्मक कवि ने क्रांति की अद्वितीय एकता को शिद्दत के साथ अभिव्यक्त किया।

यकीनन यह संयोग ही है कि दोनों कर्णधार एक दूसरे के बगल में है और अब दोनों मुझे उसी तरह देख रहे हैं जैसे अपने आसपास की दुनिया को जाँचने के लिए लोगों के दिलों में देखना।

हम जल्द ही मायकोवस्की की 75वीं सालगिरह मनाने जा रहे हैं। हम उनसे मिले होते, थोड़ा-सा बतियाया होता और बेशक अच्छे दोस्त बन जाते। यह सोवियत कवि इतना प्रसिद्ध और मिथकीय व्यक्तित्व वाला था कि मैं यह कल्पना बड़ी मुश्किल से कर पाता हूँ कि वह मास्को के अराग्वी रेस्तराँ में यूँ ही बैठे हैं या मंच पर जाकर अपनी कविता पढ़ रहे हैं, उनकी कविताएँ जो युद्ध के लिए मार्च करती सेना की तरह थीं जिनमें गति और धमाका भरा हुआ हो।

उनकी कल्पना और कविता क्रांति और उभरते हुए राज्य के हाथों में सजे काँसे के फूलों के गुच्छे की तरह थीं। ये अटूट फूल किसी मजबूत धातु से साँचे गए थे, उनकी चमक शाश्वत है। परिवर्तन की बयार में मायकोवस्की की कविता बखूबी हिस्सेदार रही और उसकी महानता भी इसी बात में है। जो महत्वपूर्ण था, वह था अपने देश के इतिहास के सबसे अहम समय के साथ उनकी कविता का समवाय। यही वह समय था जब उनकी कविता रिम्बॉड की कविता से अलग हुई। रिम्बॉड बहुत महान लेकिन पराजित कवि थे, भड़कीले किंतु बदकिस्मत

कवि; अपनी त्रासद मृत्यु के बावजूद मायकोवस्की मनुष्य की महानतम विजय का ठोस और भौतिक गवाह थे। इस मायने में वह वाल्ट व्हिटमैन की तरह थेः दोनों योद्धा थे और महान संघर्षों में उन्होंने अपना किरदार अदा किया। व्हिटमैन किसी भी तरह अब्राहम लिंकन द्वारा किए गए स्वाधीनता संघर्ष के सजावटी अंग नहीं थे। उनकी कविता युद्ध की रोशनी और उसके शेड्स दिखाती है। मायकोवस्की की कविताएँ सोवियत कारखानों, प्रयोगशालाओं, स्कूलों और सहकारी कृषि के लोगों के लिए कर्म-मंत्र हैं। उनकी कविता अंतरिक्षयान में लगे अनोखे यंत्रों की तरह है।

ब्लादिमीर मायकोवस्की इस साल 75 के हो जाते। अफसोस है कि वह हमारे बीच नहीं हैं। वह एकमात्र कवि हैं जिन पर मैं भरोसा कर सकता हूँ - चाँद पर सोवियत आदमी के पैर धरने के विवरण के साथ।

*प्रावदा, 19 जुलाई 1968*

## कलाकार, नागरिक और योद्धा

यह जानकर सचमुच बड़ी खुशी हुई कि विलक्षण मेक्सिकन कलाकार डेविड अल्फारो सिक्विरोस को देशों के बीच शांति बढ़ाने के लिए इंटरनेशनल लेनिन प्राइज दिया गया है। सिक्विरोस को मैं बरसों से जानता हूँ। हम इतना पहले मिले हैं कि मुझे मिलने का वक्त भी ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा। ऐसा लगता है कि वह समय स्पैनिश गृहयुद्ध से पहले का रहा होगा। कई मौकों पर मैंने उन्हें स्पैनिश गणतंत्र के बड़े समर्थकों में पाया है।

उनकी राजनीतिक और साधारण जिंदगी अपने आप में अलग है क्योंकि वह मिथक, ऐतिहासिक सचाई और हालिया नाटकीय घटनाओं से जुड़ी हुई है। जनरल कैरेंजा के मातहत एक युवा सैनिक की तरह उन्होंने आरंभ से ही मेक्सिकन क्रांति में हिस्सा लिया। उन महान घटनाओं में उनकी सीधी शिरकत, जिन्होंने मेक्सिको की जनता को जागरूक बनाकर उम्मीदें जगा दीं, ने इस कालाकार को अपनी पेंटिंग के लिए स्थाई प्रेरणा दे दी और आज़ादी, जमीन और रोटी के लिए चलनेवाले मेक्सिकन संघर्ष को बल दिया।

सिक्विरोस की कला एक मंत्र की तरह है। उनके अद्‌भुत म्यूरल्स और कैनवास उन योद्धाओं की गरिमा की एक झलक दिखाते हैं जो कला को अपनी गतिविधियों की नैतिक बुनियाद बनाने के लिए आवश्यक मानते हैं। कला की इस धमाकेदार त्रयी ने मेक्सिकन पेंटिंग में क्रांति ला दी थीः जोसे क्लीमेंटो ओरोज्को, जीनियस इंसान और तीनों में सबसे नाजुक है, विशालकाय डियेगो रिवेरा सबसे ज्यादा शास्त्रीय और डेविड अल्फारो सिक्विरोस सबसे ज्यादा बेचैन, विलक्षण और नवीन।

अभी कुछ दिनों पहले मैं थोड़े वक्त के लिए मैक्सिको में था, जहाँ मैंने उनकी दो बड़ी और ताजा पेंटिंग्स देखीं - कुएर्नावाका में फ्रेस्कोस, जो संभवतः दुनिया में सबसे बड़ी है

और चापुलटेपेक पैलेस में म्यूरल्स। पहली में अनगिनत संघर्षों के बीच रोटी के लिए की जाने वाली जद्दोजहद है तो दूसरी ने हॉल का एक बहुत बड़ा हिस्सा घेर रखा है। इसे उन्होंने राजनीतिक आरोपों के लगने और जेल जाने से पहले ही बनाना शुरू कर दिया था। उसका काम अभी भी अधूरा पड़ा है। बाद में भी, जेल में 4 घंटे गुजारकर आ उन्होंने पेंटिंग जारी रखी। म्यूरल में मेक्सिकन क्रांति और उसके दैवीय निर्माणों की गाथा है। पैलेस की सारी दीवारें और छत किसानों और मजदूरों से भरी पड़ी हैं। वे इतनी असरदायक हैं कि जो भी देखे, ताउम्र न भूल सके।

सिक्विरोस को मैं देशों के बीच रोटी, आजादी और शांति के उन्नायकों के रूप में देखता हूँ। उन्हें लेनिन प्राइज मिलने का अर्थ है कि सारी दुनिया की जनता शांति और सामाजिक विकास में मेक्सिकन लोगों द्वारा दिए गए वजनी योगदान का सम्मान करती है। अमेरिकी साम्राज्यवाद की बर्बरता के खिलाफ लड़ते वियतनामी नायकों को अपने पुरस्कार की राशि समर्पित कर देने का सिक्विरोस का निर्णय वियतनाम की रक्षा में उनका निजी योगदान है। इस दुनिया के भविष्य के प्रति यह एक महान कलाकार की जवाबदेही है।

*प्रावदा*
*11 मई, 1967*

## हमारी आवाज अलार्म की तरह बजे

अशिक्षा लैटिन अमेरिका के लिए दुर्भाग्य है जिसमें उपेक्षा और सांस्कृतिक पिछड़ापन भी जुड़ गया है। यह हमारे बढ़ते हुए त्रासद दुख हैं। नव उपनिवेशवादी नीति के कारण यह बुराई बढ़ती ही जा रही है। साथ ही, हमारा महाद्वीप लंबे और खतरनाक राजनीतिक संक्रमण से जूझ रहा है। इसका शरीर मानवीय इतिहास की सबसे क्रूर तानाशाही से लिपटाया हुआ है।

मध्ययुगीन दमन के साथ सामंतवाद; अमानवीय शोषण के साथ आकार लेता पूँजीवाद; सामंतवाद का सड़ता हुआ तेलकटपन; सेनाओं की बढ़ती दखलअंदाजी (जिन सेनाओं ने मोर्चों पर तो कभी कोई युद्ध नहीं जीता लेकिन अपने ही लोगों पर चढ़ बैठने में जिन्होंने कोई कसर नहीं रखी) - इन सामाजिक मुद्दों को ध्यान में रखकर विशेषज्ञों को जरूर कोई अध्ययन करना चाहिए।

हम लेखकों की तो पूरी जिंदगी ही लैटिन अमेरिकी देशों पर थोपी गई जीने की शर्मनाक परिस्थितियों के खिलाफ सतत लड़ाई है। हमने अपने दोस्तों और साथियों के दमन के खिलाफ लड़ाई कभी नहीं छोड़ी। उन पर मुकदमे इसलिए चलते हैं क्योंकि उन्होंने कुछ देशों में चलने वाली अमानवीयता का विरोध किया। पेरू, बोलिविया, ब्राजील और पराग्वे की जेलें राजनीतिक कैदियों से भरी पड़ी हैं और कुछ वैसी ही किस्मत लेकर कैरेबियाई देशों में कुछ लोग जन्मे हैं। लैटिन अमेरिका के सारे गणतंत्रों को इस पर शर्मसार होना चाहिए कि पराग्वे में क्या चल रहा है। वहाँ ऐसे भी लोग हैं जिन्हें अदालतों ने नौ साल पहले ही बरी कर दिया है,

लेकिन वे अभी तक सींखचों के पार पड़े हैं। वे कभी छूटेंगे भी, ऐसी आशा करना भी बेकार है। अन्तोनियो मैडाना* और उनके कॉमरेडों के साथ भी ऐसा ही हुआ। स्ट्रोएसनर** की तानाशाही में पराग्वे में ऐसा कई लोगों के साथ हुआ है। उसका राज्य साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा सींचा जा रहा है, वही ताकत इस महाद्वीप के अधिकांश देशों को संचालित कर रही है।

मैं उन सारे राजनीतिक बंदियों का गर्मजोश अभिवादन करता हूँ जिनका जीवन और किस्मत हमसे जुदा है। मैं सारे लैटिन अमेरिकी लेखकों से इन साहसी योद्धाओं की आजादी के संघर्ष में शामिल होने की अपील करता हूँ।

मेरा विश्वास है कि अगर हम इस मुहिम में शामिल हुए और अपने देश के हितों और चिंताओं की तरफ से मुँह नहीं मोड़ा, यदि हम अपने महाद्वीप को एकता और पुख्तगी के सूत्र में बाँधने में लगे रहे, तो हम अपने कॉमरेडों को शत्रुओं से बचा लेंगे और उनकी यातनाओं को झटक देंगे।

*इजवेस्तिया*
*24 मई, 1967*

** अन्तोनियो मैडाना : पराग्वे के लोकतांत्रिक आंदोलन का सक्रिय सदस्य, 1930 में वह छात्र केंद्र के नेता थे। 1949 में वह पराग्वे की कम्युनिस्ट पार्टी की सेंट्रल कमेटी के सदस्य बने। 1959 में उन्हें जेल में डाल दिया गया। 1971 में वह जेल से अपनी पार्टी के अध्यक्ष चुने गए। अंतरराष्ट्रीय आंदोलन के दबाव के कारण उन्हें 1977 में रिहा करना पड़ा। अगस्त 1980 में ब्यूनस आयर्स में उनका अपहरण कर लिया गया और पराग्वे लाकर जेल में डाल दिया गया। इसके बाद उनके बारे में कोई सूचना नहीं मिली।*

*** स्ट्रोएसनर - पराग्वे का क्रूर तानाशाह जिसकी सत्ता फरवरी 1989 तक कायम रही।*

## एस्मेराल्दा लौट आया है

एस्मेराल्दा लौट आया है! एस्मेराल्दा लौट आया है!

रसोईघर की खिड़कियों में चेहरे प्रकट हो गए, गर्म बॉयलर-रूम्स में से सहायकगण बाहर को लपके, बच्चे कूदकर निकलने लगे, जैसे बसंत आ गया हो, और फटी हुई पतलून पहने बुजुर्ग अपनी-अपनी छड़ियों पर थोड़ा और झुक गए। सबकी आँखें एक ही जगह जा चिपकी थीं। वलपरायसो की सारी आँखें, यहाँ तक कि उनकी भी, जिन्हें कभी सितारों और फूलों की तरफ भी देखने की फुरसत न थी, महासागर में एक छोटे-से सफेद निशान पर जा चिपकी थीं, वह निशान जिसका आकार पल-पल बढ़ता जा रहा था। वे सब लोग एक सफेद पाल को देख रहे थे जो गुलाब की पंखुड़ियों की तरह खिल रहा था और हवा में किसी सफेद कबूतर की तरह फड़फड़ा रहा था। वही एस्मेराल्दा था।

अगर मेरे देश को समझना हो, तो इस जहाज को देख लीजिए।

चिली पहाड़ों की धरती है, ऊँची चोटियों और साँस लेते झरनों से घिरी हुई और बर्फ की टोपी पहनी-झक सफेद। चिली महासागर के ऊपर एक लंबी और संकरी बाल्कनी है। उस

गहरी पृष्ठभूमि को छोड़ दें तो एस्मेराल्दा समुद्र की अंगूठी पहने चाँद का पत्थर लग रहा है।

हमारे पास इस नाम वाले दूसरे जहाज भी हैं। उनमें कुछ तो बड़े नायकत्व भरे भी हैं। यह नाम सिर्फ उनके सम्मान में ही नहीं रखा गया बल्कि सबसे खूबसूरत जहाजों को यही नाम दिया भी जाएगा क्योंकि इसी नाम में वह हरियाली छिपी हुई है।

पर अब इस नाम वाला यह जहाज सबसे ज्यादा खूबसूरत बन गया है। जब एक प्रसिद्ध योद्धा लॉर्ड कॉचरेन और उनके चिलियन नौसैनिकों ने दक्षिणी समंदर को आजाद कर लिया था, हमारे लोग तब समंदर में घुसे थे। समुद्री व्यापारियों ने अपनी शांति-पताकाएँ तभी फहराई थीं। दुनिया की सारी जगहों के जहाज वलपरायसो में जरूर रुकते हैं।

प्रशांत हमारे ग्रह की शान है। देखो, कितना आलीशान लग रहा है।

हम महासागर को अनगिनत जहाजी गलियों से क्रिस-क्रॉस कर देना चाहते हैं ताकि जहाज फूल और रत्न ले जाएँ, गीत और मशीनें, आशाएँ और अनाज। युद्ध को हम ऊँची उठती लहरों में डुबो देना चाहते हैं।

परामणु विस्फोटों ने हमारी स्मृतियों में खुरच लगा दी है, लेकिन महासागर ने उस पर मलहम किया है। महासागर बहुत दूर तक दिखता है, यह ज्यादा सामाजिक है और लंबी दूरियों को कम करने की कोशिश करता है और चाहता है कि नये जहाज, लोग, क्रांतियाँ, विचार और भाषाएँ आएँ जिससे आपस में संवाद बढ़े।

हमारे सफेद छोटे जहाज के पाल में अभी भी बाल्टिक की हवाओं की खुश्बू बसी है। इस जहाज ने लेनिनग्राद की यात्रा की है जिसके बीचो-बीच महान पीटर का स्मारक है, जिसके निवासी लेनिन की स्मृतियों को जीते हैं। हमारे नाविक नेव्स्की प्रॉस्पेक्ट में गए जहाँ पुश्किन और दोस्तोवस्की तफरीह करते थे। उन्होंने दुनिया की श्रेष्ठ पेंटिंग्स देखीं और कला का असली खजाना-हर्मीटिज भी। वे 'औरोरा' भी गए जिसकी तोपों ने दुनिया के इतिहास की धारा मोड़ दी। बहुत साल पहले मैं भी उस जहाज पर पहली बार गया था और मैं दंग रह गया था जब कप्तान ने कहा था कि उसने मेरी कविताएँ पढ़ रखी हैं।

मैं एस्मेराल्दा की सोवियत बंदरगाहों की यात्रा का स्वागत करता हूँ। वहाँ के लोग भी उसके आगमन को देखने के लिए रुके होंगे। उनमें वे बुजुर्ग भी होंगे जिन्होंने अंधकार को देखा है और वे बच्चे भी जो खुली हवा में साँस लेंगे। जहाज को देखते हुए अवश्य ही उन्होंने सुदूर मेरे इस देश के बारे में भी सोचा होगा जो एक महासागर और पहाड़ों के बीच बसा है।उन्होंने महसूस किया होगा कि दूरियाँ अब बेमानी हैं और रूस की खिलती हुई मई इस बसंती जहाज के कारण हमारे और नजदीक आ गई हैं। और अब ऐस्मेराल्दा घर लौट रहा है और वलपरायसो की सारी आँखें सफेद गुलाब को पहचान रही हैं। उसके गहरे सफेद रंग के पाल के परे हम दोस्ती और आपसी समझ का नया क्षितिज देख सकते हैं।

*प्रावदा*
*16 जून, 1968*

# डार्विन और आज का हमारा विज्ञान

चित्रा बेडेकर, अनुवाद : उषा बैरागकर आठले

*आधुनिक प्राणिविज्ञान में डार्विन के उत्क्रान्ति-सिद्धांत और मेंडेल के आनुवांशिकता-सिद्धांत पर आविष्कार की आधारशिला रखी गई है। उत्क्रान्ति और जनुकविज्ञान आज के जैवतन्त्रज्ञान के विकास में नींव के पत्थर हैं। इसीलिए **19 अप्रैल 2002** को डार्विन की **120** वीं जयंती के उपलक्ष्य में उनके अमूल्य योगदान की स्मृति में यह लेख लिखा गया है।*

आगामी सितम्बर में लन्दन में एक अचम्भा होने वाला है। विश्वप्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन द्वारा विश्व-भ्रमण के दौरान इकट्ठा किये हुए जीव-जन्तु, वनस्पति, पत्थर आदि के अनगिनत नमूने विज्ञान-प्रेमियों के अवलोकनार्थ उपलब्ध किये जाने वाले हैं। डार्विन द्वारा इकट्ठे किये गये नमूनों की इस तरह की प्रदर्शनी पहली बार ही आयोजित की जा रही है। नैचरल हिस्ट्री म्युजियम, लन्दन ने यह कदम उठाया है।

किसी भी संग्रहालय में संग्रहित नमूनों की तरह ये नमूने साधारण नहीं है। इन नमूनों ने विज्ञान के इतिहास में क्रान्ति पैदा कर दी थी। इस पृथ्वी पर अस्तित्वमान विभिन्न प्राणियों एवं वनस्पतियों की उत्पत्ति तथा उनके परस्पर सम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाले ये नमूने बहुमूल्य हैं।

एडिनबरो में चार्ल्स डार्विन एक प्रकृतिप्रेमी के रूप में जाना जाता था। वह अपने दादा एवं पिता की तरह चिकित्साविज्ञान का छात्र था परन्तु इसमें असफलता मिलने पर सन् 1831 में उसने कैम्ब्रिज से धर्मशास्त्र में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 27 दिसम्बर 1831 को अपने प्रकृतिप्रेम के कारण उसे एक सुअवसर प्राप्त हुआ। 'एम.एच.एस.बिगल' नामक यात्री

जहाज इंग्लैण्ड के समुद्रकिनारे से दक्षिण अमेरिका की यात्रा पर रवाना होने वाला था। उस यात्रा के लिए एक प्रकृतिप्रेमी की हैसियत से बाईस वर्षीय युवा डार्विन चुना गया।

दक्षिण अमेरिका महाद्वीप के दक्षिणी हिस्से से गोल घूमते हुए उसके किनारे और समुद्र के सर्वेक्षण का काम बिगल जहाज के कप्तान को सौंपा गया था। प्रशांत और हिन्द महासागर को पार कर अफ्रीका से गोल घूमते हुए इस जहाज को पाँच वर्षों में अपने देश लौटना था। इस यात्रा के दौरान चार्ल्स डार्विन ने दक्षिण अमेरिका, अटलांटिक महासागर में स्थित द्वीप, न्यूजीलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया, प्रशांत महासागर में स्थित गलापगस द्वीप, केप ऑफ गुडहोप, टास्मानिया, सेंट हैलेना आदि स्थानों के प्राणी, वनस्पति, उनके प्राचीन अवशेष, पत्थर आदि के अनगिनत नमूने इकट्ठा किये।

नमूने इकट्ठा करना चार्ल्स डार्विन का महज शौक भर नहीं था। इनके बारे में वे लगातार निरीक्षण और विचार कर रहे थे। प्राणी और वनस्पतियों के विशिष्ट गुणधर्म, उनका अपने वातावरण से सम्बन्ध, परस्पर सम्बन्ध, द्वीपों एवं महाद्वीपों में रहने वाले प्राणियों के जीवन में अन्तर, उस भूभाग में हुई उथल-पुथल के चिन्ह एवं उनके संभावित परिणाम - - - इन पर डार्विन विचार-मंथन कर रहे थे। सन1836 में जहाजी यात्रा से घर लौटने पर अगले बीस वर्षों तक डार्विन विचार और शोध करते रहे। डार्विन के मन में बिगल यात्रा के दौरान ही उत्क्रांति विषयक सिद्धांत के बीज पड़ गये थे परन्तु उन्होंने हड़बड़ी नहीं की बल्कि वैज्ञानिक तथ्यों के सिद्ध होने पर ही सन् 1842 में अपने विचारों को तार्किक पद्धति से लिखित रूप में प्रस्तुत किया। पर्याप्त तैयारी के पश्चात् 01 जुलाई 1858 में डार्विन ने अपना निबन्ध लन्दन की लिनियन सोसाइटी के सामने प्रस्तुत किया।

24 नवम्बर सन् 1859 को डार्विन का ग्रन्थ 'दि ओरिजिन ऑफ़ स्पीसिज' (प्राणीजाति की उत्पत्ति) प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक ने प्रकाशन-तिथि के दिन ही समूची प्रकाशित 1250 प्रतियों के बिकने का रिकॉर्ड बनाया। साथ ही बाइबिल में वर्णित 'दुनिया की उत्पत्ति सम्बन्धी अवधारणा' को भी जबर्दस्त धक्का पहुँचाया। ''ईश्वर ने यह सृष्टि सिर्फ सात दिनों में बनाई और तब से अब तक उसमें कोई बदलाव नहीं आया'' - - उस समय यही धारणा व्याप्त थी। डार्विन के सिद्धांत ने बाइबिल के इस विचार और साथ ही चर्च की सत्ता के लिए भी चुनौती खड़ी कर दी, फलस्वरूप डार्विन को तात्कालीन धर्मगुरुओं के खिलाफ संघर्ष करना पड़ा था।

विज्ञान के इतिहास में धर्मसत्ता के लिए किया जाने वाला यह संघर्ष 'ऑक्सफोर्ड संघर्ष' के नाम से दर्ज हुआ है। यह संघर्ष डार्विन के कट्टर विरोधी बिशप विल्बरफोर्स और उनके कट्टर समर्थक प्रोफेसर हक्सले एवं अन्य विज्ञानप्रेमियों के बीच चला। डार्विन को स्वयं अपने सिद्धांत के समर्थन में कुछ कहने की जरूरत महसूस नहीं हुई क्योंकि उन्होंने बीस वर्षों के अपने संशोधन के उपरान्त इस ग्रन्थ में तर्कशुद्ध विवेचन एवं विचार-प्रवर्तन प्रस्तुत कर दिया था।

बिशप विल्बरफोर्स एक लोकप्रिय वक्ता एवं धार्मिक प्रवचनकार थे। श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर अपने वक्तव्य उनके गले उतारने की कला में वे सिद्धहस्त थे। शनिवार, 30 जून 1860 को उन्होंने अपना प्रवचन ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के वाचनालय में आयोजित किया। भरपूर भीड़ इकट्ठी हो गई थी। उनके प्रवचनों के नियमित श्रोता -- तमाम अमीर-उमराव तो उपस्थित थे ही, साथ में अनेक विद्यार्थी, प्राध्यापक, धर्मोपदेशक भी उपस्थित थे। इस भीड़ से प्रसन्न होकर बिशप विल्बरफोर्स ने अपना प्रवचन प्रारम्भ किया।

बिशप ने डार्विन पर सीधे प्रहार न करने की चालाकी करते हुए उसके सिद्धांतों के प्रति शंकाएँ उपस्थित कर श्रोताओं को प्रभावित किया। डार्विन की स्थापनाओं के पीछे क्या कोई तथ्य या सुबूत है? क्या किसी ने प्रत्यक्षतया प्राणियों में हुए परिवर्तन को देखा है? शताब्दियों पूर्व हुए परिवर्तनों के क्या सबूत हैं? --- इस तरह के सवाल उठाता हुआ बिशप डार्विन का उपहास कर रहा था और उसके प्रति दया दिखा रहा था। परन्तु अंत में अपनी धर्मोपदेशक वाली गम्भीर आवाज में उसने श्रोताओं को सहमत करने का प्रयास किया कि डार्विन ने यह पाखण्ड रचकर धर्म की अवहेलना की है।

बिशप विल्बरफोर्स के इस अनूठे व्याख्यान से उनके प्रशसंक श्रोता अवश्य मंत्रमुग्ध हो गये परन्तु बिशपसाहब यह बात भूल गये थे कि उस दिन उनके कुछ श्रोता विज्ञान के विद्यार्थी और अध्ययनकर्ता भी थे। जब प्रोफेसर हक्सले ने मंच पर आकर बिशप के व्याख्यान में उठाये गये सवालों को सप्रमाण रद्द करना शुरू किया, तब बिशप को महसूस हुआ कि उनका व्याख्यान किसी कस्बे के चर्च में नहीं, बल्कि विद्यादेवी के प्रांगण में था।

इसके बाद तो अनेक विद्वान मंच पर आने लगे और डार्विन के सिद्धांत के पक्ष में अनेक प्रमाण देने लगे। बिशप के व्याख्यान की निरर्थकता धीरे-धीरे उनके प्रशंसक श्रोताओं को भी महसूस होने लगी। सच कहा जाए तो परम्परानुसार प्रोफेसर हक्सले को बिशप प्रत्युत्तर दे सकते थे परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया क्योंकि उन्होंने मूल ग्रन्थ पढ़ा ही नहीं था। अंत में निःशब्द होकर बिशप सभागृह से बाहर निकल गया। उसके पीछे-पीछे काले लबादे वाला पादरी और अन्य अमीर-उमराव भी चुपके से प्रस्थान कर गये। वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित वैज्ञानिक सिद्धांत की धर्मसत्ता के पाखण्ड पर प्राप्त की गई यह इस तरह की पहली विजय थी।

वैज्ञानिक जगत में निरन्तर नई-नई खोजें होती रहती हैं परन्तु पृथ्वी पर रहने वाले जीवजगत की उत्पत्ति सम्बन्धी पारम्परिक-काल्पनिक अवधारणाओं की नींव हिलाकर वस्तुगत वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित इस सिद्धांत का अभूतपूर्व एवं असामान्य महत्व है।

वनस्पति और प्राणियों में जीवित रहने के लिए, प्रजनन के लिए निरन्तर प्रतियोगिता होती रहती है। प्रकृति के साथ चलने वाले इस संघर्ष के दौरान आसपास की विशिष्ट परिस्थिति में टिके रहने लायक गुणधर्म जिस जीवजाति में होते हैं, वे ही जातियाँ इस जीवन-संघर्ष में जिंदा रहती हैं। अर्थात् प्रकृति जीने के लिए उनका चयन करती है -- डार्विन के सिद्धांत का यह मूलाधार है। भोजन जुटाना, शत्रु से बचाव, मौसम के परिवर्तनों को बर्दाश्त करना, प्रजनन,

बच्चों का पालनपोषण करना आदि जैसी अनेक क्रियाएँ किसी भी जीव को जीवित रहने के लिए करनी पड़ती हैं। इन्हीं से जीवन-संघर्ष निर्मित होता है। उन्हें प्रकृति की अनेक शक्तियों से लगातार जूझना पड़ता है। प्रत्येक जीव की न्यूनाधिक क्षमता के अनुसार उसे इस संघर्ष में सफलता मिलती है। यह जीवन-संघर्ष किसी जीव जाति का अन्दरूनी संघर्ष नहीं होता, बल्कि वह प्रकृति एवं अन्य जीवों के साथ होता है - इस महत्वपूर्ण बात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

डार्विन के सिद्धांत की एक और बात भी महत्वपूर्ण है। किसी भी जाति के सभी प्राणी एक-से नहीं होते, उनमें थोड़ा बहुत फर्क होता है, विविधता होती है, शारीरिक शक्ति भी कम-ज्यादा होती है। जिनके गुणधर्म आसपास के वातावरण से सुसंगति रखते हैं, वे समय की धारा में ज्यादा देर टिके रह सकते हैं। इसके विपरीत अन्य जीवों की संख्या कम होकर अन्ततः वे विलुप्त हो जाते हैं। अर्थात् जिन जातियों में विविधता अधिक होती है, उस जाति के परिवर्तनशील परिस्थितियों में भी जीवित रहने की संभावना बढ़ जाती है।

प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया में टिके रहने के लिए जीवजातियों की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक गुणधर्म किस तरह स्थानान्तरित होते हैं, इस सवाल का जवाब उस समय डार्विन के आविष्कार में नहीं मिल पा रहा था। सन् 1856 में वनस्पतियों के संकर प्रजनन पर केन्द्रित अनुसंधान कार्य करने वाले वैज्ञानिक ग्रेगर मेंडल ने, जो आस्ट्रियन धर्मगुरु भी था, डार्विन की इस कमी को दूर किया। आज जिसे हम जीन्स के नाम से जानते हैं, उसके मार्फत ही गुणधर्म अगली पीढ़ी में स्थानान्तरित होते हैं, मेंडेल ने इसे सिद्ध किया था।

वर्तमान में जीवविज्ञान का जैवतकनीकी, जेनेटिक्स या जेनेटिक इंजीनियरिंग की ओर तेजी से होने वाला विकास आश्चर्यचकित कर देने वाला है। डार्विन और मेंडेल के अनुसंधान को आगे बढ़ाने एवं और ज्यादा गहराई में ले जानेवाला आज का अनुसंधान मानवजाति के लिए गर्व का विषय हो सकता है। अब न सिर्फ मनुष्य की उत्पत्ति, बल्कि उसके शरीर की कोशिकाओं में पाये जाने वाले डी.एन.ए. (सजीव कोशिका का महत्वपूर्ण तत्व - डी ऑक्सी रिबो न्यूक्लिक एसिड) में स्थित प्रत्येक जीन किस प्रकार का रसायन बनाने के लिए कौन सी सूचना देता है, आज का वैज्ञानिक इसे खोजने में लगा हुआ है। 'ह्यूमन जेनोम प्रोजेक्ट' से यह लक्ष्य पाना संभव हो सकता है।

मगर ...... इसके अतिरिक्त भी काफी कुछ ऐसा है, जिसकी चर्चा अवश्य करनी होगी। मनुष्य ने अपने आसपास की परिस्थिति अपनी इच्छानुसार बदलने की क्षमता काफी पहले से अर्जित कर ली थी। अब अपनी मर्जी के अनुसार मनुष्य-निर्माण की भी कोशिश चल रही है। चुने हुए गुणधर्म धारण करने वाले मनुष्य लम्बी उम्र वाले हों, यह प्रयास भी जारी है। अपनी प्रत्येक कोशिका में स्थित प्रत्येक जीन के कार्य एवं लक्ष्य का पता लगाकर उसमें इच्छानुसार बदलाव लाकर निर्दोष, नीरोगी और सर्वगुणसम्पन्न मनुष्य 'तैयार' करने की आकांक्षा आज मनुष्य के मन में है।

आनुवांशिकता विज्ञान (जेनेटिक्स) तथा जनुकसंकुलविज्ञान (जेनोमिक्स) के कारण निकट भविष्य में जो नैतिक, कानूनी और सामाजिक समस्याएँ पैदा होंगी, उनपर हमें समय रहते ध्यान देना होगा। रोगों की पहचान, उपचार एवं प्रतिबन्ध - इनके लिए की जाने वाली जेनेटिक जाँच, भविष्य में संभावित बीमारियाँ, विकलांगता आदि से बचने के लिए गर्भावस्था में ही चयन की सुविधा देने के लिए की जाने वाली अनेक जाँच और जननिक हस्तक्षेप (जेनेटिक मैनिपुलेशन) - - इन सब के लिए आवश्यक जननिक जानकारियों का संग्रह तथा इसके लिए आवश्यक तंत्रज्ञान के विकास की दिशा में किये जाने वाले अनुसंधान - - इसका काफ़ी तामझाम होता है। समूचे विश्व में स्वास्थ्य विषयक अनुसंधान पर होनेवाले कुल खर्च का सिर्फ दस प्रतिशत खर्च विश्व के नब्बे प्रतिशत लोगों के स्वास्थ्य पर किया जाता है। ऐसी असंतोषजनक परिस्थिति में नई विज्ञानशाखाओं के क्षेत्र में सामाजिक न्याय और साधन-सम्पत्ति का कुल बँटवारा एक गम्भीर समस्या पैदा कर सकता है।

जन्म के बाद की समस्याओं से निपटने की धुन में मनुष्य में पायी जाने वाली विविधता एवं फर्क का आदरपूर्वक स्वीकार एवं सहन करने की चेतना लुप्त होती जा रही है। इससे भी ज्यादा चिंताजनक बात अनुसंधान के लिए आवश्यक और उपयोगी जननिक तत्वों (जेनेटिक मटेरियल) के मालिकाना-हक सम्बन्धी सवालों की है। इस क्षेत्र में अनुसंधान करने वाली बड़ी संस्थाएँ और कम्पनियाँ ऐसे तत्वों का एकाधिकार (पेटेन्ट) पाने के लिए गलाकाट प्रतियोगिता में लगी हैं। मूल सवाल यह है कि क्या किसी जीव का या जीव के किसी तत्व का पेटेन्ट लेने की अनुमति प्रदान की जानी चाहिये? यदि दी जानी चाहिये तो किस प्रकार के पेटेन्ट के लिए? इससे अनुसंधान कार्य में कौन सी बाधाएँ पैदा होंगी? इन सवालों पर विज्ञान-जगत में गर्मागर्म बहसें चल रही हैं।

एक छोटे से उदाहरण से समस्या की व्याप्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। पापुआ न्यू गिनी (आस्ट्रेलिया के निकट के द्वीपसमूहों में से एक) इस छोटे से देश की पहाड़ियों पर 'हागाहाई' प्रजाति के सिर्फ 260 व्यक्ति हैं। सबसे पहले सन् 1984 में उनका सम्बन्ध बाहरी दुनिया से स्थापित हुआ। इस तरह की दूरस्थ अंचल की छोटी प्रजाति के लोगों का डी.एन.ए.. अनुसंधान के लिए बहुत महत्व रखता है( क्योंकि उनकी अनेक पीढ़ियाँ उस छोटी-सी प्रजाति के दायरे में ही जीती हैं) कुछ अनचीन्हे रोगों की पहचान, उनके उपचार और उनके लिए प्रतिबन्धक टीके तैयार करना - - इस अनुसंधान में दुनिया से पूरी तरह कटी हुई इस तरह की प्रजातियों का डी.एन.ए. काफी मददगार हो सकता है।

14 मार्च 1995 को अमेरिका की राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्था (नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ हेल्थ) ने हागाहाई प्रजाति के मनुष्यों के जननिक तत्वों का पेटेन्ट ले लिया। मूल डी.एन.ए. पर कब्जा कर इस संस्था ने एड्स के लिए जिम्मेदार विषाणुओं पर किये जाने वाले अनुसंधान की पद्धतियों पर भी अपना मालिकाना कब्जा कर लिया है। इस संस्था ने दुनिया के अन्य 19 देशों के मनुष्यों के जेनेटिक पेटेन्ट ले लिये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित 'मानव जनुकसंकुल

वैविध्य प्रकल्प' (ह्यूमन जेनोम डायवर्सिटी प्रोजक्ट) के एक हिस्से के रूप में इसे प्रदर्शित किया जा रहा है। इस तरह अमेरिका के व्यापार-विभाग के माध्यम से अन्य देशों के मानव-जनुकों पर मालिकाना हक स्थापित करने की प्रक्रिया तेजी से चल रही है।

जैवतांत्रिकी के क्षेत्र में बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय कंपनियाँ गेट समझौते के आधार पर दुनियाभर के कृषि-उत्पादों और औषधि-वनस्पतियों के मूल जननिक तत्वों पर मालिकाना हक जमाने के लिए आक्रामक भूमिका अपना रही हैं। ऐसा ही भविष्य शायद मानव-जनुकों का भी हो!

उपयुक्त गुणधर्मवाले जीवजन्तुओं की खोज की ललक दुनिया में कइयों में पैदा हो गई हैं। इसके लिए उष्ण प्रदेशों के जंगलों की ओर कूच किया जा रहा है। वहाँ की स्थानीय संस्कृति में अपनायी जाने वाली परम्परागत कृषि-पद्धति और चिकित्सा पद्धति की खोज की जा रही है। परन्तु इस अनुसंधान कार्य में लगे आज के मनुष्य के लक्ष्य और डार्विन के लक्ष्य में जमीन-आसमान का अन्तर है। आज अनुसंधान कार्य सिर्फ मुनाफा कमाने के उद्देश्य से प्रेरित होकर किया जा रहा है। जैवतांत्रिकी क्षेत्र की केवल मुट्ठी भर बड़ी कम्पनियों के बीच दुनिया के कोने-कोने में बसे जीवजन्तुओं पर अपना मालिकाना कब्जा प्रस्थापित कर अधिक से अधिक मुनाफा कमाने की होड़ लगी है।

मानवजाति में आज भी जीवन-संघर्ष चल रहा है परन्तु यह संघर्ष प्राकृतिक चयन के अनुसार टिकने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि मुनाफाखोर कंपनियों के शोषण से जान बचाने का संघर्ष है। डार्विन के समय में विज्ञान पर धर्मसत्ता की जो पकड़ थी, उसके विरुद्ध डार्विन एवं अन्य वैज्ञानिकों को काफी संघर्ष करना पड़ा था। आज विकसित देशों की कंपनियाँ एवं उनके द्वारा फैलाया गया उपभोक्ता-जाल समूची दुनिया को अपने आर्थिक शिकंजे में कसने के लिए तैयार बैठा है। आज महत्वपूर्ण सवाल यह है कि इस आर्थिक सत्ता के नागपाश से विज्ञान को मुक्त कर, उसका उपयोग समूची मानवजाति के कल्याण के लिए सुलभ कैसे किया जाय? मुनाफाखोरी के स्थान पर मानवजाति के हित में विज्ञान की प्रगति की दिशा कैसे मोड़ी जाए? इसके लिए आज के वैज्ञानिकों को और हम-आप जैसे सामान्य लोगों को इस अर्थसत्ता के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ेगा।

*('मिळून सा-याजणी', अप्रैल 2002 के अंक से साभार)*

जीवनी
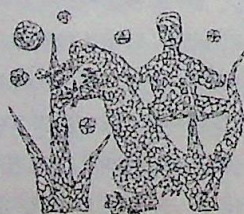
# ऋतु आए ऋतु जाए
## पहला पड़ाव

शरद दत्त

*अनिल विश्वास की शीघ्र प्रकाश्य जीवनी के और कई अंश हम पिछले अंकों में प्रकाशित कर चुके हैं। अंश क्रम से नहीं बीच बीच से हैं। यह उसी सिलसिले का अंश है। क़िताब सारांश प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित होनी है।*

हीरेन बोस ने एक फ़िल्म की कहानी तैयार कर ली थी, जिसे लेकर वे कई दरवाज़े खटखटा चुके थे। अंततः अजंता स्टूडियोज़ के मालिक-निर्माता-निर्देशक के.ए. दरयानी उनका आइडिया सुनने के लिए तैयार हो गए। मिलने का समय था एक दिन दोपहर के बाद। हीरेन बोस चाहते थे कि अनिल विश्वास भी उनके साथ चलें, लेकिन संयोग से अनिल विश्वास को भी उसी दिन प्रकाश स्टूडियोज़ में अपना भाग्य आजमाने जाना था। तय हुआ कि वे दोपहर तक, प्रकाश स्टूडियोज़ में अपना काम निबटाकर, सीधे अजंता स्टूडियोज़ पहुँच जाएँ, हीरेन बोस वहीं उनकी प्रतीक्षा करेंगे।

प्रकाश स्टूडियोज़ में उन दिनों की एक जानी-मानी अभिनेत्री कमलादेवी काम करती थीं। वे बंगाली थीं और कंपनी में उनका काफ़ी रुतबा था। अनिल विश्वास का ख़याल था कि बंगाली होने के नाते वे उनकी मदद करेंगी, उन्हीं के भरोसे वे वहाँ गए थे। लेकिन कमलादेवी ने कहा कि ''अमुक व्यक्ति संगीत का इंचार्ज है। वह भी बंगाली है। उसके पास जाओ।'' अनिल विश्वास उसके पास गए, उससे बात की। ''मगर'', अनिल'दा ने बताया, ''पहली मुलाकात में हीं मुझे उस आदमी से घृणा हो गई। वह संगीत के मामले में शून्य था - न गा सकता था, न बजा सकता था और फिर भी, कमलादेवी का कृपापात्र होने के नाते, संगीत का

इंचार्ज बना हुआ था।''

अनिल विश्वास ने उस व्यक्ति को अपना गाना सुनाया, कई प्रकार के वाद्य बजाकर दिखाये। सब सुन-सुनाकर उसने उन्हें वहीं ठहरने के लिए कहा और बाहर चला गया। थोड़ी देर बाद लौटकर बोला, ''देखो भाई, मैंने सेठ से बात की है। उसका कहना है कि यहाँ तुम्हारे लिए कोई काम नहीं है।''

''मैं ज़्यादा तो नहीं माँग रहा हूँ। सिर्फ़ पचास रुपये की नौकरी दे दो, फ़िलहाल मेरा काम चल जाएगा,'' अपने स्वाभिमान को दरकिनार करते हुए अनिल विश्वास ने कहा।

''मैंने कहा न, कोई काम नहीं है।''

अनिल विश्वास ने लक्ष्य किया कि बोलते समय उस व्यक्ति की ज़बान लड़खड़ा रही थी और मुँह से दारू की तेज़ गंध के भभके निकल रहे थे। ज़ाहिर था कि वह सेठ से बात करने नहीं बल्कि दारू पीने के लिए बाहर गया था। उसे इस हालत में देखकर अनिल विश्वास ने आगे कोई बात करना मुनासिब नहीं समझा और वे चलने के लिए उठ खड़े हुए। लेकिन दरवाज़ा पार करते-न-करते उन्होंने सुना, कोई कह रहा था, ''तुमने इतने अच्छे लड़के को काम क्यों नहीं दिया?''

चलते-चलते अनिल विश्वास के क़दम रुक गये और वे कान लगाकर सुनने लगे। नशे की झोंक में वह व्यक्ति सच बोल गया। उसका जवाब था, ''यार, तू समझता क्यों नहीं है! इस साले को मैं रख लेता, तो कल यही मेरी पीठ पर लात मारकर मुझे बाहर निकाल सकता था।''

यह सुनते ही अनिल विश्वास के बदन में आग लग गई। लेकिन वे कर भी क्या सकते थे! हर अयोग्य व्यक्ति के मन में असुरक्षा की भावना रहती है और वह अपने भविष्य की रक्षा के लिए ऐसी टुच्ची हरकतें करता है। उन्हें याद आया, कलकत्ते की मेगाफ़ोन कंपनी में वे ऐसे ही एक व्यक्ति की कुंठाओं का शिकार हुए थे और यहाँ भी उनके साथ ठीक वैसा ही हुआ। 'आखिर यह सब क्या है?' उन्होंने अस्फुट स्वर में अपने-आपसे ही कहा, 'साले को आता-जाता कुछ नहीं और बनता है तीसमारख़ाँ! अरे, मैंने इतना कुछ सुनाया और वह मुझे चालीस-पचास रुपये की नौकरी नहीं दे सका।'

अनिल विश्वास जितना सोचते रहे, उतना ही उनका मन कड़ुवाहट से भरता गया। उन्हें अकेले उस व्यक्ति से नहीं बल्कि पूरे प्रकाश स्टूडियोज़ से नफ़रत हो गई और आवेश में उन्होंने आगे कभी इस स्टूडियो में काम न करने की क़सम खा ली। फ़िल्मी दुनिया में जब संगीत-निर्देशक की हैसियत से उनका नाम होने लगा, तो एक बार विजय भट्ट काम का ऑफ़र लेकर उनके पास आए। लेकिन उन्होंने यह कहकर साफ़ इन्कार कर दिया कि ''मैं आपके साथ काम करना पसंद करता, पर मैं अपनी प्रतिज्ञा से बँधा हुआ हूँ। मुझे माफ़ करें। अलबत्ता मैं पन्ना बाबू (सुप्रसिद्ध बाँसुरीवादक पन्नालाल घोष) को आपके पास भेज दूँगा। वे आपका काम करेंगे। यथाशक्ति मैं उनकी सहायता कर दूँगा, जिस तरह 'बसंत' में की थी।''

'बसंत' फिल्म का निर्माण बांबे टॉकीज़ ने किया था, जिसके संगीत-निर्देशक के रूप पन्नालाल घोष का नाम था, किंतु सब जानते थे कि संगीत-रचना वस्तुतः अनिल विश्वास ने की थी। पन्ना बाबू ने सिर्फ़ उसका आर्केस्ट्रेशन तथा पार्श्व संगीत तैयार किया था।

प्रकाश स्टूडियोज़ से निकलकर अनिल विश्वास को अजंता स्टूडियोज़ में जाना था। अजंता स्टूडियोज़ यानी ईस्टर्न आर्ट प्रोडक्शंस। कंपनी का नाम यही था, मगर लोग उसे अजंता के नाम से ज़्यादा जानते थे।

दोपहर हो चुकी थी और सुबह मामूली-सा नाश्ता करके निकले अनिल विश्वास भूख से व्याकुल हो रहे थे। मगर उनकी जेब में इतने पैसे नहीं थे कि कुछ खा-पी सकें। उनके पास तो लोकल ट्रेन या बस का टिकट ख़रीदने के लिए भी पर्याप्त पैसे नहीं थे। लिहाज़ा वे भूखे-प्यासे पैदल ही चल पड़े। गिरते-पड़ते लगभग दो मील का फ़ासला तय करके ईस्टर्न आर्ट पहुँचे, तो गेट पर तैनात दरबान ने उन्हें अंदर जाने से रोक दिया।

''किधर जाने का है? किससे मिलने का है?'' करख़्त आवाज़ में उसने पूछा।

एक बार तो अनिल विश्वास को लगा कि वे अपना आपा खो बैंठेगे, मगर दूसरे ही पल उन्होंने सोचा कि यहाँ भी झगड़ा कर लिया और मारपीट हो गई, तो ख़ामख़्वाह बनती बात बिगड़ जाएगी। यही सोचकर वे अपने स्वभाव के विपरीत अत्यंत विनम्र स्वर में बोले, ''देखो भाई, मैं यहाँ किसी को नहीं जानता। मगर मेरे एक साथी हैं मिस्टर हीरेन बोस। वे यहाँ आए हैं अपनी स्टोरी सुनाने। उन्हीं से मिलना है।''

''किधर बैठा है वो? मालूम है?''

''पता नहीं। तुम किसी से पूछ लो। मेहरबानी होगी।''

बंदे की आवाज़ करख़्त जरूर थी, लेकिन था वह रहमदिल। उसने एक बार अनिल विश्वास को सिर से पैर तक देखा और फिर यह कहकर कि 'तुम यहीं ठहरो, मैं पता लगाता हूँ', अंदर चला गया। लौटकर आया, तो बोला, ''तुम्हारा साहब है उधर, हमारा साहब से बात करता है। चलो, आओ मेरे साथ।''

अनिल विश्वास ने राहत की साँस ली और वे दरबान के साथ हो लिए।

''वह ऊपर म्यूज़िक रूम है। इधर से चले जाओ। साहब लोग वहीं मिलेंगे,'' दरबान एक लकड़ी की सीढ़ी दिखाते हुए बोला।

अनिल विश्वास ने सीढ़ी पर क़दम रखा, तो उन्हें ऐसा महसूस हुआ कि या तो वे गिर पड़ेंगे या सीढ़ी गिर पड़ेगी। जैसे-तैसे करके ऊपर पहुँचे, तो हीरेन बोस देखते ही चहक उठे, ''लो अनिल आ गया।'' फिर दरवाज़े पर ही ठिठके रह गए अनिल विश्वास को पुकारकर बोले, ''वहाँ क्यों खड़े हो, अनिल? अंदर आओ!''

अनिल विश्वास ने अंदर क़दम रखा ही था कि हीरेन बोस ने तपाक से कहा, ''वो क्या गाना बनाया था हमने? मैं भूल रहा हूँ। तुम गाकर सुना दो।''

अब सीधे ऑर्गन पर बैठने के सिवाय अनिल विश्वास के पास कोई चारा नहीं था।

बैठे और गाना शुरू किया: ''घनश्याम भज मन बारंबार...!'' अभी स्थायी पर ही थे कि गला रुँध गया और आँखों से आँसू बहने लगे। फिर भी वे गाते रहे और रोते रहे। अंत में ऑर्गन पर सिर टिकाकर निढाल हो गए।

अनिल विश्वास रोए थे भूख से क्लांत होकर, यह सोचकर कि कैसे लोग हैं दुनिया में! मैं आया, तो इनमें से किसी ने भी मुझे बैठने के लिए नहीं कहा। खाने के लिए तो क्या कहते, पानी तक के लिए नहीं पूछा। ऊपर से मेरी शक्ल देखते ही फ़रमान जारी कर दिया : गाना सुनाओ।

मगर के.एस.दरयानी पर अनिल विश्वास के रोने का दूसरा ही असर हुआ। उन्होंने सोचा कि लड़का बहुत भावुक है। गाते-गाते कैसा तल्लीन हो गया! और इसके स्वर में कैसी कसक है, कैसा माधुर्य है!

अनिल विश्वास अब तक उसी मनःस्थिति में थे। दरयानी साहब ने उन्हें पीठ थपथपाकर दिलासा दिया और हीरेन बोस को संबोधित कर बोले, ''क्या रतन लाया है मेरे भाई! तुम्हारी स्टोरी तो हम देख लेंगे, मगर यह लड़का कल से ईस्टर्न आर्ट के लिए काम करेगा। तनख्वाह ढाई सौ रुपया महीना।''

''और इसके साथ जो म्यूज़िशियंस हैं?''

''उन्हें भी ले आओ। सबको बुला लो।'' इस वक़्त दरयानी साहब पूरी तरह दिल-दरिया हो रहे थे।

म्यूज़िक रूम के अंदर मौजूद लोगों में उस समय के मशहूर कॉमेडियन गोप कमलानी भी थे। वे अनिल विश्वास के साथ ही नीचे उतरे। कुछ दूर तक चुपचाप चलते रहे, फिर बोले, ''बहुत अच्छा गाते हो, भाई! तुम्हारा नाम क्या है?''

''अनिल विश्वास।''

गोप साहब एकदम बेतकल्लुफ़ हो गए। बोले, ''ये बहुत लंबा-चौड़ा है। मैं तुम्हें विशु बुलाऊँ तो चलेगा?''

अनिल विश्वास भी वैसे ही बेतकल्लुफ़ हो गए, ''चलेगा नहीं, दौड़ेगा!''

''खाना खाया?''

गोप के सवाल में छिपी आत्मीयता अनिल विश्वास को छू गई। निस्संकोच भाव से उन्होंने कहा, ''नहीं।''

''तो आओ मेरे साथ!'' कहकर गोप उन्हें कैंटीन में ले गए और उनके लिए चार बैदे का ऑमलेट - बंबई में अंडे को बैदा कहते हैं - तथा चार टोस्ट मँगवाए। रात का खाना भी गोप ने उन्हें अपने साथ ही खिलाया और स्वयं अनिल'दा के शब्दों में, ''यह खाना उस भोजन से कम स्वादिष्ट नहीं था, जो मैंने कलकत्ते की अपनी पहली महफ़िल में रायबहादुर अघोरनाथ अधिकारी के घर पर खाया था।''

अनिल विश्वास मन-ही-मन तुलना करने लगे - कहाँ पुराने साथी हीरेन बोस और

कहाँ एक दिन के परिचित गोप कमलानी!

स्टूडियो में सिंधियों का जमावड़ा था। दरयानी साहब ख़ुद सिंधी थे और उन्होंने सिंधी स्टेज पर काम करने वाले काफ़ी लोगों को स्टूडियो में बुला लिया था। उनमें एक थे हरी शिवदासानी, लगभग दो दशक पहले की सुपरिचित हीरोइन बबिता के पिता, जो विलेन के रोल करते थे। एक चाचा चंदीराम थे, स्टूडियो के मैनेजर। इनके बेटे बुलो सी. रानी ने संगीत-निर्देशक के रूप में नाम कमाया था। अनिल'दा के कथनानुसार, ''चाचा चंदीराम को आता-वाता कुछ नहीं था, मगर अपने-आपको बहुत बड़ा संगीतकार समझते थे।'' गोप तो वहाँ थे ही, के.पी.साहनी नाम के एक और सज्जन थे। ये गायक नहीं थे मगर लोकगीतों के जानकार थे। इनसे अनिल विश्वास ने काफ़ी चीज़ें सीखीं। फिर, कमर भगत नाम के एक संत-गायक थे, गुणी और सहृदय व्यक्ति। अनिल विश्वास को बहुत चाहने लगे थे। अनिल'दा स्वीकार करते हैं, ''इन्होंने मुझे संगीत के कई ऐसे रूपों से परिचित कराया, जो आगे चलकर मेरे लिए बहुत काम के साबित हुए।''

सिंधियों की इस मंडली में अनिल विश्वास घुल-मिल सकें, इसके लिए ज़रूरी था सिंधी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना और उन्हें सिंधी सिखाने का बीड़ा उठाया गोप कमलानी ने। उन्होंने अनिल विश्वास को एक दिन सिंधी पढ़ाई और दूसरे दिन दोस्तों के बीच ऐलान कर दिया कि इस साले के साथ सिंधी में बात करो, यह समझे या नहीं समझे। अगर यह नहीं समझता, तो बेशक हिंदी में समझा दो, मगर बात करो सिंधी में ही। इसके कान में सिंधी पड़नी चाहिए।

मगर गोप का यह ख़याल भी था कि बातचीत में बोली गई सिंधी का मन पर उतना प्रभाव नहीं होगा, जितना सिंधी गानों का हो सकता है। तो, उन्होंने अनिल विश्वास को सिंधी गाने सुनाने शुरू किए और वे भी निहायत अश्लील क़िस्म के। ''ये अश्लील गाने क्यों?'' - अनिल विश्वास ने सवाल किया, तो गोप का सीधा जवाब था, ''देखो बिरादर, तुम जानते हो कि गाने का असर ज़्यादा गहरा और देर तक टिकनेवाला होता है। और फिर, ये जो वल्गर गाने मैं तुम्हें सुना रहा हूँ, इन्हें तुम किसी सूरत में नहीं भूल सकोगे।''

गोप कमलानी का भाषा सिखाने का यह तरीक़ा अचूक साबित हुआ और अनिल विश्वास थोड़े ही समय में सिंधी समझने-बोलने लगे।

जब अनिल विश्वास ने ईस्टर्न आर्ट में काम शुरू किया, उस समय वहाँ 'भारत की बेटी' नाम की एक फ़िल्म बन रही थी, जिसके निर्देशक प्रेमांकुर आतर्थी और संगीतकार झंडे ख़ाँ नाम के एक पंजाबी सज्जन थे। इन्हें 'चित्रलेखा' के संगीत-निर्देशक उस्ताद झंडे ख़ाँ समझने की ग़लती नहीं करनी चाहिए। दोनों में केवल नाम का ही साम्य था, बाक़ी कुछ नहीं।

जहाँ तक प्रेमांकुर आतर्थी का सवाल है, वे बांग्ला के बहुत अच्छे लेखक और फ़िल्म निर्देशक थे। उनकी पुस्तकों में 'महास्थविर जातक' शीर्षक से चार खंडों में प्रकाशित आत्मकथात्मक उपन्यास बहुचर्चित रहा और बाल-मनोविज्ञान पर भी वे कई पुस्तकें लिख चुके

थे। साथ ही कलकत्ता, बंबई तथा कोल्हापुर में कई उत्कृष्ट फ़िल्मों का निर्देशन भी उन्होंने किया था। मगर संगीत-निर्देशक की हैसियत से झंडे ख़ाँ का कोई ख़ास नाम नहीं था। ''म्यूज़िक भी उन्होंने - '' अनिल'दा के शब्दों में, ''भगवान जाने क्या दिया था।'' यानी सामान्य कोटि का संगीत और वह भी उनके बीमार पड़ जाने से अधूरा रह गया। दो गानों की संगीत रचना और पार्श्व संगीत का काम वे नहीं कर पाए थे, जिसे पूरा करने की ज़िम्मेदारी दरयानी साहब के आग्रह पर हीरेन बोस ने सँभाली। पार्श्व संगीत उन्होंने ख़ुद तैयार किया और दोनों गानों की संगीत-रचना अनिल विश्वास से कराई। इनमें एक भजन था - ''तेरे पूजन को भगवान, बना मन-मंदिर आलीशान', जिसकी धुन लोगों के मन में ऐसी बसी कि उसके सामने और सब धुनें फीकी पड़ गईं। दूसरा गाना आदिवासी के किरदार में गोप के ऊपर फ़िल्माया गया था, जो एक समूह-गान में भागीदारी कर रहा है। गीत के बोल थे - 'छनन छनन छनकारी मारै ऐ भँवरा, छनन छनन छनकारी मारै।'

हीरेन बोस को इस काम के 750 रुपए मिले। उन्होंने यह पूरा पैसा अपने पास रखा, अनिल विश्वास को कुछ नहीं दिया, जबकि दो गानों की संगीत-रचना उनसे कराई गई थी।

ईस्टर्न आर्ट में हीरेन बोस के निर्देशन में पहली फ़िल्म बनी 'धर्म की देवी', जिसकी संगीत-रचना का दायित्व अनिल विश्वास को सौंपा गया। गीत गौरीशंकर लाल 'अख़्तर' ने लिखे थे, जो कंपनी के स्थायी गीतकार थे। मुख्य भूमिकाएँ कुमार और सरदार अख़्तर की थीं। कुमार न्यू थिएटर्स, कलकत्ता, की मशहूर फिल्म 'पूरन भगत' की मुख्य भूमिका में काम करके अपने अभिनय की धाक जमा चुके थे, जबकि सरदार अख़्तर का नाम सामान्य अभिनेत्रियों की श्रेणी में शुमार था। उन्हें ख्याति पाँच वर्ष बाद महबूब ख़ाँ के निर्देशन में बनी कालजयी फ़िल्म 'औरत' की नायिका के रूप में मिली और उसी फ़िल्म के बाद वे महबूब ख़ाँ की ज़िंदगी में उनकी दूसरी बीवी के रूप में दाख़िल हुईं।

'धर्म की देवी' के सहायक कलाकारों के प्रमुख थे गोप तथा रफ़ीक़ ग़ज़नवी। रफ़ीक़ ग़ज़नवी मुख्यतः संगीतकार थे। नेशनल स्टूडियोज़ बंद होने के बाद महबूब ख़ाँ ने अपनी स्वतंत्र कंपनी 'महबूब प्रोडक्शंस' की शुरुआत की, तो उसके अंतर्गत महबूब के निर्देशन में बनी पहली दो फ़िल्मों - 'नजमा' और 'तक़दीर' में संगीत रफ़ीक़ ग़ज़नवी का ही था। मिनर्वा मूवीटोन की सोहराब मोदी के निर्देशन में निर्मित मशहूर फ़िल्म 'पृथ्वीवल्लभ' की संगीत-रचना रफ़ीक़ ग़ज़नवी ने ही की थी। बीच-बीच में वे कुछ गाने स्वयं भी गाते थे।

अनिल विश्वास ने भी इस फ़िल्म में एक फ़क़ीर की भूमिका अदा की थी। बरिसाल के दिनों से उन्हें ऐसी भूमिकाएँ बहुत प्रिय थीं। वहाँ कालिज के और फिर कलकत्ता आने के बाद रंगमहल थिएटर के कई नाटकों में उन्होंने अपने अभिनय तथा गायन से ऐसी भूमिकाओं को जीवंत बनाया था। इस संदर्भ में रंगमहल थिएटर का 'पतिव्रता' नाटक स्मरणीय है, जिसकी विस्तृत चर्चा पिछले अध्याय में की गई है। सन् 1940 में महबूब के निर्देशन में बनी फ़िल्म 'औरत' में भी उनकी ऐसी ही भूमिका थी, जिसमें उन्होंने फ़िल्म का एक अत्यंत

लोकप्रिय तथा महत्त्वपूर्ण गीत गाया था - 'काहे करता देर बराती, जाना है तोहे पी की नगरिया'। 'धर्म की देवी' में उन्होंने तीन गीत गाए - 'कुछ भी नहीं भरोसा, दुनिया है आनी-जानी/पानी का बुलबुला है इनसाँ की ज़िंदगानी', 'क्षमा करो तुम क्षमा करो, यह कहकर सब चिल्लाते हैं', और 'कर हाल पे अपने रहम ज़रा, कुदरत को तू यों नाशाद न कर'। पहला गाना - 'कुछ भी नहीं भरोसा' - अनिल विश्वास ने एक सिंधी लोकगीत की धुन पर बनाया था। यह बंबई में उनके फ़िल्मी कैरियर का पहला गाना था, और आख़िरी गाना 1965 में मोतीलाल के निर्देशन में बनी फ़िल्म छोटी-छोटी बातें का था - 'अंधी दुनिया, मतलब की दुनिया, हाय रे दुनिया / दिल का करे न कोई मोल, प्यारे अंधी है दुनिया।' मन्ना डे और साथियों द्वारा गाए गए इस गाने की धुन भी अनिल विश्वास ने एक सिंधी गाने की तर्ज पर ही बनाई थी। इस प्रकार, स्वयं अनिल'दा के शब्दों में, ''मेरा पूरा फ़िल्म संगीत जैसे दो सिंधी गानों के बीच सैंडविच बन गया था।''

'धर्म की देवी' में 'कुछ भी नहीं भरोसा' को अनिल विश्वास ने अंधे भिखारी के रूप में सड़क पर चलते हुए गाया था। पार्श्व गायन की सुविधा के अभाव में और आउटडोर शूटिंग होने के कारण इसकी रिकार्डिंग एक समस्या थी, जिसे हल करने के लिए तबलावादक तथा हारमोनियम मास्टर को एक ट्राली पर बैठाया गया, जो अनिल विश्वास के साथ-साथ चल रही थी, माइक्रोफोन सँभाले एक आदमी और दूसरे म्यूज़ीशियंस पीछे चल रहे थे। एक ट्राली पर कैमरा तथा रिकार्डिंग मशीन थी। सड़क पर गाने की रिकार्डिंग लोगों की आवाजाही तथा शोरगुल के कारण दिन में नहीं हो सकती थी, इसलिए रात में तीन बजे शूटिंग शुरू की गई थी। गाना लगभग समाप्ति की ओर था तभी बारिश शुरू हो गई। रात के अँधेरे में दिखाई नहीं दिया कि सामने गड्ढा है और अनिल विश्वास, उनका हाथ पकड़कर चलने वाला छोटा लड़का तथा हारमोनियम-तबले की ट्राली - सब उस पानी से भरे गड्ढे में गिर गए। चोट तो किसी को कोई खास नहीं लगी, लेकिन पूरी टीम कुछ समय के लिए दहशतज़दा हो गई। फिर पूरे गाने की रिकार्डिंग नए सिरे से की गई।

फ़िल्म के निर्देशक हीरेन बोस हीरो-हिरोइन पर एक युगल-गान फ़िल्माना चाहते थे, लेकिन समस्या यह थी कि कुमार गाना नहीं जानता था और सरदार अख़्तर भी, अनिल'दा के कथनानुसार, बहुत अच्छी गाने वाली नहीं थी। अनिल विश्वास ने अपनी मुश्किल हीरेन बोस को बताई, लेकिन हीरेन बोस ने कहा कि कुछ भी करो, मैं युगल-गान चाहता हूँ। बहरहाल, अनिल विश्वास ने दिमाग दौड़ाया और कैमरामैन गोवर्धन भाई पटेल को बुलाकर कहा कि तीन कैमरों की व्यवस्था करो, टॉप-शॉट लेना है। टॉप-शॉट आम तौर पर डांस सीक्वेंस का लिया जाता था, घेरा बनाकर नाचती हुई लड़कियों का, जो टॉप-शॉट में खिले हुए कमल-जैसी दिखाई देती थीं।

गोवर्धन भाई पटेल गुणी कैमरामैन थे और ट्रिक-फोटोग्राफी के माहिर। उन्होंने देखा कि लड़कियाँ तो हैं नहीं, फिर टॉप-शॉट किसलिए? अनिल विश्वास ने उन्हें समझा दिया कि

गाना कुमार के पीछे बैठकर मैं गाऊँगा, एक कैमरा कुमार के ऊपर और दूसरा सरदार अख़्तर के ऊपर केंद्रित रहेगा। तीसरा कैमरा टॉप-शॉट लेगा जब कुमार यानी मैं गाऊँगा, तो कैमरा सरदार अख़्तर की प्रतिक्रियाओं को प्रदर्शित करेगा, कुमार उसमें दिखाई नहीं देगा, और जब सरदार अख़्तर गाएगी, तो कैमरा कुमार की प्रतिक्रियाओं को प्रदर्शित करेगा, सरदार अख़्तर उसमें नहीं होगी, और दोनों एक साथ गाएँगे तो दृश्य टॉप-शॉट में चला जाएगा। टॉप-शॉट में होने से दोनों दिखाई तो देंगे, लेकिन यह पता नहीं लगेगा कि गाना कौन गा रहा है। इस तरह युगल-गान की रिकार्डिंग की गई।

यह एक तरह से पार्श्व-गायन का प्रारंभिक प्रयोग था, जो अनिल विश्वास ने बंबई पहुँचने के बाद अपनी पहली पिक्चर में ही किया। उस समय उनकी आयु केवल 22 वर्ष की थी। लेकिन अकेले अनिल विश्वास यह प्रयोग नहीं कर रहे थे। ''अजब संयोग था,'' अनिल 'दा बताते हैं, ''कि दरयानी प्रोडक्शंस में जिस समय मैंने यह तरीका अपनाया, लगभग उसी समय बॉम्बे टाकीज़ में सरस्वती देवी और न्यू थिएटर्स, कलकत्ता, में पंकज मलिक तथा नितिन बोस भी ऐसे प्रयोग कर रहे थे। इस तरह, कहा जा सकता है कि, पार्श्व-गायन का प्रयोग तीन जगहों पर एक साथ शुरू किया गया, मगर न्यू थिएटर्स के पास तकनीक बेहतर थी, इसलिए वहाँ पार्श्व-गायन बहुत जल्दी प्रोफ़ेशनल स्तर पर आ गया।''

'धर्म की देवी' का पोस्टर बनने लगा, तो उस पर हीरेन बोस ने संगीत निर्देशक के रूप में अपना नाम दिलवाया और अनिल विश्वास का सहायक के रूप में। किशन दरयानी यह देखकर भड़क गए, ''नहीं, यह ठीक नहीं है। यह तो सरासर नाइंसाफ़ी है।''

''वह कैसे?'' हीरेन बोस ने सब कुछ समझते हुए भी सवाल किया।

''अब यह बात भी मुझे समझानी पड़ेगी? मैंने देखा है, स्टूडियो के हर आदमी ने देखा है, कि इस लड़के ने पिक्चर का म्यूज़िक तैयार करने में कितनी मेहनत की है। पूरा म्यूज़िक इसने बनाया और उसका श्रेय आप हड़प लेना चाहते हैं? मेरी पिक्चर में यह नहीं चलेगा!''

हीरेन बोस निरुत्तर हो गए। किशन दरयानी ने फिर कहा, ''अगर आप अपना नाम देना ही चाहते हैं, तो संगीत निरीक्षक के रूप में दे सकते हैं।'' अंततः पोस्टर पर अनिल विश्वास का नाम संगीत निर्देशक रूप में दिया गया और उसके नीचे छोटे अक्षरों में लिखा गया था – संगीत निरीक्षक : हीरेन बोस।

अनिल विश्वास अपनी पहली फ़िल्म के साथ ही संगीत निर्देशक बन गए।

पहली तनख़्वाह मिली तो अनिल विश्वास ने अपने लिए एक कोट बनवाया। इससे पहले कभी उन्होंने कोट नहीं पहना था। कैमरामैन गोवर्धन भाई ने उन्हें नए कोट में देखा, तो बहुत ख़ुश हुआ और उसी समय अपना कैमरा निकालकर उसने उनकी फ़ोटो खींच ली। ''जीवन में यह मेरी पहली फ़ोटो खींची गई थी,'' अनिल 'दा बताते हैं, ''और कई दिन तक मैं स्वयं ही स्वयं को देखता रहा था।''

# कविताएँ
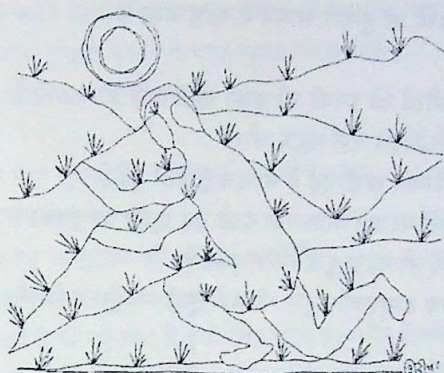
विष्णु खरे

## शिविर में शिशु

एक चादर पर पंद्रह शिशु लेटाए गए हैं
वे उन पैंतालीस में से हैं
जो दंगों के बाद के इन कुछ हफ़्तों में
एक राहत शिविर में पैदा हुए हैं

पिछले कई बरसों से तुम जली हुई
फ़र्श पर गिरी या रखी हुई लाशों की तस्वीरें ही देखते आए हो
इधर लगभग हर हफ़्ते देखते हो
और हालात ऐसे हैं कि उनकी तादाद और भयावहता इतनी बढ़ जाएँ
कि उनके फ़ोटो न लिए जा सकें
और उनमें शायद इस तस्वीर के अनाम छायाकार के साथ-साथ
तुम सरीखे देखने वाले की लाशें भी हों

तस्वीरें और भी हैं
मसलन सिर से पैर तक जली हुई बच्ची की
जिसकी दो सहमी हुई आँखें ही दिख रही हैं पट्टियों के बीच से

अपने घर के मलबे में बैठी शून्य में तकतीं माँ-बेटी की
जान बचा लेने की भीख माँगते घिरे हुए लोगों की

लेकिन अभी तो तुम्हारे सामने ये पंद्रह बच्चे हैं

और ये औरतें जो इनकी माँ बुआ नानी दादी हो सकती हैं
या कोई रिश्तेदार नहीं महज़ औरतें
जो इन्हें घेरकर खड़ी हुई हैं या उकड़ूँ बैठी हुई हैं
इनके चेहरों पर वह कोमलता देखो वह ख़ुशी वह हल्का-सा गर्व
और उसमें जो गहरा दुख मिला हुआ है
उसके साथ तमाशबीन तुम भी वह ख़ुशी महसूस करो और थर्रा जाओ

देखो वे सारे शिशु कितने खिले हुए हैं वे मुस्करा रहे हैं
उन औरतों को सिर्फ़ देखकर या पहचान कर
या उनके प्यार-भरे सम्बोधन सुनकर
नन्हें हाथ कुछ उठे हुए छोटे-छोटे पाँव कुछ मुड़े हुए
साफ़ है वे गोदी में आना चाहते हैं

उन्हें पता नहीं है जिस घर और कुनबे के वे हैं
उनके साथ क्या हुआ है
और तुम कह नहीं सकते कि उनके पिता ज़िंदा ही हों
या घर के दूसरे मर्द
या कि उन्हें जनम देने के बाद उनकी माँएँ भी बचीं या नहीं

चूँकि ये एक मुस्लिम राहत शिविर में पैदा हुए हैं
इसीलिए इन्हें मुसलमान शिशु कहा जा सकता है
वर्ना इस फ़ोटो से पता नहीं चल पा रहा है
कि ये किसकी संतान हैं
28 फ़रवरी को ऐसा फ़ोटो यदि गोधरा स्टेशन पर लिया जा सकता
तो ये हिंदू माने जाते
क्योंकि इन औरतों के चेहरों और पहनावे से
हिंदू-मुसलमान की शनाख़्त नहीं हो पा रही है

इस देश में ऐसी तस्वीरों की क़िल्लत कभी नहीं होगी
जो तुम्हारा कलेजा चाक़ कर दें
शर्मिंदा और ज़र्द कर दें तुम्हें
तुम्हारे सोचने कहने महसूस करने की व्यर्थता का एहसास दिलाती रहें
लेकिन फ़िलहाल तुम्हारे सामने ये पंद्रह मुस्कराते बच्चे हैं
जो तुम्हें इस क़दर लाचार कर रहे हैं

तुम क्यों इस तरह ख़ुश और विचलित हो उन्हें देखकर
क्या इसलिए कि वे तुम्हें
ख़ुद अपने बच्चों के छुटपन की तस्वीर लगते हैं
या स्वयं तुम्हारी पहली फ़ोटो की तरह
जिसमें तुम अपनी माँ की गोद में इसी तरह थोड़े हाथ-पैर हिला बैठे थे
या कि एक बार फिर उन घिसी-पिटी उक्तियों के मुताबिक़ सोचकर
कि बच्चों के कोई धर्म सम्प्रदाय जाति वर्ग भाषा संस्कृति नहीं होते
लेकिन तुमने यह भी सोचा कि जिन्होंने गोधरा में जलाया और अहमदाबाद में
यदि उनकी भी बचपन या पालने की तस्वीर देखोगे
तो वे भी इतने ही प्यारे लगेंगे और मार्मिक
और कितना विचित्र चमत्कार लगता है तुम्हें
कि राहत शिविर में भी इतने और ऐसे बच्चे जन्म ले सकते हैं
निहत्थे और मासूम
और ये ऐसे पहले शिशु नहीं हैं
इनसे भी कठिन और अमानवीय हालत में
औरतें और मर्दों को बनाया है बच्चों ने माँ-बाप
बहुत सारी समस्याएँ पैदा करते आए हैं बच्चे
जो बड़े हुए हैं और भी कहर बरपा करते हुए
लेकिन इंसानियत भी तभी रहती आ पाई है

इस तस्वीर के इन पन्द्रह बच्चों में लेकिन ऐसा क्या है
कि लगता है दीवानावार पहुँच जाऊँ इनके पास
कोई ऐसी अगली गाड़ी पकड़कर जिसे जलाए जाने की कोई वजह न हो
इनकी माँओं के सामने चुप खड़ा रहूँ गुनहगार
गांधारी के सामने किसी नखजले विजेता के हिमायती की तरह
या ले जाऊँ इन बच्चों को उठाकर सौंप दूँ हिंदुओं को

और बदले में ऐसे ही बच्चे हिंदुओं के बाँट दूँ इनमें
या ऐसे तमाम बच्चों को गड्डमड्ड कर दूँ
और बुलाऊँ लोगों को उनमें हिंदू-मुसलमान पहचानने के लिए
लेकिन ऐसी भावुक असंभव ख़तरनाक़ हरकतें बहुत सोची गई हैं
और उससे बहुत हो नहीं पाया है
लेकिन क्या करूँ कैसे बचाऊँ इन शिशुओं को
किसी जलते हुए डिब्बे फुँकते हुए घर धधकते हुए मुहल्ले में
पाई जाने वाली अगली झुलसी हुई लाशें बनने से
जिनके हाथ-पाँव इन्हीं की तरह मुड़े हुए होते हैं
मानो उठा लेने को कह रहे हों या दुआ माँग रहे हों

क्या इन बच्चों से कहूँ और किस मुँह से
कि बच्चों बड़े होकर उस वहशियत से बचो
जो हममें हैं बचो हमारी नफ़रतों हमारे बुग़्ज़ हमारी जहालतों से बचो
गर तुम्हें नफ़रत करनी ही है तो हम जैसों से करो
और उस सबसे जिसने हमें ऐसा बना डाला है
तुम्हें इंतक़ाम लेना ही है तो हम सरीखों से लो
जिनसे तुम जैसे कितने बचाए नहीं जा सके

लेकिन यह सब क्या पहले नहीं कहा जा चुका है

फिर भी फिर भी यह हर बार कहा और किया जाना ही चाहिए
इन बच्चों को सिर्फ़ बचाना ही ज़रूरी नहीं है
वह ख़ुशी कैसे बचे वह मुस्कान कैसे
जो अभी फ़क़त अपने आसपास महज़ इन्सानों को देखकर इन चेहरों पर है
और नामुमकिन उम्मीदें जगाती हैं
कितना भी तार-तार क्यों न लगे यह
लेकिन हाँ ये उम्मीद हैं हमारे भविष्य जैसी किसी चीज़ की
हाँ इन्हें देखकर फिर वह पस्त जज़्बा उभरता है आदमी को बचाने का
हाँ ये यकीन दिलाते-से लगते हैं कि इन्हें देखकर जो ममता जागती है
आख़िरकार शायद वही बचा पाएगी इन्हें और हमें
हाँ सब बताया जाए इन्हें क्योंकि वैसे भी ये उसे जान लेंगे
यह उनपर छोड़ दिया जाए कि वे क्या तय करते हैं फिर

लेकिन ये जो अभी नहीं जानते कि वे क्या-किस से बच पाए हैं
उन्हें किसी क़दर बचाएँ क्योंकि एक दिन शायद इन्हीं में से कुछ बचाएँगे
अपनों को हम जैसों को और उस सबको जो बचाने लायक हो
और शायद बनाएँगे वह
जो जला दिया जाता है मिटा दिया जाता है फिर भी बार-बार बनता है
हर हाल में जनमता हुआ

## अमीन

जब गर्दन के रोएँ खड़े हो जाते हैं
रीढ़ में एक झुरझुरी दौड़ने लगती है
दिमाग़ में कुछ साँय-साँय होती है
तो समझ जाता हूँ
वह आकर मेरे पीछे प्रतीक्षा में ठहरा हुआ है अधीर
करोड़ों का दारुण जीवात्मन् किसी प्रचंड देव या आसेब की तरह
मुड़कर देखने की हिम्मत नहीं सलाख़ जैसी उसकी जलती निगाह में
उसका घोर स्वर पूछता है तक़ाज़े में
इस काग़ज़ के टुकड़े का क्या कर रहे हो
क्या इस्तेमाल कर रहे हो इस सियाही का
क्या कहती है तुम्हारी समझ आज
बस इन्हीं के लायक़ रहे हो तुम
तो क्या किया तुमने इस पूरे दिन
कुछ हुआ मेरा हिसाब या नहीं
काग़ज़ सियाही और समझ कहते समय
उसके लहज़े में जो कुछ है
उससे फिर अपराधी और शर्मिंदा हो जाता हूँ
उसके विकराल चेहरे की तरफ़ देख नहीं सकता
उसे मेरे पीछे से उझकना नहीं पड़ता
अपने प्रश्नों के उत्तर पहले से जानता है वह
उसे मेरे हीले हवाले काहिल कायर कच्ची तरक़ीबें मालूम हैं
फिर भी उसका आना बंद नहीं होता

कोई समय निश्चित नहीं है उसका
वह मुझे आश्वस्त नहीं रखना चाहता
उसके चले जाने के बाद भी देर तक महसूस करता हूँ
उसकी अनुपस्थिति का ताप और कम्प
बेरहम तक़ाज़ाई की तरह रोज़ कभी-भी आ जाता है वह
और असल की एक छोटी-सी क़िस्त तक चुका पाने में असमर्थ
अपनी औक़ात के मुताबिक़ सूद का सिर्फ़ एक शर्मनाक हिस्सा
आँखें चुराते हुए उसकी बेमुरव्वत विराट हथेली पर रख देता हूँ
जिसे वह हिक़ारत-भरे तरस से रख लेता है
कल फिर आने के लिए

# कविताएँ
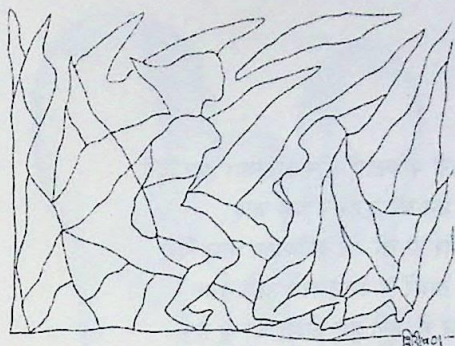
नरेश सक्सेना

## परसाईजी की बात

पैंतालीस साल पहले, जबलपुर में
परसाई जी के पीछे लगभग भागते हुए
मैंने सुनाई अपनी कविता
और पूछा
क्या इस पर ईनाम मिल सकता है
''अच्छी कविता पर सज़ा भी मिल सकती है''
सुनकर मैं सन्न रह गया
क्योंकि उस वक्त वह छात्रों की एक कविता प्रतियोगिता
की अध्यक्षता करने जा रहे थे

आज चारों तरफ़ सुनता हूँ
वाह वाह - वाह वाह - फिर से
मंच और मीडिया के लकदक दोस्त
लेते हैं हाथों हाथ
सज़ा कैसी कोई सख़्त बात तक नहीं कहता

तो शक होने लगता है
परसाई जी की बात पर नहीं
अपनी कविता पर

## गुजरात - 1

घर से सारी पत्रिकाएँ और अख़बार हटा दिये
कि कहीं उन पर नज़र न पड़ जाए
रेडियो और टी.वी. के कनेक्शन काट दिये
कि कहीं ख़बरें न आने लगें उसी वक्त
लेकिन घर में जले हुए गोश्त की बू है
इसका क्या करें
गोश्त ज़रा सा लग गया रसोई में
और एक मुसलमान दोस्त आने वाले हैं खाने पर

## गुजरात - 2

कैसे हैं अज़ीज भाई, फोन पर पूछा
'खैरियत से हूँ, और आप?'
'मजे में ...' मुँह से निकलते ही घड़ों पानी पड़ गया
अच्छा ज़रा होश्यार रहियेगा
'किससे?''
'हिन्दुओं से' - कहते कहते रोक लिया ख़ुद को
हकलाते हुए बोला -
'बस ऐसे ही एहतियातन कह दिया'
रख दिया फोन
सोचते हुए
कि उन्हें तो पता ही है
कि किससे

# कविताएँ
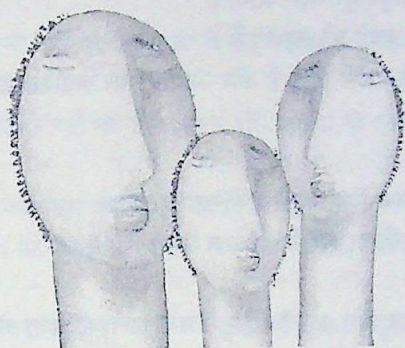
लीलाधर जगूड़ी

## श्रद्धांजलि

समृद्धि के बाद मंदी के दौर से गुजरते हुए
और फिर गरीब हो जाने के डर से डरते हुए
उस भूतपूर्व गरीब ने झुंज्झ में अंदर से बाहर तक के वही कपड़े
दूसरे दिन भी पहन लिये
इस सूक्ति को याद करते हुए कि इतिहास भी खुद को दोहराता है

दाढ़ी के काटने को भी नहीं बनाया
जूते की किस्मत भी नहीं चमकायी
तम-मन के परिवर्तन सब दल-दल में फँसे से लगने लगे
इन्द्रियाँ कुछ गारंटी पीरियड से बाहर आ गयी लगीं

हाथ पीठ की खुजली तक नहीं पहुँच रहे हैं
पिंडलियों का रस सूखता जा रहा है

खुजलाने पर राख सी झड़ती है
शरीर में नहीं जैसे श्मशान में रहना हो रहा हो
कल कॉफी फेंटी आज हाथ में छाले पड़े हुए हैं
परिश्रम से बहुत दूर चला आया है
जहाँ रुपया, रुपये को कमाता है
जहाँ पूँजी के पसीने छूटते हैं और आदमी इयर कंडीशन की शरण में चला जाता है

इस ऐतिहासिक दिन में उसे कर्मेन्द्रियों पर शक
और ज्ञानेन्द्रियों पर भरोसे की झक सवार हुई

पूँजी की सेहत और अपनी सेहत में मंदी आने की वजह से
सभ्य मनुष्य के पापों की संगत और थकान लिये हुए
वह प्रेम के लिए दुःख के फुटपाथ से दुखी रहने के कगार तक पहुँच गया

कभी शालीनता और सुख की चर्खी केवल सेक्स की वजह से चलती दिखने लगी
कभी पूरा ब्रह्माण्ड पैसे की साइकिलिंग में घूमता लगा
सौन्दर्य का सारा बोध सुखी मनोदशा का हिसाब करने लगा
कि सारी सुरक्षाएँ दुःखों और तकलीफों से उपजे हुए फल हैं
उसे याद आया
समय-समय पर संयम ने किस तरह टूटकर नयी दुनिया में पहुँचाया
जहाँ अदर्शनीय दिखना भी हिंसा फैलाना है

फटा-फट उसने दाढ़ी मिटाने को अपना मन बनाया
झटपट फिर नहाकर धुले प्रेस किये कपड़े पहने
चमकते जूतों से धुले मोज़े पहनने की प्रेरणा ली

तभी काम की प्रशंसा में इन्द्रियों का और पैसों का ताल-मेल
आर्थिक थकान और ऐन्द्रिक रुझान के कारण भरमाने लगा

घोर गरीबी में भी पहले-पहल की सेक्स अपीलों की
कुछ यादें पड़ी थीं
जब याद करने का मतलब सिर्फ सबक याद करना होता था

तब सोचा भी नहीं था 'वह तक' केवल पेशाब करने के ही
काम का रह जायेगा
या हो सकता है गले की तरह उतना भी अवरुद्ध हो जाय एक दिन

तारे, तारों का पीछा करते टूटते जा रहे थे शून्य में
टूटे काँच से पटे रास्तों पर चाँदनी का पीछा कर रहा था
चाँद
हवा को अपना तौलिया बनाने की इच्छा में खौलता सूरज
जुगाड़ रहा था वनस्पतियों में अपने परमाणु
जो चिड़ियों तक के शुक्र और रज में फैले थे पंखों की तरह

अपनी याद में उसे याद आया वह भूतपूर्व गरीब लड़का
जिसकी मूँछों की रेखा भी तब भीगी नहीं थी ठीक से
एक दिन वेश्या बाज़ार से गुजरा
फिर तो उसी बाज़ार से गुजरने लगा रोज़

एक दिन दीदी जितनी उम्र वाली लड़की ने उसे अपने साथ
खींच लिया
छाती खोलते हुए कहने लगी दूध पियेगा या मर्दानगी करेगा
दूध पीने का कुछ नहीं लूँगी मर्दानगी के दस रुपये

उस शुरुआती ऐतिहासिक क्षण में
नहीं माताजी - उस विभोर शर्मीले किशोर ने काँपते हुए कहा
- गरीब विद्यार्थी हूँ क्या कुछ कन्सेशन नहीं हो सकता
मेरे पास सिर्फ़ पाँच रुपये हैं ....

यादों में रमी दिन-ब-दिन गरीब होती जाती समृद्ध इन्द्रियों को
श्रद्धांजलि देनी चाहिए
जो अंत में सब को एक जैसा गरीब बना देती है।

# जुर्माना

कुछ में गरीब बने रहने की कुछ में गरीब दिखने की
चालाकी भरी आदत भी कमायी का आधार बनती जा रही है
ये पंक्तियाँ आखिर में आनी चाहिए थीं, क्योंकि इन में
बिना तर्क की एक सूचना और बिना सबूत के एक समस्या है
अब जाने किस निष्कर्ष पर पहुँचना हो पायेगा इस कविता में।

मैं स्टीफिन हॉकिन्स के समय में नहीं बल्कि रेडी-मेड और
फास्ट-फूड समय में जी रहा होता हूँ। हुक्के और सिलबट्टे की
पूरी तरह अनुपस्थिति के बावजूद घर को एक अजायब-घर
बनाने वाले समय में, यह अहसास घर किये रहता है कि
घर कोई किला नहीं जो बाहर की दुनिया में मुब्तिला न हो।

दीवारों से छनती हुई साफ़ सुनायी दे रही है सोटे जैसी एक मोटी
आवाज़, मोहल्ले के मोड़ से खिड़की दरवाज़ों की ओर मुड़ते
हा-हाकार के साथ।

धैर्य-धनी भिखारी के लिए घरों में प्रश्न चिन्ह के बजाय, समान
उदासीनता व्याप्त है। अपने गर्जन-तर्जन से हर घर को
ललकारता वह हड्डा-कट्टा जो अपनी हृष्ट-पुष्ट आवाज को
एकदम कुत्ते की कें-कें जैसी रुलाई के बाद अचानक फटी हुई
कड़क में लाकर पुकारता है - दे दे माई दे दे!

लोगों की करुणा के किवाड़ तोड़ता, सड़क को लाठी से मारता,
मोहल्ले को आवाज़ से फटकारता, खुद के लिए दया पैदा करता
सुनने वाले के लिए शर्म। दान-धर्म की बातें चिल्लाता, सबको
हिल्लाता वह हर मंगलवार की तरह आज चौथे मंगल को भी
आ गया है। पालतू कुत्ते छतों, छज्जों और गेटों तक आ गये हैं।
यह ऐसा देश-काल है जब ऐसे घरों में भी कुत्ते पले हैं जो कुत्तों के
डील-डौल से छोटे हैं।

बिना अपने से यह पूछे कि भिखारी को मैं बीमार और कमज़ोर ही
क्यों देखना चाहता हूँ? स्वस्थ और दबंग भिखारी आखिर मुझे
क्यों खराब लग रहा है? इस अमंगल से आखिर मैं भिड़ ही गया।

कुत्ते के पीछे गेट तक आकर पहले उसे भौंकने से रोकने के लिए
धमकाया, फिर उस स्वस्थ भिखारी को गेट के पास बुलाया
कुत्ते को शायद लगा हो कि वह तो गरीबी के खिलाफ है और मैं पक्ष में हूँ
कुत्ते ने भौंक-भौंक कर विप्लव सा मचा दिया, जैसे अभिव्यक्ति का
मूल अधिकार और रक्षा का उसका मुख्य कर्तव्य छीना जा रहा हो
भिखारी को देख कर लग रहा था कि भारत में भिखारी भी अब
भूखे नहीं सोते।

वह फिर गर्जा-तर्जा, आवाज़ ऐसी कि जैसे वसूली पर निकला हो
दे दो बाबू दे दो, दो रुपया दे दो, तुम्हारा भला होगा,
मैं एक चाय पी लूँगा, दे दो बाबू दे दो, हाथ का मैल दे दो!

वह टेप की तरह बजने लगा - तुम्हारा भला होगा, मैं एक रोटी
खा लूँगा, दे दे बाबू दे दे, हाथ का मैल दे दे!

मेरे लिए उन दिनों दो रुपये मुन्शी पुलिया से निशातगंज का
किराया था। मैं कुत्ते से भी ज़्यादा बे-काबू हुआ जा रहा था।

भिखारी करीब अट्ठाईस-तीस साल का, आज़ादी से लगभग बीस साल छोटा,
न विकलांग, न बीमार, न पागल बल्कि पेशेवर लग रहा था
मैं उस अभेद्य टैंक पर यों ही दग रहा था। उसे गौर से देखा तो
और भी गुस्सा आया। उस गधे की शेर जैसी आँखें थीं।

तुझे शर्म नहीं आती - मैं भौंकने सा लगा - आ, मैं तुझे दो नहीं, चार नहीं
दस रुपये दूँगा - मेरी आवाज़ फटती जा रही थी....

वह फिर गर्जा - बाबूजी आप कुछ दे दीजिए! भला होगा
जोड़ा सलामत रहेगा। बच्चे खूब पढ़ेंगे ....
(मुझे याद आया आज कैसे फ्लाप रहा पल्लव को कम्प्यूटर फ्लापी देने में)

साफ लग रहा था माँग नहीं रहा आदेश रहा है। उसके सारे शब्द
शाप की तरह लग रहे थे .....
मैंने पास पड़ी झाड़ू उठाते हुए कहा - यह लो छत बुहारकर सीढ़ी बुहार दो।
बस इतना भर कर दो और दस रुपये ले लो। पाँच मिनट से ज़्यादा नहीं लगेंगे
दो रुपये प्रति मिनट। कमाई बुरी नहीं है!

बाबूजी गरीब पर क्यों जुलुम करते हो - फिर कबीर गाने लगा
गरीब को न सतैय्यो, वाकी मोट्टी हाय
मरे चाम की सांस सूं, लौह भसम ह्वै जाय!

उसे लोहा सिंह की मोटी चमड़ी और तगड़ा शरीर देखकर मैंने
और भी वज्र आवाज़ में कहा - चलो अंदर आओ और काम करो ...

बाबू अन्याय न करो, मुझे कुत्ता काट खायेगा
बाबू गो हत्या लगेगी, भिखारी से काम कराते हो
अरे भैय्या लोगों! अरी माँ बहिनो! मुझ गरीब को बाबू से बचाओ
बाबू से बचाओ मुझे कुत्ते से बचाओ!

लोग हल्ला सुन घरों से निकल आये। लगा मैं चारों ओर से
घिर गया हूँ। पड़ोसी ने कहा - आप छोटे लोगों से बहुत उलझते हो
कुछ देना हो तो दे दो, नहीं तो भिखारी को अपना काम करने दो
डोण्ट इन्क्रोच इन अदर्स लाइफ

भिखारी बचाओ-बचाओ किये जा रहा था
मैंने उसे चुप होने के लिए पाँच रुपये दिये
इस तरह मैंने जुर्माना दिया भीख नहीं।

# कविताएँ
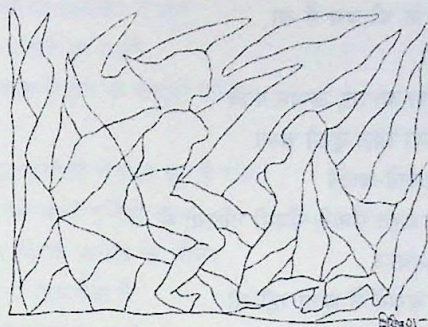
दिनेश कुमार शुक्ल

## सुबह से पहले ही

समझ नहीं पाये हम लेकिन
उसका जाना हमने देखा
किसी उपेक्षित विस्मृत भाषा
का वह शायद अन्तिम कवि था,
अभी रात कुछ-कुछ बाकी थी
कच्ची टूटी नींद की तरह
कड़वी-कड़वी हवा नीम के पत्तों को
छू-छू देती थी,
पता नहीं चिड़ियों का कलरव
आज उड़ गया कितना जल्दी,
सूरज के आने के पहले ही मायावी
चूने-के-पानी-के-रंग का एक सबेरा
फैल रहा था
उस निचाट ऊसर में बहता ....

तीन मील था दूर वहाँ से बस स्टेशन
उसे पकड़नी थी ऐसी बस
जिसका आना जाना रुकना चलना ढलना
नहीं किसी के भी बस में था,
तिस पर भी
विस्मृत भाषा का वह अनाम कवि
पता नहीं क्या चीज़ ढूढ़ने चला
और फिर चलते-चलते
धँसता गया बहुत सँकरी-सँकरी गलियों में
जहाँ एक आवाज़
उसे कितने बरसों से बुला रही थी ..

कुछ बच्चों ने देख लिया था
वह भुतहा घर
जिसमें दुःख गढ़े जाते थे
उन बच्चों की आवाजों की लहरें
उसको खींच रही थीं ...
धँसता चला गया वह अर्थों
की अपारता के सागर में
डूब रहे थे शब्द
किन्तु कवि तैर रहा था
अपनी भाषा की गठरी को
अपने सिर पर साधे-साधे
जीवन के पुलकित प्रवाह में
पार कर रहा था वह खुद को
तोड़ रहा था वह तिलिस्म दुःखों के गढ़ का .....

## बोझिल राग

भले साधे न सधे लय फिर भी
वो उठाता है वही बोझिल राग
फाग के बोल पकड़ते हैं आग
दुखों की जब भी हवा आती है

पूर्णिमा का घना अँधेरा है
अधबुझी राख की तरह बेचैन
जिसमें रह-रह के टिमटिमाता है
जगती आँखों-सा अनोखा ये राग
चाँदनी की ढलान का पानी
छपाछप तोड़ता है रात के कगारों को!

उधर सुनसान बगीची में चल रहा है रास
कभी भूतों का कभी परियों का
हवा की रंग बिरंगी कनात के भीतर
कोई बादल पे थाप देता है
गैस बत्ती की सनसनाहट में
गूँगे गायक की बेकली-सी है
रौशनी खा रही है कीट-पतंग
उठ रही है चिराँध की दुर्गन्ध
छा रहा है अजब-अजब सा डर
और मितली-सी आ रही है ऊब
फिर भी उठने को जी नहीं करता
एक नाटक अभी शुरू होगा
हमने देखा है इसे कितनी बार
इस कथा का न कोई ओर न छोर
अर्थ इसका सदा अबूझ रहा
जानता हूँ सभी किरदारों को
फिर भी उनको न मैं सका पहचान
कभी वो जिन्दगी में जब भी मेरे साथ चले

इसी नाटक का एक टुकड़ा अभी
छूट कर पटकथा के हाथों से
छिटक के दूर जा गिरा है कहीं
किसी चौराहे पे मजमें में घिरा
खोलता है वो कथानक की पोल ...

न कहीं भूत हैं न राग है न परियाँ हैं
न कोई फाग कोई आग कहीं कुछ भी नहीं,
गाय के खुर में जा छुपा है चाँद
सनसनी घुस के उसी मजमें में
बो रही है नये ज़हर के बीज,
सफेद सूखे बादलों का घेरा-सा
चाँद को घेरता है गुस्से में
ऐसे में पहले कहा जाता था
अबकी बरसात बहुत कम होगी

दुनिया के सारे कलावन्त इन्हीं वक्तों में
अपने वक्तों में डूब जाते हैं
और चुपचाप कहीं गहरे में
वो जगाते हैं फिर नया-सा राग
जिसमें लय है मगर आवाज़ नहीं,
राग के बोल फूटते हैं तभी
लोग ही जब उन्हें देते आवाज़!

## विलोम की छाया

मेरा अपना समय मुझी पर
जटिल-कुटिल मुस्कुरा रहा है
चुप्पी के गहरे पानी में
देख रहा हूँ मैं अपने विलोम की छाया

खगकुल-संकुल एक वृक्ष है
मृग-जल के सागर के तट पर,
उसी वृक्ष पर सबकी आत्मा का निवास है
उसकी डालें और टहनियाँ
हैं इतनी छतनार कि उनसे अँटा पड़ा है
देश-काल का कोना-कोना,
उसके पपड़ी भरे तने में

सबके सूखे हुए घाव हैं
सबके ही मन की गाँठें हैं,
तपते हुए मृगशिरा में भी
उस पर आ बसता बसन्त है,
यह सब है
लेकिन उसके फल
टपक-टपक कर
मृगमरीचिका के जल में
खोते जाते हैं!

फिर औघड़ प्रतिबिम्ब की तरह
वही निरावधि काल
उसी विपुला धरती पर
अजब-अजब रंगों में
अपनी छाप लगाता घूम रहा है
जैसे कोई बेकल-पागल
जाने क्या-क्या लिखता फिरता है
दुनिया की दीवारों पर

मेरा ही क्यों, बंधु तुम्हारा भी तो है यह समय
कि जिसका रक्त, पसीना,
जिसके आँसू, जिसकी मज्जा औ जिसका उन्माद
बाढ़ की तरह उफन कर फैल रहा है,
डूब रहा है उसके प्लावन में भविष्य भी,
चाहे कुछ भी करो
सभी कुछ ज्यों का त्यों है
नहीं हटाये हटता है दुख सपनों से भी,
उम्मीदें यदि हैं भी
तो वे दुख के रँग से मटमैली है
पड़ी हुई कोने-अँतरे में पोंछे जैसी

खगकुल-संकुलता के भीतर से औचक ही
बहुत दिनों के बाद एक दिन जाने कैसे

बज्र फोड़ती मर्म भेदती
कठफोड़वा की टाक-ठकाठक लगी गूँजने,
लगी गूँजने जैसे
श्रम के सहज तर्क की टक्कर, सीधी टक्कर!
वर्तमान में सेंध लगाते कठफोड़वा के पीछे-पीछे
मैं भी घुसता गया
अगम के तरु - कोटर में ...
मैंने देखा साम-दाम को, दण्ड-भेद को
गुर्दों के बाजार भाव पर चर्चा करते,
नया धर्म देकर बच्चों को
दिल्ली की मेमों के घर में बर्तन धोने
झुण्ड बना कर बेच रहे थे धर्म प्रचारक,
देखा मैंने स्वप्नों को भी दुःस्वप्नों से हाथ मिलाते,
दैत्याकार तितलियों को देखा मैंने जीवन रस पीते
मैंने बीते हुए समय के मलबे में
भविष्य को देखा-किसी अजीब बनस्पति के सूखे अंकुर-सा,

मैंने खुद को भी अपने विलोम में देखा
देखा मैंने अमर सत्य को झूठ बोलते
स्याही सूख नहीं पाती थी शब्द निरर्थक हो जाते थे
इतनी क्षणभंगुर भाषा थी,
मैंने देखा वंचित लोगों को वंचक पर फूल चढ़ाते .....

दिन ढलने को आया
छाया आत्मवृक्ष की
लम्बी हो कर मुझको खींच ले गई सँग में,
उस छाया की अजर-अमर दुनिया के भीतर
एक झोपड़ी, जिसको बरसों पहले लपटें चाट गई थीं
ज्यों की त्यों अब तक ज़िन्दा थी,
ढिबरी के पीले प्रकाश का सधा राग था
एक काँपती निर्भय लौ थी
जिसकी आभा में सारा जग जाग रहा था
ऊपर-ऊपर भले दिख रहा हो वह सोया

गंगा के ऊँचे कगार पर बसे गाँव की
उसी झोपड़ी के छप्पर में
खुँसी हुई थी
कागज के पीले पन्नों पर मेरी गाथा,
उस टीले पर अब तक खेल रहा था मेरी माँ का बचपन
धूल भरे वे चरण फुदकते थे कपोत-से,
उलटे घट का लिए सहारा
पार कर रहा था मैं धारा
मँझा रहा था मैं समुद्र को घुटनों-घुटनों
मैं द्वीपों की दन्त कथाओं का अन्वेषक
रहना तुम तैयार, तुम्हारे तट पर भी मैं
आ पहुँचूँगा कभी किन्हीं लहरों पर चलता,
आ जाना तुम साथ
तुम्हारा हाथ पकड़ कर
ओ मेरे विलोम मैं तुमको ले जाऊँगा
रंगमंच के नये दृश्य में जहाँ
द्वन्द्व का तुमुल
पुनः जगने वाला है!

# जब तक रचना दस्तक नहीं देगी, नहीं लिखूँगा
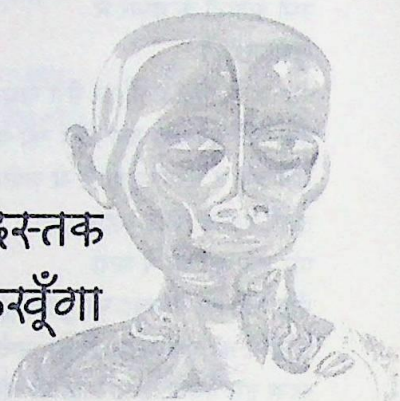
*जय गोस्वामी से चिरंतन कुंडू की बातचीत*

बांग्ला से अनुवाद : अभिज्ञात

*जय गोस्वामी बांग्ला के सुपरिचित युवा कवि हैं।*

*प्रस्तुत बातचीत साक्षात्कार भर नहीं है, बल्कि इसमें उन्होंने अपने कवि मन की आंतरिक तहों को खोला है और बेबाक आत्मालोचना भी की है। अपनी रचनाप्रक्रिया पर भी टिप्पणी की है। हाल ही में वे अमेरिका के आयोवा में इंटरनेशनल राइटर्स प्रोग्राम में शिरकत करने गए थे। इस अवसर पर केलिफोर्निया से फोन पर कलकत्ता वेब डॉट कॉम के लिए यह साक्षात्कार लिया गया।*

**प्रश्न : आप काफी अरसे से लेखन कर रहे हैं, शुरुआती दिनों से लेकर अंतिम पाँच-छह सालों में कविता में किस प्रकार का परिवर्तन देख रहे हैं और इस बदलाव से आपका रिश्ता कैसा है? क्या यह आप कविता पुस्तकों के हवाले से स्पष्ट करना चाहेंगे?**

उत्तर : किस प्रकार का परिवर्तन घटित हो रहा है यह मैं नहीं बता पाऊँगा। चूँकि मैं स्वयं भी रचनारत हूँ, इसलिए मेरा इस विषय में बोलना मुश्किल है।

**प्रश्न : लेकिन आपकी स्वयं की जो कोशिश है ...**

उत्तर : मेरा मन करता है कि मैं काव्य भाषा को खोजूँ, और उसे एकदम अलग थलग ढंग से लिखूँ। रचनारतता का समय तभी होता है जब मुझे लगता है कि जिस भाषा को मैं खोज रहा था वह मिल गई है। रचना के बाद वह चली भी जाती है। वह फिर रुकती नहीं। तब लगता है कि कुछ नहीं है मेरे पास। फिर नए सिरे से उसे खोजना शुरु करता हूँ। यह

प्रक्रिया दिनों दिन बढ़ रही है। मैं नहीं जानता कि यह मेरे अंदर के रचनाकार के चुक जाने का लक्षण है अथवा नहीं। लेकिन यह सच है कि मैं अभी तक अपनी भाषा नहीं खोज सका हूँ।

**प्रश्न : आपने एक बार अपनी पुस्तक में भूमिका भी देनी चाही थी ...**

उत्तर : प्रत्येक काव्य पुस्तक, विशेष तौर पर इधर जो कविता पुस्तकें मैंने लिखी मसलन 'सूर्य पोड़ा छाई', 'विषाद', जगत्‌बाड़ी', 'मा निषाद', 'बज्रविद्युत भर्ती खाता' इनमें मैंने सोचा था कि भूमिका लिखूँगा कि इन सबमें कितनी कविता है, इस पर खुद मुझे भी संदेह है।

'ब्रज विद्युत भर्ती खाता' की पहली कविता 'आत्मजीवनीर अंश' जब मैं लिख रहा था, तथा उसके बाद 'एक वृष्टीर दिके मरिया' एवं 'आलो संपर्के प्रबंध' इन कविताओं को लिखने के बाद मन में प्रश्न उठता है कि क्या इन्हें कविता माना जाय? मैं अब भी नहीं जानता। जब मैं 'विषाद' लिख रहा था तब जी में आया कि एक भूमिका लिखूँ कि मैंने इन्हें डायरी की तरह लिखा है। पुनः 'सूर्य पोड़ा छाई' लिखते समय पाँच-छह भूमिकाएँ लिखीं थीं, लगा था कि यह बातें कहने की आवश्यकता है - लेकिन अंततः कोई भूमिका नहीं दी, वे सब भूमिकाएँ अब भी हैं मेरे पास।

**प्रश्न : पाँच-छह भूमिकाओं में क्या अलग-अलग बातें हैं ..**

उत्तर : मनुष्य कभी-कभी खुद से भी बातें करता है। अपने मन से बात करता है। वे बातें जो अन्य किसी के साथ शेयर करने की नहीं होतीं। यह लेखन के क्षेत्र में भी हो सकता है। कुछ लेखन ऐसा भी होता है जिसे वह दूसरों के साथ शेयर नहीं करना चाहता। इस तरह का लेखन खुद अपने से बात करने की तरह ही होता है। इसी प्रकार से लिखी थी मैंने ये भूमिकाएँ। उसके पूर्व मैंने कुछ दिनों के लिए ठान रखा था कि मैं तब तक नहीं लिखूँगा, जब तक रचना खुद मेरे पास नहीं आती। यदि मैं इससे ठूँठ भी हो जाऊँ तो कोई बात नहीं। मैं अब भी इस पर कायम हूँ। दो एक रचनाएँ कभी-कभी .... फिर भी यह तय किया है कि पुस्तक नहीं निकालूँगा .... कविता की किताब नहीं निकालूँगा .... कविता की किताब नहीं निकालूँगा, अगर मेरे भीतर से कविता नहीं आती। यह मैं तय कर चुका हूँ। मेरी कविताओं की किताबें बिकती हैं। इसकी वजह से आर्थिक तौर पर मेरी निर्भरता कविता पर है। यह निर्भरता नहीं रहने से और स्वाधीन हुआ जा सकता है।

अपने प्रकाशकों से मैं जीवन-यापन के लिए रुपऐ-पैसे लेता हूँ और वे मेरी कविताओं की किताबें बेचते हैं। यदि मैं उन्हें कविताओं की किताब न दूँ, तो मैं मुश्किल में फसूँगा। फिर भी मैंने मन में तो यही ठाना है। मैं नहीं जानता इस पर मैं अमल कर पाऊँगा या नहीं। यदि खुद कविता मुझ तक नहीं आती मैं नहीं लिखूँगा।

शुरुआती दौर में इच्छा होती थी कि मेरी कविताएँ प्रकाशित हों। उन्हें कुछ लोग पढ़ें। मैं डाक से कविताएँ भेजता था। कुछ छपती थीं, कुछ नहीं। फिर यह हुआ कि कई कविताएँ छपी। कई किताबें निकलीं। अब किसी के चाहने भर से उसे प्रकाशनार्थ दे दूँ, लगता है कि यह ठीक न होगा। अब मुझे विचार करना चाहिए।

अल्पायु में जब मेरे पास पचीस कविताएँ थीं, तो छपाने की जगह पाँच भी नहीं थी। तब यह मन में आ सकता था, यह एक समस्या है कि कई कविताएँ हैं, जो नहीं छप रही हैं। हालाँकि मैंने कभी इस तरह से नहीं सोचा। पाँच-सात छप गईं, तो लगा पर्याप्त है। कविताएँ प्रकाशित नहीं होतीं, यह अवश्य संकट का विषय लगता था। लेकिन अब पहले से अधिक संकट यह है कि मेरे पास पाँच कविताएँ हैं और पचीस जगह से लिखने का आमंत्रण है। मैं सभी को लिख-लिख कर दे देता हूँ। और देखता हूँ कि सभी प्रकाशित हो रही हैं। एक दौर के बाद अब कोई नहीं कहता कि मैं खराब लिख रहा हूँ। सभी लिखे के प्रकाशित होने की जो उम्र होती है मैं उसमें पहुँच गया हूँ। क्या यह बड़ा संकट नहीं है? मुझे लगता है कि यह संकट बड़ा है। अब मैं जो लिखूंगा या जो लिखना चाहूँगा, वही प्रकाशित हो जाएगा यह सुविधा है, तो यह एक समस्या भी है।

**प्रश्नः अर्थात् एक प्रतिष्ठित कवि की जो समस्या ...**

उत्तर : सबसे बड़ी बात तो यह कि जो मैं लिखना चाहता हूँ, वह लिख देता हूँ और वही छप जा रहा है। इससे मैं यह महसूस कर रहा हूँ कि मेरे लिखे की कदर है। संपादक आमंत्रित करते हैं। प्रकाशित हो रहा है, कुछ अच्छा लगता है मेरे लेखन में इसीलिए प्रकाशित हो रहा है। हालाँकि यह अच्छी तरह से जानता हूँ कि यहाँ कोई विचार काम नहीं करता। उसका कारण यह भी है कि जो रचनाएँ आमंत्रित करते हैं, वे आमंत्रण-रक्षा की भद्रता दिखाने के लिए भी प्रकाशित करते हैं। आमंत्रित करने की वजह से रचना प्रकाशित होती है हमारे देश के सभी कवियों की, एक उम्र के बाद। मेरे मामले में भी यह होता रहा है। आमंत्रित रचना सीधे प्रकाशित की जाती है। उसका कोई निर्णायक नहीं होता। कवि को खुद ही विचार करना पड़ता है। और अपनी रचना पर निर्णय लेना बहुत कठिन काम है, जो मुझसे नहीं होता।

मैं एक महाशून्य में हूँ पिछले कुछ वर्षों से। जब मैं लिखने बैठता हूँ तभी इसका पता चलता है और जब मैं नहीं लिख रहा होता हूँ तब मेरा कोई औचित्य नहीं रहता इससे। मैं 'देश' पत्रिका के लिए जो काम करता हूँ, उसके लिए मेरी रचना भी कभी-कभी माँगी जाती है।

**प्रश्न : वह रचना क्या हर समय, मतलब पत्रिका की माँग पर ...**

उत्तर : सामान्य तौर पर मैंने दिया ही है। और इससे नाना प्रकार की जानकारी भी मिली। मसलन मैंने 'आत्मजीवनीर अंश' कविता फरमाइश पर लिखी थी। 'मा निषाद' कविता भी फरमाइश पर लिखी गई रचना है। संपादकीय कार्यालय से माँगी गई थी। 'भूतुम भगवान' कविता भी वैसी ही है। फरमाइश होने पर मैं लिखने बैठता हूँ। लेकिन फरमाइश पर निर्भर नहीं होता। जब मैं देखता हूँ कि मेरे भीतर से रचना नहीं आ रही, तब कह देता हूँ कि लिख नहीं पाया। कोशिश करके भी नहीं लिख पाया। अपने संदर्भ में मैं सोचता हूँ कि मैं किसी काम का आदमी नहीं। आदमी के तौर पर मैंने अपने जीवन में कई भूलें की हैं। जीवन से कविता लिखने की कोशिश करता हूँ। इसलिए जीवन से वे भूलें कविता में भी चली आतीं हैं। उन भूलों का अनंत संशोधन मैं कविता के जरिए करने की कोशिश करता हूँ, जो जीवन में करना संभव नहीं

है। मैं नहीं जानता, अब भी नहीं जानता कि लिखूँगा कि नहीं, यदि लिखूँगा तो कब, क्या लिखूँगा। अब तो जो कविताएँ लिखीं हैं मसलन 'हरिनेर जन्नो एकक' या 'अभिसारेर चार अवस्था' नहीं जानता कि इसे सभ्य लोगों की कविता कहा जाए या नहीं। 'सूर्य पोड़ा छाई' को कविता कहा जाए या नहीं। 'एक' नामकी एक किताब लिखी थी, उसे कविता की किताब कहा जाए या नहीं। उन सब किताबों के प्रकाशन के समय मन में आया कि इन सब किताबों में एक भूमिका दूँ कि इन सब को मेरा मन कविता नहीं मानता। ये कविताएँ नहीं भी हो सकती हैं।

**प्रश्न : पुरानी किताबों के संदर्भ में यह बात मन में नहीं आती? एकदम शुरुआत की बात कर रहा हूँ, जब आपने 'उन्मादेर पाठक्रम' लिखा था।**

उत्तर : इस प्रकार की बात मेरे मन में 'आलेया ह्रद' लिखते समय आई। उस समय मेरी उम्र 25 वर्ष थी। मेरी कविताएँ विभिन्न जगहों पर प्रकाशित होने लगी थीं। तब मैंने सोचा था कि भद्र लोगों की कविता किसे कहा जाए। वे बातें मेरे मन में स्लोगन की तरह आईं।

मैं खुद नहीं जानता कि मेरी कविता में क्या है, इसलिए मैं कांफिडेंट नहीं हूँ। जब भी एक कविता की किताब पूरी होती है मैं किताब को अपने अस्त्र या समय के सामने समर्पित कर देता हूँ। समय मुझसे पूछता है - तो लॉक किया जाए? मैं कहता हूँ - हाँ। लॉक कर दो। फिर भी मैं कांफिडेंट नहीं होता।

देखिए, मैं पिछले दिन जिस तरह से आपसे बात कर रहा था, आज उस तरह सोचकर बात नहीं कर पा रहा हूँ। मन की जलवायु में परिवर्तन हो गया है। कविता भी ठीक वैसी ही होती है। एक खास समय में एक खास तरह का इफेक्ट होता है। कोई किताब लिखते समय बीच में ही मन में कोई दुर्घटना घट गई तो फिर किताब अधूरी ही रह जाती है। फिर वह किताब नहीं पूरी कर पाता। समय और समाज को छोड़कर भागता-फिरता हूँ। जिन्हें शुरू किया है उन्हें पूरा करना होगा या और कुछ रचनाएँ अधूरी भी हैं। ऐसे समय मैं इस कदर आहत होता हूँ कि दिल टूट जाता है, नहीं चाहता कि मन इतना खराब हो जाए कि फिर कभी लिख ही न पाऊँ, इसी भय से भागता फिरता हूँ।

'देश' पत्रिका में भी जो काम मैं करता हूँ, उसके लिए भाग्य के प्रति कृतज्ञ हूँ। अपनी पसंद का काम पाया है। कम उम्र के कवियों की कविताएँ देखने का। नई पीढ़ी के कवि मुझसे बहुत अधिक कांफिडेंट हैं। यहाँ के कई युवा कवि-कवयित्रियों को मैंने देखा, या जिन्होंने थोड़ी ख्याति अर्जित की है, उन्हें देखा। लेकिन मेरे देश के युवा कवि अधिक कांफिडेंट हैं। वे बहुत जानते हैं। वे लिखना जानते हैं। और वे यह भी जानते हैं कि किसे लिखना आता है। लेकिन मुझसे वह नहीं हो पाया।

**प्रश्न : लेकिन यह कांफिडेंस एक कवि के लिए कितना हितकारी है?**

उत्तर : अत्यधिक आवश्यक है। यह जो मैं यहाँ हूँ, यहाँ कवियों को देखा है। हर क्षण कवि लेखक तैयार हो रहे हैं। कवि लेखक बनें इस इरादे से ही उनके माँ-बाप ने यहाँ घूमने के

लिए भेजा है। इनमें से कई कवि लेखक बन भी गए हैं। आत्मविश्वास की आवश्यकता है। मुझमें आत्मविश्वास है, मगर मैं उसे देख नहीं पाता। पीछे खड़ा होता है मेरे। मेरी कुर्सी के पीछे खड़ा रहता है। आपने 'गुपी गाइन बाघा बाईन' फिल्म देखी है। उसमें एक राजा चहलकदमी करता है छत पर। और उसके पीछे एक नाटा और एकदम छोटा व्यक्ति उसकी धोती का सिरा पकड़ कर कभी इधर चलता है कभी उधर। मेरा आत्मविश्वास उसी प्रकार का है। जब मैं लिखते समय चहलकदमी करता हूँ, एकदम राजा सा एकांत में। स्वयं को एक बड़ा लेखक मानते हुए लिखने बैठता हूँ तब मेरा आत्मविश्वास मेरे पीछे छिपा रहता है। नहीं जानता कि मैं इस जीवन में और एक भी कविता लिख पाऊँगा या नहीं। सचमुच यह मैं बात बनाकर नहीं बोल रहा। रिल्के ने एक युवक को लिखे पत्र में कहा है -

'रात्रि के निर्जनतम समय में स्वयं से प्रश्न करो - क्या और कविता लिख पाओगे?'

यदि जवाब हाँ हो, तभी लिखना।

तो एक जगह है - रात्रि का निर्जनतम समय जहाँ मैं सबको भूलकर स्वयं पर गर्व कर सकता हूँ। यह गर्व करना अब नहीं हो पाता। यहाँ एक लड़की मेरे साथ बैठ, चर्चा कर कविताओं का अनुवाद कर रही है। उसे कविता समझाते समय एक भी कविता खोजने पर भी नहीं मिल पा रही है। 'मेघबालिका जन्नो रूपकथा' मैंने लिखी थी वह याद है - 'एक पृथ्वी लिखूँगा सोचा था...'

**प्रश्न : एक लेखनवही भी खत्म नहीं की।**

उत्तर : हाँ। 'एक लेखनवही भी खत्म नहीं की।' इससे मैं हताश नहीं हूँ। इसे सही मानों में हताशा नहीं कहा जा सकता। जिस काम में इतने दिनों से लगा रहा, उसे ठीक से समझ नहीं सका। जितने दिन गुजर रहे हैं और रहस्य गहराता जा रहा है। चारों तरफ एक दीवार सी है। रह-रह कर मैं अपना सिर जिससे टकराता हूँ। अचानक दीवार में सुरंग बन जाती है। फिर भी उसमें भीतर सा अंधकार नहीं है। उस पार दिगंत दिखाई देता है। आपने सार्त्र की 'नासिया' पुस्तक का कवर देखा है। वह सल्वादोर डाली की एक फिल्म की डिटेल से बनाया गया है। एक विशाल पत्थर है, उसमें एक छेद है। उस छेद से ऊपर दिगंत, समुद्र दिख रहा है। दिख रहा है एक पक्षी उड़ता हुआ - एक अपूर्व डिटेल। बने बनाए ढर्रे को एक धक्का देकर ध्वस्त करने की यह कोशिश मैं अब भी करता हूँ। चाहे वह मेरा देश हो या यह देश, आत्मविश्वास आवश्यक है। युवा कवियों, केवल युवा ही क्यों कवियों में।

मेरे देश में मैं किसी एक भी ऐसे युवा कवि को नहीं पहचानता जो सचमुच असहाय हो। लेकिन यदि मैं असहाय न हूँ, असहायता है तो वह केवल रचना के क्षणों में। मैं सोचता हूँ हूँ.जब पूरा युग ही एक तरफ एक प्रकार का है, चल रहा है, तब मेरे निजी मामले में ऐसा क्यों होता है। मैं निश्चित बैठकर क्या यह नहीं कह सकता था कि मैं लिखना जानता हूँ। मैं लिख सकता हूँ और मैं लिख सकूँगा। पर यह नहीं कर पाता।

**प्रश्न : किन्तु आत्मविश्वास के नाम पर यह तो नहीं होना चाहिए कि समुद्र**

या दिगंत दिखाई ही नहीं दे रहा है, केवल दीवार दिखाई जा रही हो। और लगता है कि इस दीवार के ध्वस्त होते ही काम पूरा हो जाएगा।

उत्तर : नहीं ऐसा नहीं है। स्पष्ट कहना चाहूँगा। लिखते समय कई बार ऐसा होता है कि खुद मुझे पता नहीं होता कि क्या लिखूँगा। इस प्रकार जो रचना शुरू होती है तो कुछ दिनों के बाद लगता है कि अब किसी दिन वह भाषा नहीं लौटेगी। हाल ही में लिखी कविताएँ मसलन 'हरिनेर जन्मो एकक' कविता की पहली 62-65 लिखने के बाद एक व्यक्ति को सुनाकर पूछा था - यह क्या कविता बन रही है? इसे क्या लिखा सकता है? 'सूर्य पोड़ा छाई' में एक कविता है - 'मेरी माँ का नाम बंकिम शशि, मेरे श्याम का नाम छाया।'

इस प्रकार की कई कविताएँ लिख कर किसी को बुलाकर (तब रचनाओं के आगमन का प्रबल आवेग था, आँधी की तरह आती थीं) पढ़ाता था। ऐसे ही एक मित्र से पूछा था कि क्या इसे कविता कहा जाए? उसका कहना था - जो तुम्हें जैसा लगता है लिखो। वह विज्ञान का छात्र था। उसका कहना था कि तुम इतने दिनों से साहित्य से जुड़े हो। लिखते आ रहे हो। अब जबकि हर तरह का लेखन हो रहा है, तुम अपना लेखन स्थगित न करो। शब्दों से मैं अपनी प्रतीति को स्पर्श कर पा रहा हूँ कि नहीं, केवल मेरी प्रतीति नहीं, बल्कि जो में समय के बीच बैठकर लिख रहा हूँ, उस समय को छू लूँ यही कोशश रही है। स्वयं को भी पहचानना कितना बाकी रह गया है।

**प्रश्न : यह जो आपकी प्रत्येक कृति में बार-बार बदलाव आ रहा है 'सूर्य पोड़ा छाई' से जगत्‌बाड़ी' एकदम भिन्न है। 'मा निषाद' से 'सूर्य पोड़ा छाई' भिन्न है। एक के बाद एक एकदम भिन्न परिवेश में जाना, स्वयं को किसी एक जगह स्थिर न रखना, इसे क्या आप अपनी उपलब्धि नहीं मानते?**

उत्तर : एक लेखक जो अपनी भाषा पा चुका हो, वह ऐसा नहीं करेगा। चूँकि मैं अभी अपनी भाषा नहीं पा सका हूँ इसलिए ऐसा करता हूँ। इसके अलावा प्रत्येक क्षण नवीनता की जो हार्दिक कोशिश है इससे रचनात्मकता की भी क्षति हो सकती है। मेरी ऐसी कोई हार्दिकता नहीं है। लेकिन यह सही है कि मुझे लगता है कि मैं एक व्यक्तिगत कारागार में हूँ। और जितना ही मुझे यह एहसास होता जा रहा है कि मैं कारागार में हूँ उतना ही मेरा मन मुक्त होता जा रहा है। जितना मैं मुक्त होता जा रहा हूँ उतना ही मन करता है कि मैं एक बार मुक्त हो उड़कर देखूँ। जो मुझसे लिखवाएगा। और यह उड़ान यदि भीतर से न आए जो मुझे मुक्त करेगी तो मैं लिख नहीं पाऊँगा। और मैं स्वीकार करता हूँ कि यह जो मुक्ति की चाहत है, पिछले कई वर्षों से मैं पाता रहा हूँ अपने कार्यालय से ही। कार्यालय मुझे लिखने को कहता है तभी लिखता हूँ। 'बारोमासेर जगत्‌बाड़ी' कविता जो है, वह मेरे कार्यालय से एक लम्बी कविता की फरमाइश पर ही लिखी गई। बीच में मैंने डेढ़ वर्ष तक कुछ नहीं लिखा। उसके बाद 'हरिनेर जन्मो एकक', 'अभिसारेर चार अवस्था', 'मा निषाद', भी इसी प्रकार लिखी गई कविताएँ हैं। कोशिश करने से यह होता है कि भीतर से रचनाशीलता बाहर निकल आती है। अब मेरी कवि

होने की इच्छा नहीं है। अब कविता लिखने की कोशिश करूँगा।

प्रश्नः जीवनानंद दास भी लगता है ...

उत्तर : जीवनानंद दास हमारे देश के वीर हैं। मध्यवर्गीय लोगों के बीच जीवट का ऐसा कोई दूसरा उदाहरण मेरे सामने नहीं है। मैं रवींद्रनाथ को अलग रखता हूँ, क्योंकि वे हमारे लिए सबसे बड़े हैं। लेकिन वे मध्यवर्ग या निम्न मध्यवर्ग से नहीं आते। रवींद्र ने बड़ा कष्ट झेला है। शोक सहन किया है, फिर जीवनकाल में ख्याति भी पाई है, लेकिन वे लिखते रहे, हर समय लिखते रहे।

जीवनानंद जिस परिमाण में क्षमता लेकर पैदा हुए थे, जो नूतनता लेकर आए थे, वह उस समय पूर्णतः लुप्त सा था। फिर भी वे बगैर विचलित हुए अपने धर्म, अपने पथ का संधान करते रहे। यही बड़ा कवित्व है। उनके जीवनकाल में उनकी रचनाओं को जीवन-विरोधी कहा गया। उनकी रचनाओं की हँसी उड़ाई गई।

आखिरकार उनकी मृत्यु के चालीस वर्ष बाद उनकी एक-एक रचना की एक-एक पंक्ति प्रवचन बन गई और उसने अखबारों में जगह बना ली। लोग आज उन्हें पहचानते हैं। जिसे एक समय जीवन-विरोधी कवि कहकर तिरस्कृत किया गया था, उसे आज सभी जीवन का कवि मानते हैं। यह सब करने मे उन्हें कितना कष्ट झेलना पड़ा होगा। कविता के अलावा उनका कोई और अवलम्बन नहीं था।

रवींद्रनाथ की निःसंगता समझी जा सकती है। कितना प्रबल एक व्यक्ति, कितना बड़ा, किन्तु वे सम्पन्न थे। जीवनानंद के पास कुछ नहीं था। फिर भी अपने ऊपर विश्वास रखा, लेखन का आनंद, लेखन की उत्तेजना, एक के बाद एक लिखते जाने ने उन्हें मृत्यु के बाद अमर कवि बना दिया। यह अपने ऊपर विश्वास की वजह से हुआ। हमारे देश में तो आज सबसे बड़े कवि रवींद्रनाथ और जीवनानंद दास हैं। उनकी सैकड़ों पाण्डुलिपियाँ बताती हैं कि लिखते समय वे किस जगह, कितने रक्तात थे। वे ठीक नहीं कर पा रहे थे कि किस शब्द को किस जगह इस्तेमाल करें, किस पंक्ति को कहाँ लिखें। वे दोनों एकदम भिन्न प्रकार के व्यक्ति थे मगर इस जगह पर दोनों में कितना साम्य है।

जीवनानंद की जीवनधारा से हम लिख नहीं पाए। इस समय इसे हम सभी को स्वीकार करने की आवश्यकता है। हमारे प्रत्येक कवि के भीतर एक प्रकार की आकांक्षा है। क्या मेरे भीतर नहीं है? निश्चित तौर पर मुझमें भी थी। अल्पायु से ही कुछ पाठक मुझे मिलते रहे। अल्पायु में मेरे हमउम्र कवि मेरी कविताएँ पसंद करते थे। बाद में मेरी कविताएँ सामान्य लोगों को भी पसंद आने लगीं। मैं भाग्यवान हूँ। इस अमेरिका में मैं दुर्गापूजा में गया था, कई बंगालियों ने कहा कि मेरी कविताएँ उन्होंने पढ़ी है। एक सज्जन अपनी माँ को साथ लाए थे। वे उम्र में मुझसे बड़े थे, उन्होंने मेरी कविताएँ पढ़ी थीं। मैं नारीवादी कविता या समाज के लिए लिखूँगा सोचकर नहीं लिखता। मैं तो कई बार अपनी माँ पर कविता लिखता हूँ। अपनी बेटी पर लिखता हूँ। कई बार तो मैं जिस कॉलोनी में रहा हूँ वहाँ जिन लड़कियों को देखा है, उन पर

कविताएँ लिखता हूँ। युवावस्था में जिसे देखा है, जिन मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय लोगों को देखा है उनकी बात लिखी है। इस एक जीवन को उनके साथ बाँट लेना चाहा है। इसलिए स्वीकृति पाने के बाद अब इस प्रकार का कुछ मन में नहीं होता। लेकिन कवि होने की लिप्सा कवि में बहुत गहरे तक होती है। कवि चाहता है सब उसकी कविताएँ पढ़ें, सभी उसे मान लें।

मैं नहीं जानता की भविष्य में क्या लिखूँगा और उससे कुछ होगा भी कि नहीं। इस प्रकार भागते-भागते मैं क्रमशः अकेला होता जा रहा हूँ। मेरा परिवार, मेरी बेटी, मेरी पत्नी ... इनके प्रति मेरा दायित्व, एक खिंचाव अनुभव करता हूँ। मैं अपनी बेटी पर अपनी निर्भरता महसूस करता हूँ। उसकी याद आने पर मुझे बहुत बेचैनी होती है। अल्पायु के कवियों की कई कविताएँ अब 'देश' पत्रिका में छपने लगी हैं। उसकी कविता ठीक प्रकार से प्रकाशित हुई कि नहीं ... इसकी उत्सुकता बनी रहती है। इनके व्यक्तिगत जीवन के प्रति एक खास स्टेज तक मेरा खिंचाव रहता है कि वे क्या कर रहे हैं, वह जो लिखना चाहती है, वह लिख पा रही है कि न हीं। अन्य किसी लफड़े में तो नहीं पड़ गई। यह सब मेरी कविता में भी चला आता है। मेरी यह तीव्र अभिलाषा नहीं कि वह खूब अच्छी कविता लिखे। शांत भाव से यही अपेक्षा की है कि वह कविता समझ कर कुछ बीच-बीच में पकड़ा जाए।

**प्रश्न : बांग्ला में स्वतंत्र तौर पर कविताओं की वैसी कोई पत्रिका नहीं निकलती, जिस प्रकार 'कविता' या 'कित्तीवास' निकलती थी। आपको क्या लगता है यदि इस प्रकार की कोई पत्रिका होती तो कवियों को सुविधा होती?**

उत्तर : बांग्ला में कविताओं की कई पत्रिकाएँ हैं।

**प्रश्न : मैं कहना चाहता हूँ कि सभी एक प्रकार की रचनाएँ लेकर, कई शिविर होते तो ...**

उत्तर : कई शिविर हैं। कई मत हैं। आप यदि पिछले कुछ वर्षों की देश पत्रिका लेकर देखें, तो पाएँगे कि इसमें कई प्रकार की कविताएँ प्रकाशित हुई हैं।

**प्रश्नः हाँ। लेकिन देश केवल कविताओं की पत्रिका नहीं है।**

उत्तर : हाँ, यह कविताओं की ही पत्रिका नहीं है, मगर यह कविताओं को एक स्थान तो देती ही है। आप पाएँगे कि हमने कविता संकलन तक प्रकाशित किया है। जहाँ एकदम अनजान कवि की कविताएँ प्रकाशित की हैं तो रंजीत दास, पार्थप्रतिम कांजिलाल, तथा कुछ वर्ष पूर्व गीता चट्टोपाध्याय की कविताएँ भी प्रकाशित की हैं। उन कवियों की कविताएँ भी प्रकाशित हो रही हैं, जो नियमित लिख रहे हैं। एकदम नूतनतम कवियों की कविता प्रकाशित हो रही है। मैं प्रतिष्ठित नूतन कवियों की बात नहीं कर रहा मसलन मन्दाक्रांता, पिनाकी की बात नहीं, बल्कि जो एकदम नए हैं। जैसे हमने कुछ दिन पहले कौशिक पंजाबी नाम के एक कवि को प्रकाशित किया था। बहुत अच्छी कविंता थी उसकी। इस बार पूजा विशेषांक में जीत पाल की कविता। इन्हें हम एकदम नहीं पहचानते। कोशिश की है कि कोई भी हो उसकी अच्छी कविता प्रकाशित हो। परवर्तीकाल में वह कवि क्या करेगा हम नहीं जानते। जो कविताएँ

अपने मन को, अपने विचार को प्रतियोगिता से बाहर ले जा पाएँगे वे अरसे तक साहित्यिक कविता लिख पाएँगे। वरना कुछ दिन तक तो अच्छी कविता लिखी जा सकती है, उसके बाद केवल कविता छपाई जा सकती है।

जीवनानंद दास जैसे बड़े उदाहरण हैं हमारे सामने। जीवनानंद दास की मृत्यु मेरे जन्म के केवल 18 दिन पहले हुई थी, इसलिए उन्हें समसामयिक कवि नहीं कहा जा सकता। 40-50 वर्षों के बीच का मामला है। जीवनानंद की कविता का, साहित्यिक उत्थान गत 25-30 वर्ष पहले हुआ। हम जो अब लिख रहे हैं तथा जिनकी उम्र पच्चीस से पचास वर्ष के बीच है, उन्होंने जीवनानंद की कविता के जीवंत होने की प्रक्रिया देखी है। यह हमारे करीबी अतीत की घटना है। लेकिन हमने इससे लेशमात्र सबक नहीं लिया। जिस धैर्य, निर्लोभ और संयम से उन्होंने काम किया, उससे हमने कुछ नहीं सीखा। बुद्धदेव बसु ने कुछ वर्ष पहले कहा था कि अल्पायु में कविता को लेकर, साहित्यकार की भूमिका को लेकर बहुत आलोचना की है, तर्क दिया है, लेकिन यह शक्ति क्षय करना ही साबित हुआ।

जीवनानंद दास ने शक्ति क्षय नहीं किया था। वे लिखते गए। वे रवींद्रनाथ जैसी बड़ी प्रतिभा के समीप अपना स्थाई स्थान बना गए। मरे तो कोई न था पास, कोई आत्मीय नातेदार-रिश्तेदार नहीं। कोई अपना नहीं था, कुछ नहीं था। किन्तु कविता थी। किसने स्वीकार की उनकी कविता? एकदम अपरिचित, परवर्ती पीढ़ी के लोगों ने उनकी कविता को स्वीकृति दी। शब्द की शक्ति पर विश्वास करने का इतना बड़ा उदाहरण मेरे सामने हैं।

आधुनिक समाज में जीवन की ओर यदि देखें तो आपको मिलेगी हताशा। वहाँ मिलेगी हत्या और हिंसा। समाचारों केवल हत्या,  आग में जलाकर मारने की वारदातें, बंदूक की नाल मुँह में डालकर मारने की खबरें, एक दल के किसान द्वारा दूसरे दल के किसान की हत्या की खबरें। वही हिंसा, खून जन्म ले रहा है घर में भी। इन सबके बीच कविता लिखने की जो कोशिश है वह कविता से प्यार करने की कोशिश करता है, और कुछ नहीं। कविता तो किसी का कुछ नहीं कर सकती। कहा जाता है कि समाज के लिए कविता लिखी जा रही है, या कविता समाज को बदल सकती है, इसके परे मैं मानता हूँ कि मैं साधारण आदमी हूँ, मैं इन सबके लिए कविता नहीं लिखता और इसे छोड़कर मेरा कुछ है भी नहीं। और बीच-बीच में लगता है कि कविता भी नहीं है।

**प्रश्न : गद्य लिखते समय भी क्या मन में यही आता है?**

गद्य लेखन को मैं एकदम महत्व नहीं देता। जहाँ मैं काम करता हूँ वहाँ मुझे अवसर दिया जाता है कि मैं जो चाहूँ वह लिख सकता हूँ। मैं हो सकता था कि कविता के बदले उपन्यास लिखता। इस बार मैंने लिखा है शक्ति (चट्टोपाध्याय) की कविता पर। शक्ति बहुत बड़े कवि हैं कि ...

यहाँ लेविंग नाम की एक लड़की के साथ कविता के अनुवाद का काम कर रहा हूँ। उसे रह-रह कर शक्ति की कविता पढ़ाता हूँ। आश्चर्य होता है सच में। किन्तु उनकी शराबखोरी

और उच्छृंखल व्यवहार ही विख्यात है। मेरे साथ उनकी सामान्य बातचीत ही थी। उनके घर मैं दो बार गया हूँ। उनकी कुछ कविताओं की ही लोग घूम फिर कर चर्चा करते हैं, उनकी और भी अच्छी कविताएँ हैं, जिनकी चर्चा नहीं होती।

**प्रश्न : कविता जब नहीं लिखते तब .... तब बुद्धदेव बसु कहते थे कि जब वे कविता नहीं लिख रहे होते थे तो अनुवाद इत्यादि का काम करते थे स्वयं को ...**

उत्तर : बुद्धदेव के बारे में एक बात कहूँ। मुझमें व उनमें काफी फर्क है। वे उनमें से थे जिन्हें स्कॉलर कहा जाता है। पठन-पाठन उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। मैं उस तरह का आदमी नहीं हूँ। मैंने अनुवाद करने की कोशिश कभी नहीं की। सच कहूँ तो अंग्रेजी की कविता जब मैं पढ़ता हूँ तो तब मेरी मातृभाषा में वह स्वयं अनूदित हो जाती है, उसकी एक तस्वीर बन जाती है मेरे मन में। कभी इस अनुभूति को लिखने की कोशिश नहीं की। आमने सामने बैठकर अनुवाद कर रहा हूँ। इसके पहले मेरी कुछ कविताओं का अनुवाद किया था कोलकाता की एक बंगाली लड़की ने, किन्तु वह बंगाली थी इसलिए उसके साथ मामला दूसरी तरह का था।दरअसल मैं एक अकर्मण्य व्यक्ति हूँ। मुझमें काम करने की क्षमता सामान्य है। किताबें पढ़ना, गाने सुनना, नाटक देखना, यही मेरे काम में शामिल है।

**प्रश्न : और इन सबके बीच भी आप में कविता उपजती है ...**

उत्तर : नाटक से उपजती है। जब कोई खूब पूछता है कि किसकी कविता मुझे प्रभावित करती है, या किसकी कविता पर मुग्ध हुआ हूँ। केवल कविता कहना गलत होगा। कुछ नाटक देखे थे मैंने अल्पायु में। अच्छे लगे थे। केवल अच्छे लगे थे कहना गलत होगा, मैं आश्चर्यचकित हो गया था और मैंने बार-बार देखा था। कुछ नाटक मैंने उसी उम्र में देखे थे जिन्होंने उसी उम्र में मेरे जीवन की आधारशिला तैयार कर दी थी। उन नाटकों को श्रेष्ठ साहित्य या एक प्रकार का काव्य कहा जा सकता है। तब नाटकों को नहीं समझ पाया था। किन्तु यह जरूर समझा कि ये नाटक कितने प्रभावशाली हैं। इन नाटकों से प्रेरणा मिली थी।

**प्रश्न : यहाँ तो कई देशों की कविताओं से रूबरू होने का अवसर आपको मिला। अन्य देशों की कविताओं की तुलना में बांग्ला कविताओं का स्तर कैसा है?**

उत्तर : बांग्ला कविता का स्तर, यहाँ तक कि तरुण कवियों की कविताओं का स्तर, कहीं भी थोड़ा भी कम नहीं है। एवं यहाँ कविता जो स्तर मैं देख रहा हूँ कई मामले में तो इनसे उनका स्तर ऊँचा है। फिर भी मेरा एक भय है, जो अन्य जगह भी मैं देख रहा हूँ वह है कवि सम्मेलन का भय। जिस कविता को सभा में सुनकर श्रोता तत्काल वाह-वाह कर उठे, या आवृत्तिकार उनकी आवृत्ति करें, तो वाहवाही मिले, इस प्रकार की कविता लिखने का लोभ कवियों में होता है। यहाँ केरोलिन ब्राउन नाम की एक महिला से मेरी बात हुई, उन्होंने कई बांग्ला कविताओं का अनुवाद किया है। वे कोलकाता भी गई हैं। उन्होंने कोलकाता के कविता उत्सव की चर्चा की, प्रशंसा की। मैंने भी की। कई जगह से कवि आते हैं, काव्यपाठ होता है। एक प्रशंसनीय कार्य। लेकिन निन्दा की कि इससे लेखन से क्या मन नहीं हट जाता? कुछ तो

हटता ही है। लेखक के मन में बात आती है कि मैं पाठक के लिए लिख रहा हूँ। पाठक मेरी कविता को चाहते हैं इसलिए मैं उनके लिए लिखूँ। इससे कविता का घनत्व कम हो जाता है। यह हमारी कविता में खूब हो रहा है। तत्काल पाठक के साथ कम्युनिकेट करने पर जोर देने के कारण कविता की भाषा पर नियंत्रण नहीं रह गया है।

गणसंगीत या लोकगीत खूब जनप्रिय है। इससे क्या यह तर्क संगत होगा कि रागप्रधान संगीत खत्म हो जाए। कोई फिर यमन, दरबारी कनाड़ा का रियाज नहीं करेगा। इन सबको समझने में समय लगता है, काफी धैर्य चाहिए। लोगों की माँग के अनुरूप गाने से श्रोताओं को मोहा जा सकता है। लेकिन क्या यह गायन के लिए हितकारी होगा?

मुझे याद है सात-आठ साल पहले कोलकाता में कविता उत्सव हुआ था। वहाँ एक युवा कवि ने प्रश्न उठाया था कि एक कवि के लिए कविता में क्या-क्या होना अनुचित है और क्या क्या होना अहितकारी। कविता लिखने से ही कवि नहीं हुआ जा सकता। कविता से पहले कविता का बैकग्राउंड एवं कविता के नेपथ्य का दर्शन भी श्रोताओं को बताना चाहिए। बताना इसलिए चाहिए क्योंकि सिर्फ शब्द जाल पर ही श्रोता निर्भर रहे तो श्रोताओं को कुछ देर सोचना पड़ेगा। किन्तु यदि यह बता दिया जाए कि इस कविता के पीछे यह यह घटना है और कविता लिखने के पीछे यह दर्शन है तो श्रोताओं को यह सब नहीं सोचना पड़ेगा। वह कविता सुनकर श्रोताओं ने वाहवाही की थी।

**प्रश्न : इससे क्या यह नहीं लगता कि कविता स्वावलंबी नहीं है?**

उत्तर : इस प्रकार की किताबें भी हैं जिसमें कविता के पहले भूमिका देकर यह स्पष्ट किया गया है कि वह कविता क्यों लिखी गई। शंख घोष की 'कवितार मुहूर्त' की बात नहीं कर रहा हूँ - ये कविताएँ बहुत पहले लिखी गई थीं, लगभग 36 वर्षों की कविता - 1951 से 1989 तक। एक एक पुरानी कविताओं को लेकर वह पुस्तक निकाली गई थी।

इस पुस्तक में भूमिका की तरह कविता के पहले लिखा हुआ था, वह पुस्तक का ही अंश था, जिससे कि पाठक को समझने में असुविधा न हो। हाँ, इससे यह होता है कि वह जो आप स्वावलंबन देने की बात कर रहे थे - वह खत्म हो जाती है।

और एक भय होता है तरुण कवियों के मामले में। हमारे देश में कवि प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर एक प्रकार की पुनरावृत्ति का शिकार हो जाते हैं, होते हैं। विणु दे हुए हैं, शक्ति चट्टोपाध्याय हुए हैं। बुद्धदेव बसु के इससे संघर्ष से उबरने की बात हम जानते हैं। बुद्धदेव ने इस अवस्था से निकलने की कोशिश की थी। 'मर्च बड़ा पेरेकर गान' या 'स्वागत विदाय' जैसे काव्यग्रंथों के माध्यम से। जीवनानंद दास की कविता में प्रौढ़ावस्था में थोड़ा परिवर्तन हुआ था फिर तो उनकी मृत्यु ही हो गई। सुधीन्द्र दत्त ने लिखना बंद कर दिया था। आलोकरंजन दासगुप्त भी एक समय के बाद ..। मैं एक बात को महसूस करता हूँ कि इनकी कविता पढ़ते पढ़ते बड़ा हुआ, इनकी कविता पढ़ना मुझे अच्छा लगता है। एक उम्र के बाद मुझे लगता है कि एक पहचानी शैली, इनकी अपनी शैली बार-बार दिखाई देती है, इनकी लेखनी में। यही बन

चुका है इनका परिचय। लेकिन इन सबमें यह चालीस पैंतालीस वर्ष का होने के बाद हुआ। आज के तरुण कवियों में यह और जल्दी तो नहीं हो रहा? यह भी एक भय है नए कवियों को लेकर।

**प्रश्न : याद आ रही थी शंख के 'कविर कर्म' पुस्तक की बात।**

उत्तर : हाँ। कितनी छोटी एक किताब। लेकिन कितनी महत्वपूर्ण।

**प्रश्न : बंगाल में बच्चों के लिए लिखने की अच्छी परंपरा थी, लगता है उसका धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। आपने क्या बच्चों के लिए लिखने की बात कभी सोची है?**

उत्तर : बच्चों के लिए साल में एक बार 'आनंदमेला' में लिखता हूँ, किन्तु वह बच्चों की कविता नहीं होती। एक बार 'दादाभाईदेर पाड़ा' नामकी एक किताब लिखी थी। उसमें बच्चों की बात थी। देखूँ यदि कभी हो सका तो बच्चों के लिए लिखूँगा। लेकिन बच्चों के लिए लिख पाऊँगा, यह नहीं लगता। मेरे मन की स्थाई जलवायु है वितृष्णा। मैं हो सकता है कि हँसी-मजाक कर लूँ, लेकिन मेरे भीतर हर समय वितृष्णा रहती है। विषाद का अभ्यास हो चला है और इसे लेकर मैं स्वयं को समृद्ध भी महसूस करता हूँ और विरक्त भी। कितने ही वर्ष हो गए फिर भी इसे दूर नहीं कर सका। प्रत्याशाशून्य मन लेकर मैं लोगों के साथ घुलमिल नहीं सका। महसूस होता है कि मुझमें कोई बड़ी कमी है, कोई गड़बड़ी है। मन के भीतर इतनी वितृष्णा होने की वजह से बच्चों के लिए लिखना मुश्किल है।

**प्रश्न : पाठकों से तो बीच-बीच में आपका संपर्क होता होगा?**

उत्तर : हाँ। होता है।

**प्रश्न : उनसे कैसा संबंध है?**

उत्तर : जीवन का अन्यतम श्रेष्ठ संबंध। पाठकों से जो प्यार मिला है वह अकल्पनीय है। सोचकर अवाक् हो जाता हूँ कि ऐसा तो कुछ किया नहीं। बांग्ला में कविता लिखी है। हाँ मैं कवि पाठकों की बात नहीं कर रहा। पाठक चाहे खराब बोलें, चाहे अच्छा। लेकिन जब भी नया कुछ लिखने जाता हूँ, वह मेरी मदद नहीं करता। फिर से मुझे शून्य से शुरू करना होता है।

# जांसकरी घोड़े वाले

विजय गौड़

कुल्लू रारिक जाने वाली बस के दारचा पहुँचते ही, दारचा में हलचल-सी आ गयी। बस के ऊपर दिखायी देते पिट्ठुओं की चमक दारचा के दुकानदारों, जांसकारी घोड़े वालों के लिए उम्मीद की किरण थी। पिट्ठू वाले यात्रियों से ही रोजगार की उम्मीद की जा सकती है। यही वजह है कि बस के रुकते ही उतरते यात्रियों से संपर्क साध लेने की होड़ उनमें लगी ही रहती। साल के तीन महीनों में दराचा का माहौल कुछ यूँ होता कि लेह तक जाने वाला कोई भी यात्री कुछ देर के लिए दारचा में रुकना ही चाहता। तभी तो ढाबे के पीछे वाले हिस्से पर नदी के किनारे जब जांसकर घोड़े वालों की टैन्टनुमा पोलीथीन की चमक बिखरने लगी तो किसी ट्रैवल एजेन्सी ने टैन्ट कालोनी ही गाड़ दी। जहाँ अक्सर दूर मैदानों से आने वाले या फिर विदेशों से आने वाले यात्री दल रुककर विश्राम करते। चारों ओर पहाड़ों से घिरे दारचा के इस छोटे से मैदान में रात भर टैन्ट में रुकना उन्हें रोमांचकारी लगता। पहाड़ों की आबो-हवा उन्हें सुंदर लगती। बर्फीली चोटियों की तस्वीरें उतारते-उतारते उनके कैमरे थक जाते। पर उनकी निगाहें किसी भी क्षण को कैद करने के लिए उतावली ही रहती। यात्रियों के पास तरह-तरह के उपकरण, वस्त्र और अन्य सामानों को देख-देखकर भीड़ जमा रहती। यात्रियों की अप्रत्याशित हरकते भले ही उल-जुलूल हों, तो भी उनसे लुत्फ उठाने की कोशिश की जाती। पहुँचे हुए यात्रियों से रोजगार की उम्मीद में दारचा वासी, जांसकरी घोड़े वाले यात्रियों के सामने याचक बने रहते। सीजन के खत्म होते ही दुकानदार तो दुकानों को बन्द कर अपने-अपने घर कुल्लू, मनाली अैर लाहौल को निकल जाते और जांसकरी अपने जांसकर में ही कैद हो जाते। वैसे कैद तो

लाहौल वालों को भी होना पड़ता। रोहतांग पर बर्फ के पड़ते ही लेह जाने वाली यात्रायें रुक जातीं। पर जांसकरियों की दुनिया तो एक बड़ी डिबिया में कैद दूसरी छोटी डिबिया ही है। उस वक्त बर्फ ही बर्फ दारचा में दुकानदार और ग्राहक होती। मनाली के ट्रैवल एजेन्टों का नुमाईंदा दारचा गाँव का फौजी दुकानदार तब भी अपनी दुकान के दरवाजे पर पड़ी हुई बर्फ को साफ करता ही होता। ढाबे वालों की चाह होती की यात्री उनके ही ढाबे में रुके, खाना खाये। जांसकरियों की प्राथमिकता होती कि उनके जांसकर को जाने वाले यात्री उनके ही घोड़ों को बुक कर लें। जांसकर जांसकरियों का है। इसलिए जांसकर में जाने वाले यात्रियों पर पहला अधिकार जांसकरियों का हो।

फौजी की निगाहें जांसकरियों पर ही रहती कि कहीं कोई जांसकरी यूनियन की परची कटाये बिना ही टीम को बुक कर न निकल जाये। जांसकरी थे कि फौजी की चालाक निगाहों से बच कर निकल ही जाते। इसीलिए एक घोड़े पर प्रतिदिन के हिसाब से दस रुपये, यूनियन की परची काटने वाला फौजी उन्हें अपना दुश्मन ही जान पडता। यात्रियों को ले जाने वाले कुल्लू, कांगड़ा, और स्पीति के घोड़ों वाले उन्हें अपने विरोधी लगने लगते। ढाबे वाली भौजू जो अक्सर फौजी को जांसकरियों की एक एक सूचना पहुँचाती, बावजूद अपने सौम्य चेहरे के उन्हें अच्छी नहीं लगती। इस तरह से देखें तो दारचा का हर दुकानदार, बाजार में घूमने वाले दारचावासी और मनाली से ही टीम को बुक करके चलने वाले कुक, गाईड और घोड़े वाले तक उन्हें अपने दुश्मन नजर आते। जांसकरियों से उनकी दूरी हमेशा बनी रहती। वैसे अगर जांसकारी वालें के बदन से उठने वाली गंध दारचा वालों को अच्छी नहीं लगती। जांसकरियों के जाहिलपन से खुद को बचाते हुए दारचा वाले तमाम जांसकरियों पर फब्तियाँ कसते हुए उन्हें दुत्कारते रहते। इधर जब से जांसकर वालों ने उनकी दुकानों में खाली बैठने की बजाय चाय पी लेने, खाना खा लेने के बदले पैसा देना शुरू किया तो कई बार उनका यूँही बैठा रहना भी दुकान वालों को बरदास्त करना ही पड़ता। वैसे रोहतांग के पार लेह लद्दाख की यात्राओं पर निकलने वाले यात्री और अभियान दल के लोगों को यह गंध रोहतांग के पार से ही दिखायी देने लगती। रोहतांग पार के लोगों का जाहिलपन बाहर से आये हुए यात्रियों की आँखों में उसी तरह रहता जैसे दारचा वालों की निगाहों में जांसकरियों का। इसीलिए तो मात्र भौजू का सामिप्य ही दारचा में अभियान दल का ठौर होता। हालाँकि भौजू के पति (जिसके कारण ही वह भौजू कहलाती) से भी उसी गंध को अभियान दल के सदस्य महसूस करते। तो भी चपटी नाक, गोरा चेहरा, लाल-लाल गाल और कांसे की थाली पर किसी पेड़ से ताजी तोड़ी गयी टहनी की चोट से पैदा होने वाली खनकती आवाज भौजू का ऐसा व्यक्तित्व गढ़ते जो अभियान दल को भा गया था। यह घटना उस समय की थी जब गर्मियों के दिन थे। पर यह कह पाने की हिम्मत सिर्फ रोहतांग पार के लोग ही कर सकते थे। वरना अभियान दलों की क्या मजाल कि जैकेट बदन पर चढ़ाकर गर्मियों के मौसम के बारे में सोच भी सकें। गरम कपड़े पहने होते हुए भी रोहतांग पार के लोग ही जानते थे कि गर्मियाँ शुरू हो चुकी हैं। पहाड़ों पर बर्फ गल चुकी है। रोहतांग

खुल चुका है और लेह को जाने वाली यात्रायें चालू हैं। अभियान दल जांसकर की यात्रा पर निकला था और दारचा में ही रुका था। उस समय दारचा में ऐसी चहल पहल नहीं थी। एक मात्र दुकान फौजी की ही थी। फौज से रिटायर हो जाने के बाद दारचा पुल के किनारे ही दैनिक रूप से जरूरत पड़ने वाले सामान की दुकान उसने खोल दी थी। भौजू का ढाबा बिना किसी साईन बोर्ड के था। उस समय दो दिन दारचा में ही रुका था अभियान दल। जांसकर जाने के लिए पोर्टरों की व्यवस्था दारचा में ही करनी थी। अनुमान था कि दारचा में व्यवस्था हो जायेगी तभी तो मनाली बस स्टैण्ड में घूमने वाले पोर्टरों एजेन्टों और घोड़े वालों से कोई बात नहीं की। पर सुनसान दारचा में पुलिस चैक पोस्ट पर दो पुलिस वालों और फौजी दुकानदार से ही मुलाकात हुई। फौजी ने दल की दिक्कत जानते हुए तुरन्त दारचा गाँव के एक लड़के को घोड़ों के वास्ते चन्द्रताल रवाना कर दिया। लेह की ओर से आते ट्रक पर चढ़ कर लड़का कोकसर से चन्द्रताल चला गया जहाँ कांगड़ा का गद्दी चतर सिंह अपनी भेड़ों के साथ था। फौजी के संदेश पर अगले रोज शाम तक ही घोड़े दौड़ाता हुआ वह सीधे दारचा पहुँचा। भौजू के ढाबे में बैठकर ही फौजी ने चतर सिंह से भाड़ा तय किया। एक घोड़े का 150 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से भाड़ा तय हुआ। साथ में चतर सिंह का खाना-पीना भी।

जांसकारी जानते हैं कि सरकारी बसों से आने वाले यात्रियों से ही उम्मीद की जा सकती है। वरना चमचमाती गाड़ियों पर आने वाले अभियान दल तो पोर्टर, कुली, घोड़े वाले, कुक और गाईड तक का इंतजाम करके दुनिया के किसी भी कोने से निश्चिंत होकर ही चलते। यह जानने के लिए शुरू के वे दिन ही काफी थे जब जांसकरियों ने अपने घोड़ों के साथ अभियान दलों को जांसकर ले जाना शुरू ही किया था। जांसकारी हमेशा इस बात पर हैरान रहते कि इतने घोड़े वाले कहाँ बैठे हैं जो हर आती हुई टीम का सामान ढोने को तैयार हैं? संचार माध्यम पर होने वाले सौदों से अन्जान जांसकरियों के लिए यह कौतुहल का विषय था। लामा भी इस रहस्य से अन्जान ही रहा। लामा के कहने पर ही पिछले दो सालों से जांसकरियों ने दारचा में आकर टीम को बुक करने जांसकर तक पोर्टरगिरी का काम शुरू किया था। उस वक्त तो मात्र चार लोग ही जांसकर से दारचा के लिए अपने चार घोड़ों के साथ चले थे। लामा के अलावा बाकी सभी ने पहली बार सिंगोला पास को पार किया था। दुर्गम चढ़ाई और उतराई को पार करते हुए बदन जरूर टूटने लगे थे पर दारचा पहुँचने का उत्साह गोम्पेल, तेन्जिंग और छुवेगा को लामा के पीछे घोड़े दौड़ाने को उकसाता रहा। सिंगोला पर बर्फ ही बर्फ फैली हुई थी। पास की नजदीक सिमटी हुई चोटियों को सभी साथियों ने निहारा था। इससे पहले पिघलती हुई बर्फ को कारगियाक दरिया में पानी के रूप में ही देखा था उन्होंने। बर्फ के पहाड़ों को पिघलते हुए देखने का अनुभव सिर्फ लामा के पास ही था। बाकी सभी तो सम्मोहित से लामा के पीछे-पीछे सिंगोला पर चढ़ गये। जांसकर की कठिनाईयों का जबरदस्त पहाड़ सिंगोला पास लामा और उसके साथियों के कदमों के नीचे था।

जांसकरी युवाओं के लिए लामा का व्यक्तित्व आदर्श बनता जा रहा था और तांग्जे

गाँव के गोम्पेल के बजाय वह लामा के रूप में जाना जाने लगा। यद्यपि वह लामा नहीं था तो भी जांसकर घाटी के ज्यादातर लोग उसे लामा ही पुकारने लगे थे। बंग्लौर से अपनी शिक्षा अधूरी छोड़कर ही गोम्पेल को जांसकर वापस लौटना पड़ा था। बंग्लौर के बौद्ध विहार में बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण कर लामा बनना था उसे। गोम्पेल के पिता का सपना अपने सबसे छोटे लड़के को लामा बनाने का ही था। पर आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण हाथ पीछे खींचना पड़ा। दलाई लामा के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर लिया गया उनका यह फैसला सारे जांसकर वालों का सपना की बना रहा। जिस वर्ष दलाई लामा पुख्ताल गोम्पा आये, सारी जांसकरी जनता अपने धर्म गुरू के आकर्षण में खिंची चली गयी। दलाई लामा के व्यक्तित्व ने उन्हें प्रभावित ही नहीं किया, एक आदर्श भी दे दिया। अपने-अपने लड़कों को बौद्ध दर्शन की शिक्षा का सपना संजोये सभी इस जुगत में लगे रहे कि कम से कम एक लड़के को तो लामा बनाना ही है। लेकिन इस  सपने को मूर्तता दे पाने की हिम्मत सिर्फ तांग्जे गाँव के गोम्पेल के पिता ही कर पाये। उस दिन वे बेहद क्षुब्ध हुए जब गोम्पेल को अपनी अधूरी शिक्षा के साथ ही उन्हें जांसकर में रोकना पड़ गया। तो भी जांसकीरयों का लामा तो वो हो ही गया। जांसकर वापिस लौटने के बाद लगभग एक वर्ष तक यूँ ही चौरू और याक के पीछे दौड़ता रहा। डोक्सा चारागाह, में जानवरों के साथ बैठे हुए लामा ने ढेरों यात्रियों को जांसकर में भ्रमण करते हुए देखा। यात्री दलों के साथ घोड़ों वालों को देखकर उसने विचार किया कि यदि जांसकर के लोग भी यात्री दलों के साथ अपने घोड़े लेकर निकले तो जांसकर घाटी के युवाओं को रोजगार मिल सकता है और तंगहाली के दिनों को कम किया जा सकता है। पर अपने इस विचार को जांसकर वालों के सामने रखने पर उसे हास्यास्पद स्थिति का सामना करना पड़ा था - - 'जासंकरी क्यों कर यात्री दलों की जूठन खायें?' किसी बुजुर्ग के इस कथन पर वह तिलमिला गया जबकि जांसकर के बच्चे, बूढ़े और स्त्री पुरुषों को उसने यात्री दलों के पीछे हाथ फैलाये अपनी आँख से देखा था। गाँव के नजदीक से गुजरते यात्री दलों के पीछे-पीछे बच्चों का - - ' जूले। आच्वे बोम बोम्ब' करते हुए दौड़ना उसे अच्छा नहीं लगता। यात्री दल बच्चों को टाफी पकड़ाते हुए खिलखिलाते और जांसकीरयों की निगाहों में दाता बन जाते। उनका इठलाते हुए चलना, विदेशी यात्रियों का गाँव वालों के सामने मसखरापन करना उसे भीतर तक कचोट देते। उस समय भले ही मसखरापन यात्री दल का सदस्य रहा होता पर उसे लगता कि मसखरापन करते हुए भी यात्री दल तो अभिजात्य ही हैं जबकि दर्शक बना हुआ जांसकरी ही उसे मसखरा दिखायी देता। जांसकरियों को मसखरेपन से बाहर निकालने की तीव्र इच्छा उसके भीतर जन्म लेने लगी। इसी वजह से बहुत आकर्षक व्यक्तित्व न होने के बावजूद भी हम उम्र जांसकरियों को लामा प्रभावित करने लगा। लामा के कहने पर गाँव-गाँव में उनकी टोलियाँ बन गयी जो जांसकर में यात्रा करने वाले यात्रियों से कैम्पिंग चार्ज की माँग करने लगी। शुरू-शुरू में जरूर दिक्कत आयी। यात्री दल तो कैम्पिंग चार्ज दें या न दें पर उनके साथ चल रहे घोड़े वाले जो या तो कांगड़ा के होते स्पीति के या फिर कुल्लू के झगड़ने लगते। लेकिन धीरे-धीरे स्थितियाँ

बदलने लगीं। लगातार प्रतिरोध के बाद कैम्पिंग चार्ज के रूप में आय का स्रोत बनने लगा और लामा जांसकरी युवाओं का नेता होता चला गया। यात्रियों के लिए कैम्पिंग स्थान को साफ-सुथरा रखना, खेतों को तीन महीने के लिए खाली छोड़ देना उसी के इशारे पर शुरू हुआ। हालाँकि टैन्टों के लिए ज्यादातर समतल जमीनों को ही चुना गया जो बावजूद बहुत अच्छी खेती के न होने पर भी अच्छे कहे जा सकते थे। तो भी खेतों में पैदा होने वाले आलू मटर या धान के बजाय कैम्पिंग चार्ज से नकद मुद्रा पैदा होने लगी। लामा के लिए अपने साथियों को पोर्टर के रूप में दारचा तक ले जा पाने का रास्ता सहज हो गया। नाम्बगिल, छुवेगा और तेन्जिंग अपने-अपने घोड़े लेकर लामा के साथ दारचा पहुँचे थे। उस दिन अचानक से जांसकरियों को अपने घोड़ों के साथ दारचा में देखकर फौजी चौंका था! भौजू, फौजी और चतर सिंह को जब मालूम हुआ कि यात्री दल को बुक करने के वास्ते जांसकरी दारचा आये हैं तो उनकी हँसी का ठिकाना न रहा। उनकी निगाहों में जाहिल जांसकरी अभिजात्य अभियान दलों के साथ जायेंगे? यह सोच-सोचकर उनकी हिकारत खिल-खिलाहट बनकर दारचा में बिखरने लगी। जांसकर से बाहर जांसकर के युवाओं का रोजगार के वास्ते यह पहला कदम कहा जा सकता है। दारचा में पहुँचे हुए जांसकरी दारचा वासियों को अजूबे-से दिखे। उनके टल्ले लगे कपड़ों से उठने वाली गंध की वजह से वे उन्हें दुतकारते रहते।

दारचा तक इस रफ्तार से पहुँचे थे जांसकरी मानो कोई अभियान दल वहीं बैठा उनका इंतजार कर रहा हो और उनके पहुँचते ही घोड़ों को बुक कर ले चलेगा। दारचा पर जब वे पहुँचे, हवायें चल रही थीं। धूप तेज थी। फौजी अपनी दुकान में बैठा था और भौजू के ढाबे के आगे कोई ट्रक खड़ा था। ट्रक ड्राइवर और उसके साथी भोजन कर रहे थे। पूरा दिन दारचा नदी पर बने पुल के इधर-उधर घूमते हुए ही बीता। घोड़े वहीं आस-पास घास चरने रहे। रात घिरने लगी तो लामा ने साथ लायी हुई पोलीथीन को एक पेड़ के सहारे बाँध कर टैन्टनुमा आकार दिया। भोजन का प्रबंध कहाँ से हो। जेब में पैसा किसी के पास नहीं था। थके-मांदे सभी एक दूसरे के ऊपर कुत्ते के बच्चों की तरह दुबक गये। उसे दिन भौजू ने ही टेन्ट में दुबके हुए जांसकरी को बचा हुआ भोजन कराया था। तभी तो भौजू की अपने प्रति गुप्त कार्यवाहियों को जानते हुए भी वे एक तरह की कृतज्ञता से भरे रहते। भोजन के बदले में उन्होंने भौजू के साथ बर्तनों को साफ करवा दिया। नाम्बगिल ने तो सुबह उठकर दिन भर इस्तेमाल होने वाला पानी भी भरकर भौजू के ढाबे में रख छोड़ा।

दोपहर के वक्त तेन्जिंग ने घोड़ों को रारिक से ऊपर पलामू में छोड़ दिया ताकि उन्हें घास नसीब हो सके और वे सभी साथी यूँ ही मण्डराते रहे। जांसकर जाने वाली एक टीम जब पुलिस चैक पोस्ट पर रुकी तो चारों दौड़ते हुए पुलिस चैक पोस्ट तक पहुँच गये। अभियान दल के नजदीक पहुँचकर आँखों में संवाद स्थापित करने की चमक भी उन्हें अभियान दल से संपर्क साध पाने में सफल न हो पायी। अभियान दल का जरूरी सामान लेकर चलने चाले घोड़े सुबह ही दारचा पहुँच चुके थे। नदी किनारे उनका टैन्ट गड़ चुका था। विदेशी लोगों के साथ उन्हीं की

भाषा में बतियाता एक भारतीय चेहरे वाला व्यक्ति भी उतरा और वे सभी अपने टैन्टों की ओर बढ़ लिए। अभियान दल के साथ तीन लड़कियाँ भी थीं। उनके मायूस चेहरों पर जांसकरियों से संवाद स्थापित करने की ललक दिखायी दी लेकिन भाषा आड़े आती रही। अगले रोज अभियान दल अपने लाव लश्कर के साथ रारिक की ओर वाली ढलान पर उपर उठता हुआ दूर निकल गया। उसके अगले रोज और उसके भी अगले रोज दो तीन टीमें और आयी और आगे निकल गयी। जांसकरी हैरान हो गये कि इस सूने दारचा में अभियान दल को कहां से एक साथ इतने घोड़े तुरन्त मिलते जा रहे हैं। लामा की योजना उन्हें बर्फ से घिरे पास पर पत्थर ढूँढने जैसी लगी। कहीं कोई यात्री ऐसा नहीं आया जिसने उनसे घोड़ों के लिए पूछा भी हो। चतर सिंह भी अपने घोड़ों को लेकर एक अभियान दल के साथ लामायेरू निकल चुका था। फौजी और भौजू जांसकरियों पर हँसते रहे।

जांसकरी परेशान हो गये। खाना भी पर्याप्त न मिल पाने की वजह से शरीर दुबला गये। तेन्जिंग तो उम्र में सबसे छोटा ही था उसका मन हुआ कि वापिस अपने जांसकर लौट जाये। हताश और निराश होने के लिए दो दिन ही काफी थे। यहाँ तो पूर आठ दिन बीत गये। हर आने वाले अभियान दल के सामानों को उत्सुक निगाहों से ताकते जांसकरी यात्रियों का माल उनके वाहनों से उतारने की स्वैच्छिक बेगार करते रहे। लामा भी भीतर ही भीतर निराश हो चुका था। उसकी दिक्कत थी कि अपनी निराशा को साथियों के सामने नहीं रख सकता था। शाम को कुल्लू से रारिक आती हुई बस में रंग बिरंगे पिट्ठू दिखायी दिये। एक हल्की सी उम्मीद की लकीर दिखायी दी। तो भी पुलिस चैक पोस्ट पर रुकी हुई बस तक जाने की इच्छा किसी की नहीं हुई। जब भौजू के ढाबे के नजदीक बस आकर रुकी तो पाँच हिन्दुस्तानी चेहरे जिनके चेहरों पर अभियान दल की सी चमक भले ही नहीं थी तो भी उनके रंग ढंग अभियान दल जैसे ही थे। नीचे उतरे। नाम्बगिल बस के ऊपर चढ़ कर पिट्ठू उतरवाने में उनकी मदद करने लगा। अभियान दल को उतारकर बस रारिक चली गयी। दारचा में एक निगाह डालकर सभी साथियों ने अंगड़ाईयाँ लीं। फौजी उनके नजदीक पहुँच गया। भौजू तो अपने ढाबे से बाहर आकर उत्सुकता से ही देखती रही। उसी बीच घोड़ों के संबंध में की गयी बात लामा के कानों में पड़ गयी। उम्मीद की लकीर थोड़ी साफ होती हुई लगी। सुनी गयी बात जब उसने अपने साथियों को बतायी तो सभी के चेहरे खिल गये। उनकी छोटी-छोटी आँखें थोड़ा ज्यादा खुलने को हुई। दाँत निपोरती हँसी और वे अभियान दल के साथियों के इर्द-गिर्द घूमने लगे। संवाद भले ही स्थापित नहीं हो पा रहा था तो भी एक नजदीकी बनती गयी। भौजू के ढाबे में चाय पीने के बाद दो साथी बाहर आये और टैन्ट के लिए जगह तलाशने लगे। जांसकरी उनके पीछे-पीछे ही थे। उनमें से जब एक साथी ने टैन्ट की जगह के लिए यूँ ही पूछ लिया तो लामा ने कमान संभाल ली और नदी किनारे सड़क के दोनों ओर के मैदान को दिखाता रहा। जांसकरियों के टैन्ट के नजदीक ही उन्होंने टैन्ट गाड़ने का निश्चय किया। नाम्बगिल, छुवेगा और तेन्जिंग ने दौड़ कर उनके पिट्ठू उठाये और लाकर रख दिये। रात विश्राम के वक्त

अभियान दल ने दो घोड़ों की डिमान्ड जांसकरियों के सामने रखी। जबकि जांसकरियों के पास चार घोड़े थे। दो घोड़े किसके हवाले छोड़े जायें। अन्ततः लामा के सुझाव को चारों साथियों ने मान लिया कि नाम्बगिल और तेन्जिंग अपने-अपने घोड़ों को लेकर अभियान दल के साथ निकल जायें। एक घोड़े का किराया क्या होगा? उनके पास इस बात का कोई तर्जुबा नहीं था। लिहाजा अभियान दल के सुझाव पर ही दो घोड़े का बीस दिन के वास्ते दल ने 1600 रु. देने का वायदा किया। फौजी ने सुना तो उसकी भौंहे तन गयीं। उसके हिसाब से एक घोड़ा मात्र 80 रु. में ही बुक हुआ था। जबकि 120 रु. से कम में तो वह एक घोड़ा भी नहीं देता और वो भी इस शर्त पर कि कम से कम पाँच घोड़े एक साथ बुक हो रहे हों। वरना एक घोड़े का चार्ज तो 150 रु. है। फौजी का यह रेट मनाली में बैठे घोड़ा यूनियन वालों का रेट था।

जब नाम्बगिल और तेन्जिंग अपने घोड़ों के साथ निकल रहे थे तो फौजी ने रोक दिया - 'यूनियन की पर्ची कटवानी पड़ेगी।' जांसकरी सकते में आ गये। फौजी का आदेश था कि दारचा से कोई भी घोड़ा बिना यूनियन की पर्ची कटाये नहीं निकल सकता। एक घोड़े पर प्रत्येक दिन के हिसाब से 10 रु. यूनियन शुल्क। भौजू भी फौजी के साथ हामी भरने लगी। बात तकरार तक पहुँच गयी। पुलिस चैक पोस्ट से चाय पीने के बहाने भौजू के ढाबे में बैठे पुलिस वाले ने सुना तो डंडा फटकारते हुए बाहर आया। खाकी वर्दी के सामने जांसकरियों की घिग्घी बंद हो गयी। यह बात मनाली में बैठे ट्रैवल ऐजन्टों तक पहुँच गयी। उसके बाद मनाली से समय बे समय ट्रैवल एजेन्ट खुद बीच-बीच में दारचा पहुँचने लगे। चैक पोस्ट में सिपाहियों के पास बैठते, भौजू से मिलते और फौजी से हाल समाचार जानकर वापस मनाली चले जाते। वही दिन था और आज का दिन है। डरे सहमे से जांकसरी चोरी छिपे ही टीम को बुक करने की कोशिश करते। लौटने पर जरूर तू-तू, मैं-मैं होती।

बस जैसे ही दारचा में रुकी ढाबे से बाहर झाँकती भौजू के चेहरे पर चमक फैल गयी। बस की खिड़की से बाहर झाँकते यात्री ने जब भौजू को देखा तो चार साल पहले वाली मुलाकात याद आ गयी। उस वक्त भौजू के ढाबे में ही दो दिन भोजन किया था। बाहर झाँक रहे यात्री ने बस के भीतर बैठे अपने सभी साथियों को भौजू के उपस्थिति होने की सूचना दी। भौजू का आत्मीय व्यवहार सभी की स्मृतियों में था। तेजी से बस से उतर कर वह भौजू के पास पहुँच गया। ऐसा लगा मानो भौजू ने पहचान लिया हो हालाँकि भौजू के इस व्यवहार से भी वह परिचित ही था कि हर अन्जान व्यक्ति से भी वह इस तरह से मिलती मानो वर्षों से जानती हो। एक एक कर सभी साथी नीचे उतर कर भौजू के पास ही आकर बतियाने लगे। बस से सामान उतारने की भी सुध उन्हें नहीं रही। तो भी सामान तो उतर ही रहा था। उपर से पिट्ठुओं को नीचे पकड़ाते नाम्बगिल ने जब देखा तो वह ठिठक गया। यात्री दल के सदस्यों का भौजू के साथ इतनी आत्मीयता से मिलना उसे अपने मिले हुए रोजगार के छिन जाने सा लगा। लामा भी चौंक गया। हालाँकि जिस्पा से ही बस में चढ़कर उसने जान लिया था कि उन्हें तीन घोड़ों की जरूरत है। बस में चढ़े हुए नाम्बगिल ने लामा से यात्रियों की हुई बातचीत को जानना चाहा, लामा कुछ

नहीं बोला। अभियान दल के उस सदस्य से संपर्क साधने का अवसर तलाशने लगा जिससे उसने बस में घोड़ों के संबंध में बात की थी। जबकि दल के सभी सदस्य भौजू से इस तरह से गपिया रहे थे मानो वर्षों के बिछुड़े मिल रहे हों। दारचा में जांसकरी घोड़ो वालों की भीड़ को देखकर वे आश्वस्त थे कि सौदा सस्ते ही पट जायेगा। इसीलिए दल के मुखिया की हिदायत हो गयी थी कि कोई भी साथी अभी किसी घोड़े वाले को फाईनल न करे। सभी साथियों ने अपने-अपने पिट्ठू उठाये और भौजू के ढाबे में घुस गये।

*विजय गौड़ पूरे युवा हैं यायावर हैं और लिखना वहुत कम करते हैं। नाटकों में रुचि है और नाटक निर्देशित मंचित करते हैं। रक्षा उत्पादन के एक कारखाने में काम करते हैं देहरादून में रहते हैं। जब अवसर मिलता है हिमालय का भ्रमण करते हैं। वामपंथी विचारों के और पहल के सर्पोटर हैं। अपनी इस रचना को एक हद तक वे कहानी मानते हैं पर हम उसे ट्रेवलॉग के रूप में छाप रहे हैं।*
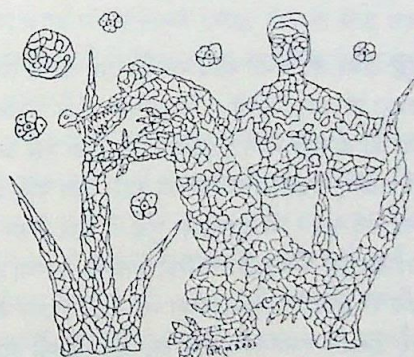
# विचार में जो बिंध नहीं सका

## 1998 - 99

नरेन्द्र मोहन

## 1998

**15 मार्च** : मुझे अँधेरे बंद कमरे पसंद नहीं हैं। ऐसा कमरा कतई नहीं जो बंद गली के आखिर में हो। वह कमरा ही क्या जिसमें न खिड़कियाँ हों न गवाक्ष। कमरे में धूप का फुदकते हुए आना और हवा का चौकड़ी भरते हुए आते-जाते रहना मुझे अच्छा लगता है। कमरे से आकाश मुझे दिखना ही चाहिए, पेड़ भी। परिन्दों की उड़ान और पक्षियों का चहचहाना मुझे प्रिय लगता है। मेरे लिए यह सब सृजन का हिस्सा है। मुझ से शुरू होकर मुझमें खत्म हो जाने वाली प्रक्रिया नहीं है सृजन। वह मुझ में पलती-परवरिश पाती रह कर भी बाहर की तरह हो कर जीती है। हद से बेहद, अन्त से अन्तहीन होना इसका स्वभाव है। पता नहीं क्यों कुछ लेखक इसे 'घोर वैयक्तिक' और 'नितांत एकांतिक' मान लेते हैं? कितनी भी स्वायत्त क्यों न हो साहित्य और कलाओं की दुनिया, बाहर की तरफ खुलकर और अन्त को झुठला कर ही विभिन्न अर्थों में प्रकाशित होती है।

साहित्य और कलाओं की दुनिया बुनियादी तौर पर एक है क्योंकि मूल में सृजन है। कोई लेखक जब कविता के साथ-साथ नाटक या उपन्यास भी लिखता हो तो वह शब्दों के बल पर अलग-अलग माध्यमों में, एक ही सृजन प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। इसी तरह विभिन्न कलाओं-चित्र-कला, संगीत-कला, नृत्य-कला, अभिनय-कला आदि में भी मौलिक तत्व वही होते हैं।

साहित्य और कलाओं में एक गहरा सह-संबंध है जिसे संवेदनशील कलाकार कभी

टूटने नहीं देता। अभिनय-कला, (रंगमंच) फोटोग्राफी और चित्र-कला के साथ मैं जैसे-तैसे जुड़ा रहा हूँ। इस जुड़ाव से मैं समृद्ध हुआ हूँ और कलाओं के अंतरावलंबन के प्रति मेरी आस्था बढ़ी है। हम जानते ही हैं कि 'नाट्य' में विभिन्न कलाओं का अपूर्व मेल रहता है। इसे मैंने कई नाटकों की प्रस्तुतियों के दौरान ही नहीं, अपने नाटकों की प्रस्तुतियों को देखते हुए भी महसूस किया है। 'नाटक खेले जाने के लिए है' जैसा सामान्य कथन नाटककार के लिए तभी अर्थपूर्ण होता है जब वह नाटकों के प्रयोग देखता है। नाटक को, नाटकीय शब्द को अभिनय में, गतियों और दृश्यों में ढलते देखना, अन्य कलाओं के सहयोग से उसे नाट्य-रूप में परिकल्पित करना है। इसीलिए हर नाटककार में यह ललक रहती है कि छपने से पहले उसकी नाट्य-कृति खेली जाए ताकि वह शब्दों को अभिनय का हिस्सा बना हुआ देख सके और उस अनुभव के बाद अगर कुछ परिवर्तन करने की जरूरत हो तो कर सके। प्रस्तुतियों के दौरान मैंने इसे जाना समझा है।

**20 मार्च** : आज गोरखपुर पहली बार आया हूँ जबकि यह शहर बातचीत में और पत्र-व्यवहार में कई बार आता रहा है। रामदरश मिश्र गोरखपुर के किसी करीबी गाँव डुमरी के हैं जो उनके व्यक्तित्व और रचनाओं का स्थायी राग है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, परमानंद श्रीवास्तव, गिरीश रस्तोगी यहाँ के स्थायी लेखक हैं। गोरखपुर का नाम लेते ही, ये बरबस याद आते हैं। दीनदयाल उपाध्याय की मौखिकी परीक्षा लेने के लिए आया हूँ। उसने नेमिजी के साहित्य पर अच्छा काम किया है गिरीश रस्तोगी के निर्देशन में। जागरूक लड़का है। अच्छा काम करने की उसमें क्षमता है।

शाम को 'अभंग-गाथा' का वाचन गिरीश रस्तोगी की रंग-संस्था 'रंगायन' द्वारा। शहर के लगभग सभी लेखक-रंगकर्मी आए हैं। गिरीश रस्तोगी, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रामचन्द्र तिवारी ने नाटक के कई पहलुओं पर, खासतौर पर अभंग के संगीत पर विचार व्यक्त किए। दिल्ली से अश्विनी शास्त्री यहाँ पहुँचा हुआ है। कभी उसने 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' में कबीर की मुख्य भूमिका निभायी थी। आज उसने रंग दृष्टि संबंधी कई बातें सुझाईं।

नाटक में सत्रहवीं शताब्दी का यथार्थ और आज का यथार्थ कैसे एक हो गये हैं, इस संबंध में डॉ. राम चन्द्र तिवारी ने विस्तृत टिप्पणी की। सपाटता और वर्णनात्मकता से बचाकर लेखक ने नाट्य-भाषा की सर्जनात्मकता को कैसे हासिल किया है, इसे कृष्णलाल ने कई प्रसंगों की व्याख्या करते हुए बताया।

**16 अप्रैल** : (शिमला) आज यहाँ आया हूँ एक महीने के लिए। 'भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान' में विजिटिंग प्रोफेसर के तौर पर आमन्त्रित किया गया हूँ, 'विभाजन और भारतीय कहानियाँ' विषय पर तीन व्याख्यान देने के लिए। अनुराधा साथ हैं। मैंने जैसा चाहा, मेस के ठीक ऊपर एक कमरा हमारे लिए रिजर्व रखा गया है। सूना-सूना सा है इन दिनों यहाँ। सर्दी में लोग नीचे उतर जाते हैं - दिल्ली में और दूसरी जगहों पर घरों में और फिर धीरे-धीरे आते-

जाते हैं। सुना है कृष्णा सोबती किसी सेमिनार के लिए दिल्ली गई हुई हैं। और राजी सेठ परिवार में, दिल्ली। शाम को अनुराधा के साथ टहलने निकला तो देखा निरंजन तसनीम गेस्ट हाऊस की तरफ चला आ रहा है। मैंने आवाज दी, उसने पलटकर देखा और भागता हुआ आ लिपटा। वह ठेठ पंजाबी में बतियाने लगा। पंजाबी में वह कहानियाँ, उपन्यास और समीक्षाएँ लिखता है और खरे पंजाबी लहजे में अंग्रेजी बोलता है। यहाँ पहुँचने पर जो सन्नाटा महसूस हुआ था, उसके तार आहिस्ता-आहिस्ता हिलने और बजने लगे हैं। लगा कोई अपना मिला है।

**20 अप्रैल :** राजी सेठ दिल्ली से यहाँ लौट आई हैं। साथ में निरंजन सेठ है-उसका पति। देर तक बातें होती रहीं-दिल्ली की, वहाँ के साहित्यिक परिदृश्य की और यहाँ के लोगों के बारे में भी। इन दिनों वह रिल्के के पत्रों का अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद कर रही है। अपनी 'स्टडी' में ले जाती हैं और कुछ पत्र पढ़कर सुनाती हैं, उनके अनुवाद भी। पत्रों में झलकती रिल्के की सृजनात्मक छपटपटाहट को हिन्दी में लाना आसान नहीं है। मुझे महसूस हुआ राजी रिल्के के शब्दों और वाक्यों में बसी पीड़ा और छटपटाहट को अपना हिस्सा बना रही हैं।

राजी को मलाल है कि कृष्णा सोबती उसे बहुत कैजुअली लेती हैं, उसे कमतर आँकती हैं, उसे छोटेपन का एहसास कराने का कोई मौका नहीं छोड़ती। कभी सीधे तो कभी यूँ ही चलते-चलते वह ऐसी बातों की तरफ संकेत करती रहती है। राजी में ऐसा क्या हे? इस गाँठ को वह खोलना चाहती है जो खुलती नहीं।

संस्थान में काम कर रहे सभी लोगों के बारे में राजी के पास सूचनाओं का बेहतरीन खजाना है। पास-पड़ोस के बारे में मेरी जानकारी बढ़ रही है।

**27 अप्रैल :** निरंजन तसनीम लुधियाना से लौट आया है। पहले से ज्यादा तरो-ताजा है। उत्तर आधुनिकता को लेकर पंजाबी उपन्यास का लेखा-जोखा करने के लिए इस बार कमर कसकर आया है। रुस्तम और तेजी को लेकर वह भी वही कुछ बताता है जो राजी बता चुकी है। अशोक बाजपेयी एण्ड कम्पनी से उन के ज़ुड़ाव की बात वह कुछ और ही तरह से बताता है।

लुधियाना से 'उर्दू एलाइव' निकालने वाले भूपेन्द्र परिहार से तसनीम इन दिनों ख़फा है। कहता है नारंग का पट्टा है।

कृष्णाजी अस्वस्थ हैं। मैं और तसनीम आज उनसे मिलने चले गए। बेड से उनका उठना मुश्किल है। एक्सपायरी डेट वाली मिनरल वॉटर का यह तौफा है। हल्की-फुल्की बातचीत चलती रहती है। दिल्ली से शिवनाथ आए हुए हैं। साहित्य अकादमी की पत्रिका 'उत्तरा' के हिन्दी खंड का संपादन करते वक्त उन से तीखे मतभेद हो गये थे। 10-12 साल बाद उनसे मुलाकात हुई थी।

**29 अप्रैल :** तेज बारिश। छत पर ओले जैसे कोई गोलियों की बौछार कर रहा हो। बादलों से भरी खाईयाँ उफन रही हैं और आसमान छू रही हैं। बादलों के गुंबद है नीचे से

ऊपर। बादल रोशनदानों से अंदर आने को छटपटा रहे हैं। चिड़िया पेड़ की टहनी पर चहचहा रही है। आसमान साफ हो गया है लेकिन खाईयाँ बादलों से भरी हैं : 'प्रभु जी, यह कैसी माया / साफ नीला स्फटिक-सा आकाश / और नीचे बादलों से भरी खाईयाँ / पहाड़ों तक उफनती हुई / पहाड़ों पेड़ों को रौंदती / आ गई हैं खिड़की के शीशों तक / दस्तक देती / पेड़ की शिखर पत्ती पर / एक पक्षी / सहमा / सिकुड़ा / बौराया / देख रहा ऊपर / नील शिला से आकाश छत / और नीचे / मेघ नदियाँ।'

**04 मई** : शाम को कृष्णा सोबती आ गईं। उनके चेहरे पर तबीयत खराब होने के निशान अभी साफ दिख रहे हैं। आँखों में चमक वैसी ही है और लहजा वही। कल मेरा पहला व्याख्यान है 'विभाजन और भारतीय कहानियाँ' विषय पर और वे मेरी एप्रोच के केन्द्रीय बिन्दुओं से वाकिफ़ होना चाहती हैं। कल के व्याख्यान की चेयरपर्सन वही हैं। मैं उन्हें विभाजन की अपनी स्मृतियों में ले जाता हूँ और स्मृतियों में लिपटे हुए इतिहास की तरफ। उन्हें मेरी लंबी कविता याद आ जाती है 'एक अग्निकांड जगहें बदलता'।

**05 मई** : सुना है कृष्णा सोबती की तबीयत रात को गड़बड़ा गई। सो उनकी जगह आयोजन के चेयरमैन हैं निरंजन तसनीम। 'विभाजन : भारतीय कहानियाँ' थीम के तीन व्याख्यानों को मैं संवाद की तीन कड़ियों के तौर पर प्रस्तुत करता हूँ - पहला, 'विभाजन इतिहास और स्मृति', दूसरा 'विभाजन एक कथा पाठ' और तीसरा 'यह दाग दाग उजाला।'

संवाद शुरू करते हुए मुझे याद आ गया मई 1947 में यहाँ (तब इसे वाइसरीगल लॉज कहते थे), कान्फ्रेंस हॉल में पार्टीशन प्लान को अंतिम रूप दिया गया था। संयोग ही है कि 50 साल बाद मैं हॉल में पार्टीशन को लेकर एक संवाद में मुब्तिला हूँ।

पहला संवाद : 'विभाजन : इतिहास और स्मृति'। विभाजन का कोई मुकम्मिल इतिहास नहीं है - अलग-अलग कोणों से लिखी गयी किताबें हैं। इसीलिए इतिहास में लंबे-लंबे अन्तराल और खाली जगहें हैं, जिन्हें भरने के लिए स्मृति की भूमिका कारगर हो सकती है। इतिहास यद्यपि एक सतत प्रक्रिया है, तो भी उसे कभी-कभार पीछे झांककर देख लेना चाहिए ताकि बदली हुई परिस्थितियों में ऐतिहासिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन हो सके। स्मृति एक मात्र प्रामाणिक माध्यम बेशक न हो, लेकिन जब कोई लेखक इतिहास की घटनाओं और चरित्रों को खड़ा करता है तो स्मृति चुपचाप वहाँ अपना रोल निभाने लगती है। विभाजन के बारे में साहित्य ने जिस नये बोध को अभिव्यक्त किया है उसे लेकर इतिहास पर एक नयी नजर डाली जा सकती है। अपने तर्क के समर्थन में मैंने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में विभाजन की थीम पर लिखी गयी कहानियों, खासतौर से ए.हमीद की कहानी, 'पत्तर अनांरा दे,' अहमद नदीम कासमी की कहानी 'परमेसर सिंह', मोहन राकेश की कहानी, 'मलबे का मालिक' और कृष्णा सोबती की कहानी 'सिक्का बदल गया' का विश्लेषण किया और कहा कि इतिहास की घटनाओं को सर्वथा नये सिरे से समझने के लिए इन कहानियों का उपयोग किया जा सकता है।

**06 मई** : दूसरे व्याख्यान 'विभाजन : एक कथा-पाठ' में मैंने उन कहानियों को खासतौर पर लिया जो सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक समस्याओं भी जुड़ी हुई हैं। इस दृष्टि से हयात्उल्लाह अंसारी की कहानी 'माँ-बेटा', कुरर्तुल-एन-हैदर की कहानी 'पतझड़ की आवाज', रामलाल की कहानी 'एक शहरी पाकिस्तान का', समरेश बसु की कहानी 'आदाब', राजेन्द्र बेदी की कहानी 'लाजवंती', भीष्म साहनी की कहानी 'अमृतसर आ गया है', शेख़ आयाज़ की कहानी 'पड़ोसी', अशफाक अहमद की कहानी 'गड़रिया', इन्तज़ार हुसैन की कहानी 'सीढ़ियाँ', अफज़ल अहसन रंधावा की कहानी 'खोयी हुई खुश्बू' का विस्तार से विश्लेषण किया। कहानियों के पाठों और अन्तर्पाठों से गुजरते हुए मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कला-दृष्टि, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और सांस्कृतिक-बोध इस कथा पाठ में जिस कलात्मकता से गुंथा हुआ है उसे डी-कोड करके विभाजन को नयी तरह से समझने में मदद मिल सकती है। आम आदमी के दृष्टिकोण से विभाजन को समझने का यह एक प्रामाणिक तरीका हो सकता है। मैंने इस बात को भी रेखांकित किया कि ये कहानियाँ इतिहास के किसी खास मोड़ तक सीमित नहीं हैं बल्कि इन में इतिहास की सीमाओं का अतिक्रमण करने की भी क्षमता है। इन में मुख्य तौर पर वे लोग आए हैं जिन्हें समाज और राजनीति ने बुरी तरह से हाशिये पर ढकेल दिया था। इन कहानियों में तथ्य, कल्पना और संवेदना इस तरह घुल-मिल गये हैं कि मानवीय-स्थितियों में लुकी-छिपी विसंगति और फैंटेसी उजागर होने लगती है। यह इतिहास को दरगुजर करने का नहीं, इतिहास में स्मृति को विभिन्न धरातलों पर लोकेट करने का प्रयत्न है।

**08 मई** : तीसरे व्याख्यान : 'ये दाग़ दाग़ उजाला' में मैंने विभाजन के परिणामों के बारे में ही नहीं, अस्तित्वगत और सांस्कृतिक धरातलों पर महसूस किये जाने वाले खालीपन और सन्नाटे के बारे में भी बताया जिन से तब दोनों तरफ के लोग गुजरे थे। सत्ता और लोगों के बीच जो भयंकर खाई तब पैदा हो गयी थी, उस का जिक्र करते हुए मैंने उर्दू के प्रसिद्ध लेखक सआदत हसन मंटो की कहानियों को मुख्य रूप से आधार बनाया और कहा कि मंटो की कहानियाँ विभाजन के अंधेरे और सन्नाटे की चीख की तरह हैं। 'खोल दो', 'टोबा टेकसिंह', 'ठंडा गोश्त', और 'नंगी आवाजें' कहानियों की व्याख्या करते हुए मैंने कहा कि विभाजन मंटो की रूह में कील तरह गड़ा हुआ है। मंटो के अलावा मैंने कृष्णा सोबती की कहानी 'मेरी माँ ने कहा', कमलेश्वर की कहानी 'कितने पाकिस्तान', मुनीर अहमद की कहानी 'अपनी शक्लें', बदीउज्जमाँ की कहानी 'वापसी' और जोगिन्दर पाल की कहानी 'फाख़्ताएँ' की भी चर्चा की।

**11 मई** : कृष्णा सोबती ने हम सबके साथ कविता की एक शाम रखी है गेस्ट हाउस में। शिमला की 2-3 कवयित्रियाँ हैं और हम हैं - बद्रीनारायण, राजी सेठ, प्रयाग शुक्ल (जो रा.ना.वि. के किसी काम से यहाँ आए हुए हैं) और मैं। बद्री की कविताएँ रोज़मर्रा के प्रसंगों के सादगी भरे कथन हैं। राजी को मानसिक उधेड़बुन को कला का रूप देना आता है।

प्रयाग शुक्ल साधारण बातों और वस्तुओं में से कविता बुनता चलता है। मैं लम्बी कविता सुनाता हूँ 'खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा'। देर तक इस कविता के खरगोश और नीले घोड़े को लेकर बातचीत चलती है। शाम को सभी कृष्णा सोबती की कॉटेज पर। कविता और चित्र और मूर्ति और मौसम पर बातचीत फिसलती चलती है।

**13 मई** : दोपहर के खाने के बाद कॉफी लेकर मैं और अनुराधा कृष्णा सोबती के साथ गेस्ट हाउस के आँगन में बैठ गए। मेरा पहला व्याख्यान-आलेख 'विभाजन इतिहास और स्मृति' कृष्णाजी पढ़ चुकी हैं। उन्हें इतिहास का अंश नाकाफी लगा है। वे मुझे इतिहास में दूर तक ले जाती हें और मैं चुपचाप सुनता रहता हूँ। उनकी बातों के सूत्र पकड़ने की कोशिश करता।

चार बजे लक्ष्मी कानन आ गई। बातचीत में बेहद संवेदनशील है। तमिल की अच्छी कहानीकार, उपन्यासकार है। कविताएँ अंग्रेजी में लिखती हैं। स्त्री और पानी की बूंदों को लेकर उसने कई कविताएँ लिखी हैं। कहती है कि कुछ इमेजेज उस की कविताओं में बार-बार आते हैं। मैं पूछता हूँ ऐसा क्यों होता है? बस होता है, वह कहती है, क्यों होता है, पता नहीं। मैं उसे बचपन की तरफ धकेल देता हूँ कि शायद वह वहाँ अपनी इमेज़ेज का सुराग पा जाए। मैं उसे वहाँ जाते हुए देखता हूँ। लगता है कि वह बचपन को छूने में झिझक रही हो या इमेज़ेज को वहाँ जुड़ते देख हतप्रभ सी हो। जो हो, वह बताती है कुछ इमेज़ेज उसे अचानक घेर लेते हैं और वह आधी जागी आधी सोयी, आधे यथार्थ, आधे स्वप्न में, एक अजीब सी खुमारी में (जिसे वह कोई नाम नहीं दे सकती) रहती हैं। लगता है जैसे कोई उससे कविता लिखवा रहा हो एक आवेश में, एक तनाव में। मैं कहता हूँ यह तो एक सीधी लकीर वाला प्रभाव हुआ लेकिन जहाँ तनाव कई तरफ से कई दिशाओं में जाता दिखे तो वह क्या करती है'? वह कहती है 'ऐसे तनाव को वह कहानी और उपन्यास में ले जाती हैं - प्रसंगों और चरित्रों में उसे ढाल देती हैं।' मैं पूछता हूँ 'किसी बड़े फार्म वाली कविता में क्यों नहीं?' 'पता नहीं' वह कहती है। हो सकता है कि कभी वह वैसा करे। यहाँ अंग्रेजी में लिखी जा रही कविता से वह आश्वस्त नहीं है। भारतीय भाषाओं में, खासतौर से हिन्दी में लिखी जा रही कविता के मुकाबले उसे अंग्रेजी कविता ऊपरी सी लगती है। तमिल कविता के मुकाबले में तमिल कहानी और उपन्यास को वह बेहतर मानती है और नाटक को सबसे ज्यादा कमज़ोर। मेरी कविता और नाटकों के बारे में वह बीच-बीच में पूछती रहती है।

मैं और अनुराधा 5.30 बजे उसे गेस्ट हाउस के बाहर गेट तक छोड़ने गए हैं। वहीं कृष्णा जी मिल जाती हैं। लक्ष्मी के चले जाने पर कहती हैं - 'नरेन्द्र मोहन, बड़ी नाजुक और ब्रिलिएन्ट लड़की है।' उनकी आँखों में एक चमक है। इस चमक को पढ़ना आसान नहीं है, वैसे ही जैसे उनकी बातों की ध्वनियों को पकड़ पाना।

शाम 6 बजे कृष्णा सोबती के कुटीरनुमा घर में। बड़ी नफासत है उनमें। हर चीज़

करीने से, एक तरतीब में, न इधर न उधर, ठीक वहाँ जहाँ उसे होना चाहिए। पता नहीं कैसे बात अमृता प्रीतम के साथ उन के कटुतर होते संबंधों पर आ टिकती है। अमृता उनके उपन्यास 'जिन्दगीनामा' के नाम को उठा ले और हेकड़ी भी दिखाये, इसे वे कैसे बरदाश्त कर सकती हैं। वे उसे कोर्ट में न ले जातीं तो क्या अन्दर ही अन्दर जलती-भुनती रहती? वे बताती हैं इस चक्कर में उनके तीन मकान बिक चुके हैं, लेकिन वे लेखकीय अधिकार छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। उन्हें लगता है कि वे किसी व्यक्तिगत हक के लिए नहीं, लेखकीय हक के लिए लड़ रही हैं। वे बताती हैं कि 'जिन्दगीनामा' उर्दू में प्रकाशित हुआ है साहित्य अकादमी से। उसका कवर डिजाइन दिखाती कहती हैं : देखो, कितना भोंडा है'। सचमुच भोंडा है, मैं कहता हूँ। राजी सेठ को लेकर उन्हें गुस्सा नहीं, मलाल है।

**14 मई** : संस्थान के दायीं तरफ सूर्य अस्त होता हुआ - ऊपर बादल और नीचे फैलती हुई सलेटी धुंध पहाड़ को लपेटे हुए है। मुग्ध सा मैं देखता हूँ और कैमरा क्लिक कर देता हूँ। हम संस्थान के पीछे निकल गए ... पहाड़ियों के रंग कितनी तेजी से बदलते हैं। एक रंग को देखते-देखते दूसरा रंग, एक छाया से निकलती हुई और छायाएँ। छायाएँ और रंग ... दोनों के साथ-साथ कहीं दूर निकल गया हूँ, अनजानी राहों पर, दूर बर्फ में जैसे गलता हुआ देख रहा हूँ खुद को पांडवों की तरह-छायाओं और रंगों को लाँघते हुए, रंगों और छायाओं से परे, अन्धेरे में, अन्धेरे को फोड़ने की कोशिश करते हुए।

हम संस्थान के पीछे निकल गये - मैं, अनुराधा, निरंजन तसनीम। रास्ते में वीरभारत तलवार मिल गया। हम लॉन पार करके आगे बढ़े तो देखा एक तरफ रास्ता नीचे की तरफ जा रहा है। ऊपर घास-फूस है। तलवार ने बताया यही यातना-गृह है जहाँ अपराधियों को कड़ी यातनाएँ दी जाती थीं। यह यातना-गृह वायसराय के कमरे से लगभग एक फर्लांग की दूरी पर है। सोचता हूँ क्या कभी इन कैदियों को दी जा रही यातनाओं के मंजर उनकी चीखों के जरिए वायसराय की आँखों में कौंधते होंगे?

गेस्ट हाऊस के आँगन में प्रवेश करते ही कृष्णा सोबती दिख गयीं। तेजी से घूमती हुई हेज़ल नट पेड़ के गिर्द। मैंने हाथ हिलाया और अपनेपन से उन्होंने भी हाथ हिलाया और फुर्ती से मेरे और अनुराधा के करीब आ गयीं। अनुराधा को याद नहीं आ रहा था कि देहाती गोरों को क्या कहते थे, पूछा अनुराधा ने तो तपाक से कृष्णाजी ने कहा 'टॉमी' और इसके साथ ही कृष्णा जी को कई-कई प्रसंग याद आ गए। उन्हें याद आ रहा था, हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वह अधिवेशन जो 1937 में शिमला में हुआ था। वे कह रही थीं, ''आगे आगे निराला थे। उन्होंने 'जागो फिर एक बार' कविता अपने निराले अंदाज़ में सुनायी थी', कृष्णाजी अपने अंदाज में बताती जा रही थीं और मेरे सामने वे एक छोटी सी लड़की में तब्दील होती जा रही थीं ... हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जुलूस देखती, निराला के दबंग ओजस्वी व्यक्तित्व को कहीं भीतर जज़्ब करती हुई। सोचता हूँ कृष्णा जी के बचपन में क्या-क्या रहा होगा? अवचेतन में

दबी पड़ी बचपन की स्मृतियों को वे आज भी कितने जिंदा रूप में बयान करती हैं। उनके बयान में कहीं बनावट नहीं, दिखावा नहीं।

**15 मई** : (शिमला) कमरे से बाहर खुले में आ गए हैं। सूरज पहाड़ियों के पीछे से आहिस्ता-आहिस्ता निकल रहा है, हल्के-हल्के बादलों के बीच से। कोयल लगातार चहचहा रहा है पर दिख नहीं रही। हेज़ल नट पर बन्दरों की धमाचौकड़ी-पेड़ पर चढ़-उतर रहे हैं। शिवनाथ बंदरों की उछल-कूद देख रहे हैं और सहमे से हँस रहे हैं। कृष्णा सोबती कॉटेज के अन्दर होंगी, नहीं तो हँसती, चमकती आँखों से यह करतब देख रही होती। गेस्ट हाउस के बरामदे से अनुराधा ने दो तीन फोटो लिए हैं। नाश्ते पर रामाश्रय राय से बातचीत। वह वेदों की व्याख्या कर रहा है। 9.20 पर हुसैन कमरे आ गया। बताता है वह शान्ति निकेतन के इतिहास विभाग में है।

यहाँ एक महीना हो गया है रहते हुए। पुरानी बातें याद आ रही हैं। हम दोनों स्टेशन आ गए हैं। गाड़ी समय पर छूटी है। 2.20 पर कन्नोह स्टेशन पर रुक गयी है और खिसकने का नाम नहीं ले रही है। सुना है एक गाड़ी आगे अटकी हुई है। कन्नोह का स्टेशन एक खोल सा बन गया है। इस खोल से गाड़ी कब निकलेगी बाहर?

**27 जुलाई** : (पुणे) आज दोबारा यहाँ आने का मौका मिला है युनिवर्सिटी के काम से। ख़ैर काम कोई भी हो, इन दिनों मुझे अभंग-गाथा और तुकाराम चैन नहीं लेने दे रहे।10 बजे पद्‌मजा घोरपड़े आ गयी। उनके साथ बातचीत होती रही हिन्दी-मराठी कविता को लेकर। 2 बजे केशव प्रथमवीर आ गए। उनके साथ हिंदी विभाग चला गया। वहाँ व्याख्यान। 4.30 बजे गेस्ट हाउस पहुँचा तो काकड़े आए हुए थे। उनके साथ स्कूटर पर उनके घर चल पड़ा। रास्ते में तेज बारिश। काकड़े ने स्कूटर कहीं रखा और ऑटो-रिक्शा पर हम उनके घर पहुँचे। उनके साथ चाय और फिर 'अभंग-गाथा' नाटक के कई प्रसंगों को लेकर बातचीत। बारिश और तेज होती गई - आसावरी और काकड़े का आग्रह कि वहीं रुक जाऊँ। तेज बारिश में इसके सिवा कोई रास्ता भी नहीं था। उपाध्याय जी को फोन पर बता दिया। रात को आसावरी से उनकी मराठी कविताएँ सुनीं। उनमें कितनी गहरी संवेदनशीलता है, इसका एहसास उनकी प्रकृति सम्बन्धी कविताओं से हुआ। चीजों को बड़ी बारीकी से देखती-पकड़ती हैं। उसके चेहरे में एक ग्रेस और सहज खुलापन है उसकी कविताओं जैसा। न ज्यादा खुलती है, न बन्द होती है। न अतिरिक्तता न अतिरेक तुकाराम के अभंगों की तरह। उसकी दो-तीन छोटी कविताओं पर मुझे तुकाराम के अभंगों की छाया तैरती दिखी।

उसने 'विद्रोही तुकाराम' पुस्तक दिखायी है। मैं पलट गया हूँ। पीछे संदर्भ में जो हवाले दिए गए हैं, वह मैं पढ़ गया हूँ। मेरे पूछने पर दो-तीन अभंगों के अर्थ उसने बताए और मैंने नोट कर लिए।

**28 जुलाई** : (पुणे) 12 बजे हिंदी विभाग में। वहीं पद्‌मजा और उसके पति शैलेन्द्र

आ गए। पद्मा शैलेन्द्र को अनुरोधपूर्वक लायी है अभंगों के लयात्मक अनुवाद के लिए। मैं केशव के साथ गेस्ट हाउस जाकर वे अभंग ले आया हूँ जिनका उपयोग मैं नाटक में करना चाहता हूँ। एक अभंग शैलेन्द्र ने मेरे व्याख्यान देने के दौरान हिन्दी में कर लिया। अभंग की लयात्मकता को उसने बखूबी पकड़ा है। विभाग से गेस्ट हाउस आ गए। शैलेन्द्र एक अन्य अभंग को लय में बाँधता है। 4 बजे के करीब दोनों चले जाते हैं। कल मुझे नाटक का वाचन करना है, नामदेव अध्यासन में। तीसरे अंक के पहले दृश्य को हटा देता हूँ। कई अन्य ज़रूरी परिवर्तन करता हूँ। रात के बारह बज रहे हैं। बारिश हो रही है ... कभी तेज कभी धीमी।

**29 जुलाई** : सुबह 6 बजे उठता हूँ। चाय पीने के साथ-साथ नाटक को पुनः देखना शुरू कर देता हूँ। अभंग को उसकी सही जगह पर बैठाने का प्रयत्न करता हूँ। 9 बजे हिंदी विभाग में मेरा व्याख्यान। 10.30 बजे जब विभागाध्यक्ष के कमरे में पहुँचा तो भीष्म साहनी को वहाँ देखकर सुखद अनुभूति हुई। वे भी व्याख्यान देने के लिए आये हैं। आनन्द प्रकाश दीक्षित भी हैं।

भीष्म जी सीधे-सरल सहज ढंग से अपने अनुभव सुनाते हैं ... सादगी से कहे गए साधारण दिखने वाले बड़े अनुभव। उनके वक्तव्य को सुनने के बाद गेस्ट हाउस चला गया। शाम को 'अभंग-गाथा' का वाचन मुझे करना है। एक बार पुनः नाटक ध्यान से पढ़ जाता हूँ।

3 बजे डॉ. अशोक कामत मुझे नामदेव अध्यासन ले जाते हैं और वहीं से संगोष्ठी-कक्ष में। 3.30 बजे मैं 'अभंग-गाथा' का वाचन प्रारम्भ करता हूँ, लगभग ढाई घण्टे का पाठ। चर्चा, बहस गेस्ट हाउस में ... सदानन्द मोरे, रंगशंगोराम, केशव प्रथमवीर आसावरी काकड़े और कामत बड़ी सहजता से नाटक को लेकर बातें करते रहते हैं।

**28 अगस्त** : (दिल्ली) आज साहित्य आकदमी में मुझे 'अभंग-गाथा' का वाचन करना है। कुछ लोग ख़फा हैं कि उन्हें पूछे बगैर यह क्यों हुआ? क़ायदे से इस नाटक का वाचन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में होना था लेकिन वहाँ के निदेशक महोदय अड़ गये तो अड़ गये। एक लेखक के सामने एक निदेशक (और निर्देशक) के अहं का सवाल था। यह भी पता चला कि उन्हें मेरे खिलाफ खूब भरा गया और भरने वाले भी हमारे अच्छे-खासे दोस्त हैं। मैं जब वाचन के लिए साहित्य अकादेमी पहुँचा तो कई लेखक, रंगकर्मी आए हुए थे - नेमिचन्द्र जैन, देवेन्द्र राज अंकुर, राजिन्दर नाथ, जे.एन. कौशल, भारत रत्न भार्गव, कृष्णकांत, अखिलेश खन्ना, जोगिन्दर पाल और केदारनाथ सिंह, निशिकांत मिरजकर। वक्त के साथ और साथी भी आ गये। हॉल खचाखच भरा है। रणजीत साहा ने कार्यक्रम का प्रारंभ किया श्रीमती मृदुला साठे के अभंग गायन से। परम्परागत रीति से मृदुला ने तुकाराम के दो अभंगों का संगीतबद्ध गायन किया। इससे समाँ बँध गया। मुझे वाचन के लिए कहा गया तो मैंने वाचन से पूर्व वारकरियों और अभंगों के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी की और कहा कि मैंने अभंग-गायन के संगीत को रंग-कर्म के हिस्से के तौर पर लिया है। पूरा नाट्य-वाचन लगभग दो घंटे का था जिसमें कुछ दृश्यों

के वाचन में प्रताप सहगल ने मुझे सहयोग दिया। वाचन के बाद चर्चा सत्र में नाटक के कई पहलुओं जैसे सत्ता और शब्द का द्वंद्व, सामाजिक संघर्ष और रंगमंचीय संयोजन, नाट्य-भाषा, काव्यात्मकता और नाटकीयता, दृश्य-संयोजन, रंग-संगीत आदि पर व्यापक चर्चा हुई।

इस वाचन से रा.ना.वि. के निदेशक बजाज साहब बुरी तरह चिढ़ गये हैं। कहते फिर रहे हैं इस नाटक को मैंने स्कूल की योजना से बाहर कर दिया है। क्या हो गया है उन्हें?

**16 सितम्बर :** (माऊंट आबू) कल यहाँ पहुँचा हूँ अनुराधा के साथ। ज्ञानसरोवर का प्रांगण बड़ा आकर्षक और भव्य है। रजिस्ट्रेशन के लिए गए तो ऐलिजाबेथ से भेंट हुई - अच्छी, समझदार, चुलबुली और स्मार्ट। कला के इतिहास पर, खासतौर पर मध्ययुगीन कला और स्थापत्य पर काम करने और उसके स्त्रोतों को जानने की ललक उसमें दिखी-प्रश्नों से घिरी हमेशा प्रश्न करने को तत्पर। युवा प्रतिभागियों की शोभा यात्रा। यात्रा के ऐन वक्त तेज बारिश।पूरा आबू पर्वत बादलों से ढका हुआ है।

दिलवाड़ा जैन मंदिर। मंदिर-शिल्प का अद्‌भुत नमूना। महीन कला का काम संगमरमर की जैसे झूलती हुई लड़ियाँ।

शायद इस मंदिर को देखने के लिए ही माऊंट आबू आया हूँ। रात भर यह मंदिर कई-कई तरह से मेरे करीब आता रहा और मैं प्रश्न-दर-प्रश्न करता रहाः 'विचार में जो सच बँध नहीं सकता था / शब्द में जो सौंदर्य समा नहीं सकता था / उसे तुमने / रच दिया कैसे पत्थरों में, कीर्तिधर / तुम्हारी छेनी में वह जादू कैसे आ गया कि / हर आघात से / संगमरमर में कमल खिल उठे / साजों की संगति में / ललनाएँ अभिनय करने लगीं / तोरणद्वार, मेहराबें, गुम्बजों की छतें / नट-नाट्य से / आलोड़ित हो उठीं / शिलापट्ट प्रेमालाप में रोमांचित हो / हल्के-हल्के थिरकने लगे / चमकती आँखों का राग / हँसते होठों का कम्पन / प्रकंपित उँगलियों का संवेदन / और समाधि में ढलता ध्यान / तुम्हीं बताओ, कीर्तिधर / कैसे रच दिया तुमने पत्थरों में!'

**30 सितम्बर :** मेरे विचार में कविता के जरिये, उस जमीन को बचाए रखना जरूरी है जहाँ तमाम विसंगतियों और उत्तर आधुनिक स्थितियों के होते हुए भी खुलकर साँस लिया जा सके तथा जीने के लिए जरूरी मानवीय आधारों और अर्थों की तलाश में जुटा जा सके। यह बात और बातों के अलावा, मुझे कुमार अम्बुज की कविता की धुरी महसूस हुई है।

'क्रूरता' जैसे कविता विरोधी शब्द को कुमार अम्बुज ने कविता सम्पन्न बनाया है - क्रूरता की ऊपरी परत के साथ-साथ मामूली लोगों की बिल्कुल मामूली, न दिखने वाली जिन्दगियों में झाँककर, मानवीय करुणा के सुपरिचित और प्रचलित मुहावरे में नहीं, उससे थोड़ा अलग, जरा हटकर, आम आदमी के रेशे-रेशे से उसे जोड़कर, क्रूरता और करुणा के संदर्भों को 'जेक्स्टॉपोज' करके। दूसरे शब्दों में उसे क्रूरता और करुणा के विरोधी छोरों को तानना भी कह सकते हैं। 'क्रूरता' कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं : 'तब आयेगी क्रूरता और आहत नहीं

करेगी हमारी आत्मा को / फिर वह चेहरे पर भी दिखेगी / लेकिन अलग से पहचानी न जायेगी / सब तरफ एक जैसे चेहरे / सब अपनी अपनी तरह से कर रहे होंगे क्रूरता / और सभी में गौरव भाव होगा...' वह भावी इतिहास की लज्जा की तरह आयेगी / और सोख लेगी हमारी सारी करुणा / हमारा सारा श्रृंगार / यही ज्यादा संभव है वह आए / और लम्बे समय तक हमें पता ही न चले उस का आना।'

विरुद्धों को तानने की कला कुमार अम्बुज की अपनी ही है। मुझे याद है 80 के आसपास जब कुमार अम्बुज की कविताएँ पत्रिकाओं में आनी शुरू हुईं तो उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया था और मैंने मित्रों में और 'कविता के संघर्षधर्मी होने का अर्थ', लेख में इसका उल्लेख भी किया था। जब कोई युवा कवि भारतीय समाज की बुनावट के भीतर से संघर्ष को जुबान देता है और बड़बोला भी नहीं दिखता तो यह आकर्षक ही नहीं, विश्वसनीय भी लगता हे। तेजी से बदलते दृश्यों के साथ चल रहे अंधड़ में इन कविताओं को पढ़ना मुझे अच्छा लगा है। कभी मौका मिला तो विस्तार से इस कवि पर और ऐसे ही अन्य कवियों पर लिखूँगा।

**5 नवम्बर** : बाबा नागार्जुन का निधन। बीसवीं सदी का एक बड़ा, फक्कड़ और विवादास्पद कवि हमारे बीच नहीं रहा। अभी पिछले दिनों साहित्य अकादमी में मैंने नमस्कार किया तो वे मुस्कराए, पीठ पर हाथ रखा पर बोल नहीं पाए। जो सभी को बोलने के लिए उकसाते थे, वे खुद नहीं बोल पा रहे थे। मौन और चुप्पी के वे कभी कायल नहीं रहे। जंग खाई मानसिकता और लकवा मारी जबान को कोसने में जिन्होंने कोई कसर नहीं दिखायी, वे बाबा चुप हैं, मौन हैं, देख-भर रहे नजारा ....।

**05 मई** : आज डॉ. रामविलास शर्मा को साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता एक आयोजन में प्रदान की गई। अकादमी के अध्यक्ष रमाकांत रथ रामविलास जी की उपलब्धियों का जिक्र करते हुए उन्हें अकादमी की महत्तर सदस्यता से विभूषित करते हैं। चार समीक्षकों-नित्यानंद तिवारी, विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. भगवान सिंह और डॉ. नामवर सिंह ने डॉ. शर्मा के साहित्यिक और आलोचनात्मक अवदान पर वक्तव्य दिए। त्रिपाठी का वक्तव्य शुद्ध अकेडमिक लगा। वैसे ही बोझिल भाषा और जीवन्तता का अभाव जैसा अक्सर ऐसे वक्तव्यों में होता है। शुरू में तिवारी के वक्तव्य में परिमल के दिनों की याद और फिर उससे अलग होते जाने के आत्मीय ब्यौरे रहे लेकिन बाद में वे भी रुटीन होते गये। भगवान सिंह के वक्तव्य में डॉ.शर्मा के भाषा संबंधी कार्य का अच्छा विश्लेषण किया गया पर वह एक ही पक्ष तक सिमटा रहा। डॉ. शर्मा जैसे एक बड़े आलोचक के सामने ये छोटी आलोचना क्षमता वाले मामूली से वक्तव्य लगे। हिंदी का आलोचक ऐसे अवसरों पर भी ओढ़ी हुई आलोचनात्मक भाषा से बाहर क्यों नहीं आ पाता और चालू आलोचना को क्यों चबाता रहता है? वह खुलेपन से पेश क्यों नहीं आता? त्रिपाठी ने तो कई सूत्र ही उद्‌घृत किए - मसलन 'जो समय निरपेक्ष है वह समय विरोधी है'। ऐसे सूत्रों को सुनकर भरी सभा में हँसा भी तो नहीं जा सकता, हाँ, मुस्कराया जा

सकता है और हम (मेरे साथ बैठे देवेन्द्र इस्सर और राजी सेठ) मुस्कराते रहे थे। नामवर सिंह जी की बात और है। भाषण कला में उन जैसे निपुण कम ही होंगे। उन्होंने इस अवसर को प्रगतिशीलता और मार्क्सवाद की पैरवी में कुछ इस तरह बदल दिया कि लगता रहा कि साहित्य का एक ही रंग है - साधना, सर्जना और संघर्ष उसी एक रंग में झिलमिलाते। डॉ. रामविलास शर्मा का वक्तव्य सीधा, सादगीभरा और हास्य-व्यंग्य से भरपूर था। 87 वर्ष के इस आलोचक में आज भी कितना माद्दा है सीधे देखने का, आर-पार झाँकजाने का और विश्लेषण का। कहीं चतुराई नहीं, अनावश्यक बाँकपन नहीं, अतिरंजना नहीं। एक सुस्थिर, संतुलित बेधड़क दृष्टि-भाषा, समाज, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की समस्याओं का सामना करने वाली एक अन्तर्ग्रथित दृष्टि।

**15 मई :** विश्व के महत्त्वपूर्ण नाटक जब भी अपने मौलिक रूप में अनूदित होकर हिन्दी में आए और खेले गए, उन्हें पाठक भी मिले और दर्शक भी। ऐसे प्रयोगों से यहाँ रंगमंचीय सक्रियता तेजी से बढ़ी। यह तो सर्वविदित ही है कि रंगकर्म को आधार और दिशा देने में ब्रेख़्त (बेर्टोल्ड ब्रेष्ट) के नाटकों के प्रदर्शनों की विशेष भूमिका रही है। ब्रेख़्त की तरह स्विट्जरलैंड के नाटककार माक्स फ्रिश के नाटक भी नए रंग-चिन्तन को उकसाने की दृष्टि से कम चुनौतीपूर्ण नहीं हैं, यह बात और है कि भारतीय रंगकर्मियों का ध्यान उनकी तरफ कम ही गया। उनके नाटक हेअर वीडरमान उंट ब्रांडश्टिफटर का भारतीय भाषाओं में मंचन जरूर हुआ लेकिन उनकी पहली महत्त्वपूर्ण नाट्य कृति अंडोरा की उपेक्षा ही हुई। यह अच्छा है कि महेश दत्त का ध्यान इस तरफ गया और उन्होंने मूल जर्मन से इस नाटक का अनुवाद करके एक अलग तरह के नाटक से हिन्दी रंगकर्मियों और पाठकों को परिचित कराया है।

नाटक में और साहित्य में अन्य विधाओं में भी, दृष्टांत-कथा का विधान होता रहा है। हाँ, यह जरूर है कि दृष्टांत को नाटकीय टेकनीक के तौर पर बहुप्रचारित करने का श्रेय ब्रेख़्त को जाता है। अंडोरा ने दृष्टांत कथा के उपयोग को देखकर, इसीलिए ब्रेख़्त याद आता है, लेकिन इतना साफ है कि माक्स फ्रिश ने अपनी पद्धति पर, अपने ढंग से इसे ग्रहण किया है, ब्रेख़्तियन पद्धति पर नहीं। व्यक्ति जो है, वही होने की उसकी बाध्यता को लेखक ने जातीय और राष्ट्रीय संदर्भों में तानते हुए अल्पसंख्यक मानसिकता और दृष्टिकोण के त्रासद और उलझे हुए पहलुओं को इस नाटक में जिस तरह उघाड़ा है, उसमें इस टेकनीक का बहुत बड़ा हाथ है। सभी अंडोरावासी आंद्री (नाटक का केन्द्रीय पात्र) के व्यवहार और आचरण में यहूदी होने के चिन्ह देखते हैं और वैसा उसे देखने पर बाध्य करते हैं। वह यहूदी नहीं है पर यहूदी होना उसकी नियति बन जाता है। यह जानने के लिए कि यह 'वह' कौन है, वह यहूदी होना स्वीकार कर लेता है। इस के पीछे जर्मनों द्वारा यहूदियों के विनाश की व्यथा-कथा का दबाव है। यह कथा के नीचे की कथा है जो बार-बार सिर उठाती है जैसे जातीय अवचेतन में से कोई विचार उफन-उफन कर सामने आना चाह रहा हो।

माक्स फ्रिश ने इस नाटक में नाट्य-वस्तु और संरचना के द्वंद्व को जिस तरह से ताना है, पात्रों की मनःस्थितियों को जिस रूप में खोला है, संवादों का संयोजन जिस कलात्मकता से किया है, लगभग हर दृश्य के बाद मंच के अलग हिस्से के उपयोग की जो पद्धति अपनाई है, अल्पसंख्यक वर्ग की यातना के संदर्भों को आन्द्री, बार्बलिन, कैन, अध्यापक और माँ के चरित्रों में ढालकर नाट्य-व्यापारों को जिस तरह संघर्ष बिन्दु तक ले गए हैं, उससे मैं प्रेरित हुआ हूँ। वह मेरे भीतर क्या रंग-रूप लेगा, देखता हूँ।

**24 सितम्बर :** 1972 में प्रकाशित दो कविताओं 'जनता का आदमी' और 'गोली दागो पोस्टर' में एक विशेष विमर्श को उभारने के कारण आलोक धन्वा चर्चा के केन्द्र में आ गये थे। तब उनमें एक खास रंगत का कवि होने की शक्ति को आँका गया था। आज भी ऐसे कई कवि-समीक्षक हैं जो उन्हें उसी मुकाम पर पलोसते रहना चाहते हैं और बड़े गद-गद भाव से उनपर 'कवियों का कवि' होने का चुस्त जुमला ओढ़ाते हुए नहीं थकते। इस तरह की पहचान के मारे कवि के लिए कितना मुश्किल होता होगा उस तरह की कंडिशनिंग से बचना, इसे आलोक से अधिक कौन जानता होगा? अच्छी बात यह है कि आलोक अपने द्वारा बनी या औरों द्वारा बनायी गयी तस्वीर के मायाजाल में नहीं फँसे हैं। वे उसमें से तेजी से बाहर आये हैं। उग्र वामपंथी तेवर की अनुगूंजों को अपने काव्य-विन्यास और विकास का हिस्सा बनाकर इधर उनकी जो कविताएँ 'दुनिया रोज बनती है' में आई है, वे इस ओर संकेत करती हैं।

छोटी कविताओं के साथ-साथ कई लम्बी कविताएँ आलोक ने लिखी हैं, जैसे 'जनता का आदमी', 'भागी हुई लड़कियाँ', और 'बूनो की बेटियाँ',। लम्बी कविताएँ मैंने लिखी भी हैं और उन पर काम भी किया है पर यह स्वीकार करने में मुझे यहाँ जरा भी झिझक नहीं है कि आलोक की लम्बी कविताएँ हिन्दी में एक अलग ढंग का मॉडल प्रस्तुत करती हैं जिनकी सृजनात्मक संभावनाओं को अभी पूरी तरह इस्तेमाल किया जाना बाकी है। 'ब्रूनो की बेटियाँ' कविता कई जगह मुझे नागार्जुन की 'हरिजन-गाथा' से टक्कर लेती हुई दिखती है। विभिन्न संदर्भों में उपजने वाले और कई धरातलों पर फैलने वाले तनाव को कवि ने इस कविता में जिस कौशल से संयोजित किया है, वह इसे हिन्दी की एक खास कविता बनाने के लिए काफी है। आज अगर मुझे हिन्दी की दस लम्बी कविताओं का चयन करना हो तो मैं उसमें 'ब्रूनो की बेटियाँ' कविता ज़रूर रखना चाहूँगा।

# इक्कीसवीं शती की भोर में देवदास

लक्ष्मेंद्र चोपड़ा

इक्कीसवीं शती के देवदास के संबंध में एक अद्‌भुत वक्तव्य पिछले दिनों देखने में आया -

"पुरानी देवदास मूलकृति थी और यह फिल्म उसकी अनुकृति।"

बांग्ला के महान उपन्यासकार स्व. शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के कालजयी पात्र देवदास को नयी सदी की भोर में सौ साल पुराने हो चुके सिनेमा के पर्दे पर अभिनीत करने वाले पात्र के इन शब्दों की एक लापरवाह वक्तव्य कह कर उपेक्षा भी की जा सकती है। लेकिन इन्हीं लापरवाह शब्दों की जाँच-पड़ताल के माध्यम से उन समाजशास्त्रीय कारणों की खोज की जा सकती है, जिनके कारण आज का सिनेमा कलात्मक विधा से तथाकथित 'पापुलर सिनेमा' के नामकरण के साथ एक औद्योगिक उद्यम में ढल गया। सिनेमा और साहित्य के अंतर्सबंधों पर भी इसी क्रम में चर्चा की जा सकती है।

रेडियो और सिनेमा की उम्र लगभग समान है। 28 दिसम्बर 1895 के ल्युमिए रे भाइयों ने फ्रांस में सिनेमा का पहला व्यावसायिक प्रदर्शन किया था। सिनेमा की तकनीक को विकसित करने का श्रेय अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन के एडीसन; ल्युमिए भाइयों तथा पॉल को दिया जाता है। सिनेमा की प्रौद्योगिकी को कलाओं ने समृद्ध किया। बीसवीं सदी में इसने कलात्मक विधा का रूप ग्रहण कर लिया। सिनेमा के विकास में गीत, संगीत, नृत्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, चित्रकारी, शिल्प इत्यादि कलाओं ने विशिष्ट योगदान दिया। साहित्य, संस्कृति तथा कलाओं की आत्मा तथा सेल्युलाइट प्रौद्योगिकी द्वारा सिनेमा कलात्मक

विविधता की अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में सामाजिक जीवन में उभरा।

बीसवीं सदी के पहले तीन दशकों में सिनेमा कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में आकार ले ही रहा था तभी 1931 में ब्रिटेन, अमेरिका और सोवियत संघ के वैज्ञानिक शोधों के मिले-जुले प्रयासों से टेलीविज़न की तकनीक अस्तित्व में आ गयी। सिनेमा और टेलीविज़न दोनों ही दृश्य-श्रव्य जनसंचार माध्यम हैं। लेकिन दोनों में कई अंतर हैं। टेलीविज़न कल्पनाओं से तथ्यों को अलग छाँट लेता है, जबकि सिनेमा कल्पनाओं पर ही केंद्रित रहता है। इसी कारण जनसंचार शास्त्री जे.एलिस ने टेलीविज़न प्रसारण को यथार्थपरक तथा सिनेमा को स्वप्नदर्शी कहा है। टेलीविज़न घरेलू माध्यम है, जबकि सिनेमा घर के बाहर का मीडिया है। टेलीविजन के दर्शक स्थायी होते हैं, जबकि सिनेमा के दर्शक प्रत्येक प्रदर्शन में बदलते रहते हैं। टेलीविज़न की उसके दर्शकों से घनिष्टता स्थापित हो सकती है, लेकिन सिनेमा के साथ ऐसा नहीं है। एलिस के मत में अपनी कई कमज़ोरियों के बावजूद सिनेमा एक सशक्त माध्यम है, क्योंकि यह तार्किक तथा कलात्मक बन सकता है। सिनेमा के साथ यह सुविधा है कि वह कलात्मक विधाओं को जीवंत माध्यम के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। सिनेमा इसलिये भी प्रभावशाली है क्योंकि इसकी तकनीक मनोवैज्ञानिक रूप में दर्शकों का पूरा ध्यान स्वयं की ओर आकर्षित करती है। भीड़ मे भी व्यक्ति अकेली इकाई के रूप में सिनेमा देखता है इस कारण उसका पूरा ध्यान सिनेमा द्वारा संप्रेषित संदेश की ओर केंद्रित रखना अधिक सुविधाजनक होता है। सिनेमा जटिलाताओं का सरलीकरण भी कर सकता है दूसरी ओर ये जीवन की मामूली बातों को जटिल रूप में भी प्रस्तुत कर सकता है। ये इसकी शक्ति भी है और कमज़ोरी भी। सिनेमा की एक सीमा ये भी है कि ये समाज के सभी वर्गों के लिये एक सा ही संदेश संप्रेषित कर सकता है। समाज के अलग-अलग वर्गों की अलग-अलग आश्यकताओं को पूरा करना इस माध्यम के लिये कठिन है। सिनेमा का आरम्भिक विकास कलात्मक उद्यम के रूप में ही हुआ था। टेलीविजन के आने के बाद, वीडियों तथा सीडी क्रांति के कारण सिनेमा घर के अंदर पहुँच गया, सद्गृहस्थ के शयनकक्ष तक। सिनेमा घर के बाहर ही रहे, घर की देहरी न लांघे - यह एक बड़ी समस्या है सिनेमा उद्यमियों के लिये। इसका एक ही उपाय है कि सिनेमा बड़े पर्दे की विषय वस्तु ही रहे। सिने उद्यमियों का प्रयास है कि वे इसका फलक इतना विशाल बना दें कि टेलीविज़न का स्क्रीन दर्शकों को छोटा लगने लग जाये। तकनीकी विकास के द्वारा सिनेकार अपने उद्देश्य में सफल भी हुए हैं। लेकिन इससे नयी समस्या ये उत्पन्न हो गयी है कि सिनेमा अब कलात्मक विधा के स्थान पर औद्योगिक उद्यम बन गया है। सामाजिक विकास, साहित्य तथा संस्कृति के किसी बड़े विचार की इक्कीसवीं सदी के सिनेमा में गुंजाइश ख़त्म सी हो गयी है। लंदन के आक्सफोर्ड पलट पचास करोड़ लागत के देवदास के साथ भी यही हुआ है। प्रेम के अमर प्रतीक के रूप में शरत ने जिस देवदास की रचना की थी, वो इक्कीसवीं सदी के सिनेमा में कलात्मक तथा वैचारिक अभिव्यक्ति के स्थान पर ऐसा महंगा मनोरंजन उत्पाद का मॉडल बन कर रह गया है, जिसका स्थान सिर्फ़ बाज़ार में है। शरत का देवदास सामंतवादी

विवशताओं के कारण शहीद हुआ और इक्कीसवीं सदी का देवदास पूँजीवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था की नई सिने प्रौद्योगिकी और आधुनिक उच्च तकनीक के हाथों मारा गया।

प्रौद्योगिकी तथा तकनालाजी कोई ख़राब चीज़ नहीं है; ये रचनात्मक प्रयास ही हैं। सामाजिक परिवर्तन के कारक के रूप में प्रौद्योगिकी का महत्व कम नहीं किया जा सकता। मार्क्स ने प्रौद्योगिकी को आर्थिक उत्पादन का साधन माना था। मार्क्स के मत में जैसे ही प्रौद्योगिकी में कोई परिवर्तन होता है, वैसे ही समाज में उत्पादन के साधन बदल जाते हैं। उत्पादन के साधन बदलने से उत्पादन संबंध बदलते हैं, जिसके कारण आर्थिक ढाँचा बदलता है; और आर्थिक ढाँचा बदलने के साथ-साथ सामाजिक; राजनीकि; सांस्कृतिक; नैतिक और वैधानिक व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन हो जाता है। प्रौद्योगिकीय आविष्कार समाज में आर्थिक कारकों को प्रोत्साहित कर भावनात्मक तथा आदर्शात्मक संस्कृति के स्थान पर चेतनात्मक संस्कृति को प्रोत्साहित कर भौतिकवादी जीवनशैली को बढ़ावा देते हैं। कला और साहित्य में भी विचारों तथा कल्पनाओं के स्थान पर भौतिक, मूर्त तथा स्थूल तत्वों को अधिक महत्व दिया जाता है। रेमंड विलियम्स के शब्दों में कहें तो - ''नई प्रौद्योगिकी व तकनीक के नाम पर समाज को विवश किया जाता है कि वह अपनी सांस्कृतिक - सामजिक व्यवस्थाओं में शिथिलता लाये ताकि एक नयी लाभकारी व्यापारिक संस्कृति के लिये रास्ता साफ हो सके।'' **इक्कीसवीं शती की भोर में देवदास के साथ भी यही हुआ।**

सुविख्यात फिल्म-निर्देशक श्याम बेनेगल ने 'पहल' से एक बातचीत में स्वीकार किया था, सिनेमा माध्यम के अधिक महत्वपूर्ण हो जाने के कारण आज माध्यम के अनुसार कला-सामग्री को ढाला जा रहा है; जबकि होना यह चाहिये कि कला माध्यम को प्रभावित करे। बेनेगल कहते हैं कि माध्यम की तकनीक विषय पर हावी हो जाती है। आज तकनीक इतनी ताकतवर हो गयी है कि वह माध्यम समेत विषय को निगल रही है।

आइये अब 'देवदास' की बात करें। यह तर्क दिया जा सकता है कि सिनेकार ने उच्च सिने तकनीक के नये पक्षों; स्टीरियो फोनिक संगीत, आधुनिकतम कैमरा तकनीक; भव्य सेट्स; हैरतअंगेज़ इफेक्टस से दर्शकों को परिचित कराने के लिये एक साहित्यिक कृति पर पचास करोड़ ख़र्च कर दिये। साहित्य को सिनेमा का उपकार मानना चाहिये कि उसने सिनेमा जेसे तेज़ गति के माध्यम से रातों-रात एक झटके से देवदास को लाखों-करोड़ों दर्शकों तक पहुँचा दिया। इन लाखों-करोड़ों दर्शकों में मात्र साहित्यिक संस्कारों व अभिरुचि के पढ़े-लिखे लोग ही नहीं है। इनमें निरक्षर, विद्वान, अमीर, ग़रीब, मज़दूर, किसान, पूँजीपति सभी शामिल हैं। अब सिनेमा की एक छत तले इकट्ठे इतने लोगों को एक साथ प्रसन्न तथा संतुष्ट रखने के लिये कुछ आज़ादी ले भी ली तो क्या हो गया?

1917 में प्रकाशित शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास 'देवदास' के तीनों प्रमुख चरित्रों; देवदास, पारो तथा चंद्रमुखी में अलग-अलग रंग हैं। तीनों ही पात्र अलग-अलग अपने-अपने तरीकों से सामाजिक लड़ाइयाँ भी लड़ रहे हैं; और इन लड़ाइयों के बीच लगातार पराजय

की हताश करुणा को भी झेल रहे हैं। अलग-अलग रंगों में रचे चरित्रों के आपसी संबंधों का सटीक संयोजन ही कथानक को गहराई प्रदान करता है। शरत के 'देवदास' के तीनों पात्र - देवदास, पारो और चंद्रमुखी के बीच अलग-अलग रंगों के बावजूद अद्‌भुत भावनात्मक संबंधों की डोर है। संपूर्ण उपन्यास में अलग-अलग परिवेश के ये तीनों पात्र अपनी संवेदना के उपकरणों से उन जटिल सामजिक प्रश्नों का हल खोजते हुए धीरे-धीरे अंत की ओर बढ़ रहे हैं, जिनके उत्तर तात्कालीन सामंतवादी सामाजिक व्यवस्था के अंधेरे तहख़ानों में कैद थे। संवेदनशील संबंधों की इस अद्‌भुत डोर के कारण यह उपन्यास 'त्रासद लेकिन निश्छल प्रेम का ऐसा प्रतीक बन गया जिसने भारतीय साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया। प्रेम का त्रासद अंत सभी के दिलों को छूता है। तिस पर देवदास के चरित्र का सरल संवेदनशील अक्खड़पन, पारो के रूप में स्वाभिमानी प्रेममयी सरल सुशील और सुंदर प्रेमिका; अद्‌भुत निश्छल प्रेममयी नगरवधु चंद्रमुखी और सोने पे सुहागा तीनों ही पात्र शुद्ध देसी और क्या चाहिये एक सफल पारिवारिक फिल्म के लिये।

देवदास पर दो फिल्म पहले भी हिंदी में बन चुकी हैं। 1935 में पी.सी. बरुआ की फिल्म के नायक अमर गायक कुंदनलाल सहगल थे। 1955 में बिमल रॉय ने दिलीप कुमार, सुचित्रा सेन और वैजयंती माला के माध्यम से प्रेम की इस कालजयी कृति को सेल्युलाइड पर प्रस्तुत किया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं दोनों ही फिल्म हिट थीं। उत्तेजक तथा संवेदनशील कथानक; कलाकारों के जीवंत अभिनय के साथ-साथ भावुक गीतों तथा मधुर संगीत को इस सफलता का श्रेय दिया गया। मूल कथानक से इतर लेकिन सटीक सांगीतिक स्थितियों की परिकल्पना न सिर्फ़ मूल कथा प्रवाह को गति प्रदान करती हैं, बल्कि निर्देशकीय कुशलता का भी परिचय देती हैं। कुछ परिवर्तनों के बाद भी ये दोनों ही फिल्म मूल कृति ही थीं; संभवतः तकनीक के अतिरिक्त मोह से बचने की सावधानी ने मूल साहित्यिक कृति के कद को सेल्युलाइट रूप से छोटा नहीं होने दिया। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि साहित्यिक कृतियों के रेडियो-टेलीविज़न तथा सिनेमा सहित किसी भी तरह के रूपांतरण मात्र तकनीकी औजारों द्वारा नहीं किये जा सकते। उस पूरे परिवेश और वातावरण को भी समझना होगा, जिसमें उस कृति के चरित्रों की अलग-अलग विशेषताओं के साथ संपूर्ण कथानक का ताना-बाना बुना गया है। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि कालजयी साहित्यिक कृतियों के पात्र पाठक के मन में इतने गहरे धँस जाते हैं कि वे सेल्युलाइड पर उकेरे परिवर्तनों को स्वीकार नहीं कर पाते। हिंदी सिनेमा ने साहित्यिक कृतियों के प्रस्तुतिकरण के क्रम में कई लोकप्रिय तथा श्रेष्ठ व सफल फिल्म दी हैं। कुछ नाम गिनाये भी जा सकते हैं - रवींद्रनाथ ठाकुर की काबुलीवाला; शरत की देवदास; बिमल मित्र की साहब बीबी और गुलाम; बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय की आनंदमठ, मुंशी प्रेमचंद की मज़दूर; हीरा मोती; सौतेला भाई; गोदान; गबन; शतरंज के खिलाड़ी; भगवतीचरण वर्मा की चित्रलेखा; आचार्य चतुरसेन शास्त्री की धर्मपुत्र; फणीश्वरनाथ रेणु की तीसरी कसम; राजिंदर सिंह बेदी की दस्तक; नानक सिंह की पवित्र पापी; आर.के.

नारायण की गाइड; मिर्ज़ा हादी रुस्वा की उमरावजान; महाश्वेता देवी की रुदाली; कमलेश्वर की आँधी; मन्नू भंडारी की रजनीगंधा; ये सब साहित्यिक कृतियों पर आधारित सफल फिल्म हैं जो बीसवीं सदी में दर्शकों ने देखीं।

लेकिन ये इक्कीसवीं सदी है। सिनेमा जगत की नई ऊर्जावान पीढ़ी को सदी। उच्च तकनीकी जानकारी से लैस; स्पेशल इफेक्टस तथा वैश्विक सिनेमा मंडी की समझ रखने वाली इस टोली में निर्देशक; पटकथा लेखक; संगीतकार; कोरियोग्राफर; कला निर्देशक; सेट डिजाइनर; रंग-भूषा विशेषज्ञ; सेट डिज़ाइनर; रंग-भूषा विशेषज्ञ; संपादक; स्टाइलिस्ट; प्रशिक्षण प्राप्त प्रचारक शामिल हैं। ज्ञान-अज्ञात स्त्रोतों से अकूत धन है। ये टोली सफलता का फार्मूला जानती है। ये फार्मूला विश्व टिकट खिड़की पर सर्वाधिक सफल फिल्म 'टाइटेनिक' तथा बीते दौर की कहानी पर आधारित बाक्स आफिस पर हिट देसी 'लगान' के अनुभवों पर आधारित है; मुहावरे में कहें तो - अमेरिकी शैली में देसी मूल्यों का स्वादिष्ट व्यंजन। इसी के चलते सनम को दिल देने के बाद टूटे दिलों की तलाश मे देवदास पर नज़र पड़ गयी। एक बीते दौर का उपन्यास, जिसके पात्र प्रेम के गहरे प्रतीक बनने के साथ-साथ दो बार बाक्स आफिस की सफल अग्निपरीक्षा दे चुके हैं; और क्या चाहिये। झट से उठा ली गयी देसी भावनाओं तथा मूल्यों में रची-बसी देवदास की कहानी अमेरीकी शैली में सिने-रूपांतरण के लिये। इस रूपांतरण में प्रमुख औजार बने : - समृद्धि का पारीवारिक, सामाजिक-सांस्कृतिक मंचों पर भव्य भड़कीला प्रदर्शन; दोनों प्रमुख नायिकाओं की सुंदर चंचल शोख अदाएँ; नायक तथा सहनायक की कॉमिक मुद्राएँ; भव्य सेट्स; मनोहारी नृत्य तथा स्पेशल इफेक्टस के साथ स्टीरियोफोनिक कर्णप्रिय संगीत। शरत के देवदास के देशज मूल्यों का संरक्षण आवश्यक था, क्योंकि पूरे परिवार को सिनेमाहाल तक खींचने का मुख्य उपकरण वही होते हैं। लेकिन सिने रूपांतरण के इस सारे खेल में देवदास की अस्मिता समाप्त हो गयी। शरत के देवदास की नायिकाओं पार्वती और चंद्रमुखी कभी आपस में प्रत्यक्ष नहीं मिलीं। लेकिन 'लगान' के बाद सिनेमा में जनसंस्कृति का उपयोग भी सफलता के फार्मूले के रूप में होने लगा है। लोक प्रथाएँ, लोकनृत्य तथा लोकसंगीत जनसंस्कृति का ही अंग है। इसीलिये शरद की पारो जिसने कभी अपने मायके ताल सोनापुर और ससुराल हाथीपोता के अलावा कोई और गाँव देखा भी नहीं था; इक्कीसवी सदी की भोर में भटकते हुए कोलकत्ता महानगर चंद्रमुखी के भव्य महलनुमा कोठे पर पहुँच जाती है; दुर्गा प्रतिमा के लिये मिट्टी लेने; हायरी जनसंस्कृति की लोकप्रथा कितना कष्ट देती है तू भी। यही नहीं इसी जनसंस्कृति के चलते अगर नारियाँ नाचें-गायें नहीं तो देशज आनंद का क्या होगा? सो चंद्रमुखी भी अपना सारा स्वाभिमान छोड़ दुर्गा पूजा में भाग लेने हाथीपोता पहुँच जाती है पार्वती के पास। अब पहुँच ही गयी तो कोरियोग्राफर का भी थोड़ा भला हो जाए; पार्वती और चंद्रमुखी डोला रे ... डोला रे .... करते हुए एक शानदार नृत्य भी कर डालती हैं हाथों में हाथ डाले। शरत ने लगभग सौ पृष्ठों के देवदास में कई कमियाँ छोड़ दी थीं, खैर इक्कीसवीं सदी का अवतार हुआ, नयी सदी के सिनेमा ने इन कमियों के ओर भी

ध्यान दिया और जरूरी कदम उठाये। जैसे शरत के भद्रलोक में कोई खलनायक था ही नहीं; अब नायिका के थप्पड़ की तड़ाक का स्पेशल इफेक्ट कैसे रचा जाएगा? और दाँत किटकिटा कर संवाद कैसे बोले जाएंगे। सो दामाद के रूप में खलनायक भी भर्ती करना पड़ा; वरना शरत ने तो अपने उपन्यास में इस दामाद का कोई भी ज़िक्र किये बिना इसकी पत्नी यशोदा के एक संवाद द्वारा पार्वती को उसके बूढ़े पति भुवन बाबू के लिये मुक्तिदाता बना दिया था। बहरहाल इस खलनायक दामाद ने पापुलर सिनेमा की तर्ज पर घर-दामाद के रूप में अपना खलनायकत्व पूरा कर एक गंभीर गलती सुधार दी। शरत के देवदास ने एक गलती और कर दी थी। देवदास बम्बई स्टेशन से हुगली का टिकट कटवा कर झट से बूढ़े सहृदय नौकर धरमदास के साथ रेलगाड़ी में बैठ गया। भई अब इतनी भी क्या जल्दी है अंत की ओर बढ़ने की? ये देखिये चुन्नीलाल की भूमिका करने वाले नायकनुमा सहनायक रुष्ट हो गये हैं; उपन्यासकार तो उन्हें लाहौर ही छोड़ आये थे। अब पराया देश; चलिये उन्हें भी रेलगाड़ी की सैर करा देते हैं ... छुक ....छुक .....। चलिये सब हो गया बिल्कुल फ्रेम-दर-फ्रेम। देवदास आक्सफोर्ड से पढ़ कर वापस आ गया, बिल्कुल वैसे ही जैसे 'मुगले आजम' में सलीम आया था वापस; पारो की शोखियाँ हो गयीं .... दिलवाले .... की तरह पारो के विवाह में देवदास ने मस्ती-मार-पीट भी कर डाली .... प्रेम ... मनुहार भी कर ली ..... देसी दीपक भी आ गया। जलता दीपक हाथ में ले डोली में बैठ सुसराल भी चली गयी पारो ...., चंद्रमुखी के साथ बढ़िया नाच-गाना हो गया ....; चुन्नीलाल के साथ हँसी-ठिठोली हो गयी ... मन भर के दारू भी पी ली गयी ... दारू पी के बोतल भी फोड़ ली .... अब क्या बचा करने को? हाँ याद आया देवदास और पारो का मिलन तो हुआ ही नहीं जिसके लिये पिछले तीन घंटे से इतना नाटक चल रहा है। इन साहित्यकारों के साथ यही दिक्कत है। अब 'तीसरी कसम' के समय फणीश्वरनाथ रेणु को कितना समझाया था - भैया आख़री सीन हम लिख देते हैं, हम रेल्वे-स्टेशन पर ही मिलन करवा देते हैं बिचारे गाड़ीवान हीरामन का नर्तकी हीराबाई से। लिपटे खड़े हैं दोनों स्टेशन पर; बैकग्राउंड में रेलगाड़ी मधुर सीटी बजाती भागी जा रही है .... जान पड़ जाती लास्ट सीन में। पर नहीं भाई देवदास तो मरेगा ही पारो की दहलीज पर; बात भी ठीक है मरेगा नहीं तो पारो रंगमहल के सात दरवाजे पार कर ती भागेगी कैसे? इस लिये देवदास का पारो के गाँव हाथीपोता पहुँचना जरूरी है। लीजिये शरत के देवदास की बग्घी वाले ने तो हाथी पोता ले जाने से इंकार कर दिया; कहता है - ''रास्ता ठीक नहीं है। बरसात में बग्घी वहाँ नहीं जा सकेगी।'' ये लीजिए, देवदास तो बैलगाड़ी में बैठ रहा है। गाड़ीवान कह रहा है - ''रास्ता ठीक नहीं है, हुजूर शायद दो दिन लग जाएँ।'' दो दिन ओ गॉड इक्कीसवीं सदी में हाथीपोता पहुँचने में दो दिन; तिस पर बैलगाड़ी ... सिवाय बैलों की घंटियों के कुछ नहीं मिलता इफेक्ट्स के लिये, फिर तकनीक का क्या होगा? भैया इस तकनीक के अभूतपूर्व विकास और गचागच उपयोग के सहारे ही तो कला को बाज़ार की वस्तु बना कर बेचना आसान हो सका है। आप कहने दीजिये इन समाजशास्त्रियों को कि तकनालॉजी के अभूतपूर्व विकास ने समाज में अमानवीयकरण

की प्रक्रियाओं को अधिक तेज़ कर दिया है। हमारा देवदास इक्कीसवीं शती का देवदास है; इसे हम हिनहिनाते घोड़े वाली बग्घी में ही दौड़ाते ले चलेंगे हाथीपोता, मृत्युदण्ड के लिये। फिर जब स्टीरियोफोनिक उपकरणों के माध्यम से सिनेमा हाल में भागते हिनहिनाते घोड़ों के टापों की हिंसक ध्वनियाँ देवदास की कराहों को कुचलते हुऐ गूँजेंगी दर्शक चीख पड़ेंगे .. ''मार डाला .... मार डाला।''

पर किसको? शरत के देवदास को!

अंत में कुछ बातें जरूरी हैं साहित्यिक कृतियों को सेल्युलाइट पर उतारने के लिये। सुप्रसिद्ध शायर, लेखक तथा सिनेकार गुलज़ार ने कहा था - ''साहित्यिक कृतियों पर अच्छी फिल्में उन्हीं निर्देशकों ने बनाई हैं जिनमें साहित्य के लिये एक 'टेस्ट' था ... जब माध्यम बदलता है, तब थोड़ा-बहुत फेरबदल तो करने ही पड़ते हैं। निर्देशक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रचना की मूल भावना न बदल जाए, लेखक को भी इन परिवर्तनों को सहज भाव से लेना चाहिये।''

श्री गुलजार के इस कथन को हम एक उदाहरण से भी समझ सकते हैं। कल्पना लाजमी ने एक फिल्म बनाई थी - ''रुदाली''। सनीचर के दिन पैदा हुआ सनीचरी और पेशेवर मातम मनाने वाली रुदाली भिकनी के रेगिस्तान की रेत से फैले उजाड़ दुखों की सफल कहानी का सफल फिल्मांकन राजस्थान की पृष्ठभूमि में किया गया था। राखी और डिम्पल कपाड़िया का मार्मिक अभिनय; राजस्थानी मुहावरों और बोली में पगे गुलजार के संवाद और राजस्थानी परिवेश को मुखरित करता भूपेन हजारिका का संगीत भी राजस्थान की लोक संस्कृति को जीवंत करता है। लेकिन बांग्ला लेखिका महाश्वेता देवी की मूल कहानी बिहार और बंगाल के सीमाक्षेत्र का परिवेश था जिसे निर्देशिका ने राजस्थान के वातावरण में ढाला है। रुदाली परंपरा भी राजस्थान की है और फिल्म की नायिका सनीचरी के जीवन के दुख-सुख भी राजस्थानी रेगिस्तान में अधिक जीवंत हो उठे हैं।

सिनेमा के नये फार्मूले के संबंध में सफल तथा विशिष्ट सिनेमा निर्माता-निर्देशक महेश भट्ट इक्कीसवीं शती के सिनेमा की चर्चा करते हुए चेतावनी देते हैं - ''हमें प्रतीक्षा करनी होगी और देखना होगा कि तकनीक हमें किस ओर ले जाती है। परंतु यह तय है कि सिनेमा की रहस्यात्मकता का अंत होगा। ... युवा फिल्मकारों को कहानी कहने के लिये तकनीकी यंत्रों से भ्रमित नहीं होना चाहिये। हमें नहीं भूलना चाहिये कि टिकट खिड़की पर सर्वाधिक व सर्वकालिक सफल फिल्म 'टाइटैनिक' अपने हैरत-अंगेज स्पेशल इफैक्टस के कारण नहीं बल्कि इसलिए सफल हुई कि पात्र जैक डॉसन ने अपनी प्रियतमा के लिए अपना जीवन न्यौछावर कर दुनिया भर के हर उम्र के लाखों दर्शकों की आखें नम कर दीं। टाइटैनिक दरअसल आख्यान की विजय यात्रा है।''

आख्यान की विजय यात्रा तो शरत का ''देवदास'' भी है; काश इक्कीसवीं शती की भोर में इस बात को समझा जाता।
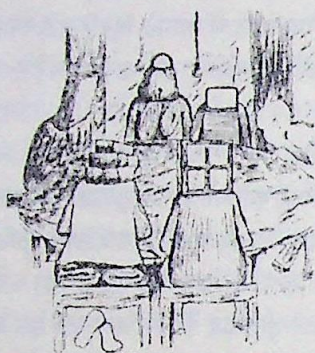
# अँधेरे में खोजते हुए पगचिह्न

पंकज चतुर्वेदी

कई वर्ष पहले जाने-माने कवि-आलोचक विष्णु खरे ने दिल्ली में अपने एक भाषण के बीच कहा था कि 'वीरेन डंगवाल और विनोद कुमार शुक्ल को बिना किसी विश्लेषण या मूल्यांकन के ही बड़ा कवि मान लिया गया है।' विष्णु जी का संकेत हिन्दी जगत् में व्याप्त आलोचना के संकट की ओर था। इसका शिकार स्वयं उनका कवि-व्यक्तित्व भी है - उनकी कविता के वैशिष्ट्य और उत्कर्ष पर ठीक से बहस नहीं की गयी है। ख़ैर - - । वीरेन डंगवाल को उन्होंने बड़ा कवि तब माना और कहा था, जब वीरेन जी का एक ही संग्रह आया था - 'इसी दुनिया में'। अब तो 'दुश्चक्र में स्त्रष्टा' भी सामने है। मैंने इसके विश्लेषण का एक प्रयत्न किया है। ईमानदारी और संवेदनशीलता के साथ। मगर यह कोशिश भाग्यहीन भी हो सकती है। कोशिश तो कोशिश ही है और मैं आलोचक तो हूँ नहीं। पाठक हूँ और वीरेन जी की कविता से मुझे वर्षों से गहरा प्रेम है। उनसे परिचय के कारण हर्गिज़ नहीं, शुद्ध कविता की वजहों से। - - - - संभव है, अपने प्रेम को मैं समीक्षा के स्तर पर सिद्ध न कर पाऊँ, लेकिन इससे मेरे लगाव और कविता की तमाम विशेषताएँ छोटी नहीं हो जातीं।

मेरा मानना है कि इस संग्रह को साहित्य अकादेमी सम्मान मिलना चाहिए और यह पिछले बीस वर्षों में आये हिन्दी कविता-संग्रहों के सर्वश्रेष्ठ में - से है। मैंने कृष्णमोहन जी से यह बात कही भी। उन्होंने कहा कि 'साहित्य अकादेमी' तो काशीनाथ सिंह को 'काशी का अस्सी' पर मिलना चाहिए (जैसी कि डॉ. नामवर सिंह से लेकर डॉ. नंद किशोर नवल तक की ख़्वाहिश है); वीरेन जी के संदर्भ में इस पुरस्कार की बात करना उनके निरादर सरीखा है। ज़ाहिर है कि वीरेन डंगवाल की कविता को इस हद तक चाहने और उसका सम्मान करने वाले हिन्दी में ख़ासी बड़ी संख्या में है। इतना कम लिखकर भी उन्होंने

यह मक़बूलियत हासिल की है। उनकी पीढ़ी के सर्वश्री मंगलेश - अरुण - उदय - राजेश - नीलाभ आदि ने उनसे दोगुनी रचनाएँ की हैं, पर वज़न के बारे में शायद यही बात नहीं कही जा सकेगी। यह भी सही है कि वीरेन में consistency का अभाव न रहे तो वे और बड़े कवि हो सकते हैं, अपनी पीढ़ी को surpass करते हुए - पर यह तो महज़ एक ख़याल है और कविता की दुनिया भी कोई competition की दुनिया नहीं है। वीरेन के शब्दों में, ''कोई जवाबी कीर्त्तन नहीं हो रहा है।''

मेरा लेख तो बहुत बड़ा हो गया है, मेरी पकड़ से लगभग छूटकर। मेरा ऐसा इरादा नहीं था, पर कविता में ऐसी जटिलता और विस्तार था कि उसने मुझे भारी मुश्किल में डाल दिया। पिछले एक दशक में मैंने पाँच-सात समीक्षाएँ ही और की हैं, पर ,ऐसी मुश्किल कभी पेश नहीं आयी। यह कविता की विलक्षणता थी और मेरा असामर्थ्य! मगर मुझे लगता है कि इससे कम में वीरेन जी की कविता पर बात नहीं हो सकती है, उसके साथ न्याय हो पाना तो दूर रहा।

इसी समय में कई लोग इस कविता पर ''सुचिंतित चुप्पी'' अख़्तियार किये हुये हैं, जिनमें से कुछ तो वीरेन के समवयसी या कनिष्ठ पीढ़ी के कवि भी हैं। तीन आलोचकों - सर्वश्री कृष्णनारायण कक्कड़, सुरेश सलिल, अपूर्वानंद - में उनकी कविता के प्रति कुछ असहमति या रोष का भाव भी था। यह और बात है कि इसको सार्वजनिक तौर पर ये लोग स्वीकार न करें। बहुत सारी बातें - मुद्दे-सवाल और बहसें थीं, जो मेरे ज़ेहन में अर्से से घुमड़ रही थीं, जिस दौरान मैंने यह लेख लिखा है। उन सबका तार्किक प्रतिवाद भी इसमें समाहित करने की चेष्टा की है।

कई रतजगों के बाद, बिजली और वर्षा के पानी के भीषण अभाव और वीरेनजी के मुहावरे में 'सूरमा मच्छरों' के दंश के बीच - जनरेटरों की आतंकी छाया में मैं यह जैसा-तैसा / बेसम्हाल क़िस्म का लेख लिख पाया हूँ। भरोसा नहीं है कि आपकी अपेक्षा को पूरा कर सकेगा। फिर भी जैसा भी हूँ, मैं ही हूँ और इसका विकल्प हो भी क्या सकता था? आपसे गुज़ारिश यही है कि आपको जितना अच्छा या ठीक लगे, प्रकाशित कीजियेगा, बाक़ी सब मेरी नादानी है। ऊपर उल्लिखित कारणों से लिखने-भेजने में ऐसा विलम्ब हो गया - मैं पहले से ही दुखी और शर्मिन्दा हूँ और अब आपसे माफ़ी भी चाहता हूँ। आपका इतना स्नेह न होता तो मैं लिख भी न पाता। आपने हाशिये पर पड़े हुये लोगों को हमेशा प्रोत्साहित किया है - 'संस्कृति के दर्पण में मुस्कराने' से इस संस्कृति-कर्म की कहीं तुलना नहीं हो सकती।

यह लेख लिखने में मैं इतना ''रिक्त और नष्ट'' हो गया कि नैनीताल की उपन्यास-केन्द्रित पुनश्चर्या पर रपट नहीं लिख सका। समय और मानसिक तैयारी का अभाव भी इसके लिए ज़िम्मेदार हैं। फिर मुझे वैसा लिखने से बहुत डर लगता है, जो आपकी कसौटी पर अपने को कतई साबित न कर सके।

### पंकज चतुर्वेदी

''भौतिक आनंद की छटपटाती तलाश में यह (भारतीय मध्य वर्ग) बेहिचक भगवान और उसकी देवियों की सेवाओं को भी शामिल कर ले रहा है। - - - - पैसे की तलाश में देवी-देवताओं की अंधभक्ति और उन अन्य लोगों के प्रति अंधी घृणा के बीच, जो आपके देवी-देवताओं में साझा नहीं करते, बस क़दम-भर का फ़र्क़ है। अहमदाबाद के

*मध्य-वर्गीय लुटेरों ने शायद यही छोटा-सा कदम उठाया था। गुजरात में जो कुछ हुआ था, वह उसका एक ट्रेलर भर है, जो हमारे देश के अन्य शहरों में हो सकता है, अगर हिंदुओं के लिए हिंदुस्तान वाली विचारधारा इसी तरह पसरती रही।''*

*के. बिक्रम सिंह*

*'' - - - - - - - - तो जनाब फासिज़्म तो आ गया, आ रहा है। एक नये दौर में वह दाख़िल हो गया। जो नक़ाब था चेहरे पर, उसने तय कर लिया है, उस नक़ाब को उतारने का। इसका वक़्त आ गया, ऐसा उन्होंने तय किया है।''*

*एजाज़ अहमद*

वीरेन डंगवाल के नये कविता-संग्रह 'दुश्चक्र में स्रष्टा' पर लिखना यहाँ अभीष्ट है। उनकी कविता में वह ख़ुसूसियत है कि आपको उससे प्रेम हो सकता है। फ़िराक गोरखपुरी का शेर है ' तुझमें कोई कमी नहीं पाते / तुझमें कोई कमी नहीं मिलती।'' कवि वीरेन के व्यक्तित्व में ''सौम्यता और व्यवहार-कुशलता'' भी बाज़ाब्ता हैं, लेकिन उनकी कविता की लोकप्रियता की यह वजह नहीं है; जैसा कि सूचना-पत्रिका 'इंडिया टुडे' ने 10 जुलाई, 2002 के अपने अंक में विज्ञापित किया है। इससे उलट वीरेन की पहचान यह है कि वे औरों की तरह साहित्यिक कैरियरिज़्म की भेड़चाल में कभी शरीक नहीं हुए। बहरहाल, इस पर बाद में।

इस निबंध की शुरुआत में उपर्युक्त उद्धरण इसलिए दिये गये कि एक तरफ़ हिंदुस्तानी राष्ट्र-राज्य की मशीनरी का क्रूर सांप्रदायिक फ़ासीवाद के नये और घातक अभियान में निरे लज्जास्पद ढंग से शामिल होना, अमेरिकी अर्थतंत्र के विश्वव्यापी प्रभुत्व के प्रति अदूरदर्शिता के साथ नतमस्तक होना, सामाजिक विकास और जनहित के सभी मुद्दों और ज़िम्मेदारियों से पीछा छुड़ाकर भ्रष्ट तथा आपराधिक तौर-तरीकों से शासन-संचालन और राज्य की समस्त संस्थाओं एवं संपत्तियों को अविचारित निजीकरण करते जाना; तो दूसरी ओर उच्च मध्यवर्ग और मध्यवर्ग की प्रवृत्तियों में सम्पन्नता और विलास की नितान्त आत्मबद्ध, आत्मकेन्द्रित उपभोक्तावादी संस्कृति का संक्रमित हो आना, बंधुत्व, समता और न्यायप्रियता के तमाम आदर्शों और मूल्यों से वंचित होकर सतही क़िस्म की धार्मिकता और हिंसक सांप्रदायिक चेतना से उसकी संधि का स्थापित होना, और अपने छोटे-छोटे स्वार्थों, सुरक्षाओं तथा वासनाओं की तुष्टि के लिए उसका तुरन्त आत्महीन, अराजक या परपीड़क हो उठना - ये सारी चीज़ें और प्रक्रियाएँ समानान्तर सत्य ही नहीं है,परस्पर सम्बद्ध और संश्लिष्ट होकर समकालीन भारतीय यथार्थ का वह दारुण परिदृश्य हैं, जिसे वीरेन डंगवाल ने अपने संग्रह में बहुत गहरे, प्रखर और मर्मस्पर्शी शिल्प में प्रत्यक्ष किया है। मुक्तिबोध ने 'डोमाजी उस्ताद' को 'शहर का कुख्यात हत्यारा' कहा था, लेकिन आज के कवि को यह सुविधा नहीं रही; क्योंकि हत्यारा अब एक भद्र वेश विन्यास में प्रस्तुत ही नहीं है, बल्कि नीति-निर्माण की उच्चतम राजनीतिक व्यवस्था में स्वीकृत और समादृत भी हो चला है और विडंबना यह कि जिस मध्यवर्गीय भद्रलोक की इस आपराधिकता से असहमति और रंजिश थी, उसने भी इसके विरुद्ध कोई जोखिम उठाने से

इन्कार कर दिया है। कितने व्यंग्य के साथ वीरेन ने हमारे राष्ट्रीय जीवन में उतर आयी इस प्रतिरोध-हीनता के दर्द की अगवानी की है; जैसे विधानसभाएँ वातानुकूलित न होतीं, तो 'डोमाजी' का यह अभ्युदय भी संभव नहीं था -

''डोमाजी उस्ताद सुधर चुके
और विधानसभा भी कभी की वातानुकूलित की जा चुकी
मान लिया भद्र लोगो, कोई ख़तरा नहीं बाक़ी बचा
हड्डी-खोपड़ीविहीन वह शुभ दिन
आ ही गया आख़िर हमारे देश में।''

वीरेन के यहाँ ख़तरा और प्यार, वस्तुतः एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्यार नष्ट हुआ है, क्योंकि ख़तरों से रूबरू होने की ताब नहीं बची - ''अब दरअसल सारे ख़तरे ख़त्म हो चुके / प्यार की तरह''। इसलिए यह कहना अधूरा, बल्कि नुक़्सानदेह आकलन होगा कि वीरेन डंगवाल प्रेम के कवि हैं। सच है कि प्रेम की आकांक्षा, वह भी सबकी ज़िन्दगी में उसे चरितार्थ होता देखने की आकांक्षा, सबके हित में उसका एहतिराम वीरेन की कविता की केन्द्रीय पुकार बन गया है और यह पुकार मार्मिक और सशक्त है, क्योंकि यह प्रेम के न होने की सच्चाई से वाक़िफ़ है - ''यह कौन नहीं चाहेगा उसको मिले प्यार''! कविता की अनुगूँज में वह विलक्षण व्याप्ति है, जो इसे हमारे कठिन समय की पुकार में बदल देती है। उल्लेखनीय है कि यहाँ आकांक्षित प्यार अपने रूप और मिज़ाज में उस प्रेम से भिन्न है, जो महज़ किसी स्त्री से संबोधित होने और उससे संसर्ग करने की उदग्र कामनाओं में ही व्यक्त हो पाता है। इस प्यार का अंतरंग, इसकी दुनिया बड़ी है। अनगिनत भोली, सुंदर, मासूम इच्छाओं का विफल रह जाना, किसी सपने का पूरा न हो सकना, किसी खुशी का न मिल पाना - विराट् जन-जीवन के इस पराभव के पीछे आख़िर कौन-सी शक्तियाँ हैं? कविता इसके कारणों को जानना चाहती है, उन कारणों से लड़ना चाहती है -

''किसने आख़िर ऐसा समाज रच डाला है
जिसमें बस वही दमकता है, जो काला है?''

यहाँ सत्ता, बुद्धि-चातुर्य, विलास और ऐश्वर्य के आभिजात्य से एक समर छेड़ने का आह्वान कवि करता है, क्योंकि उससे अभिभूत होने की बजाए उसने वह कालिख देखी है, जो इसकी आत्मा से चिपटी है -

''कालेपन की वे सन्तानें
हैं बिछा रही जिन काली इच्छाओं की बिसात
वे अपने कालेपन से हमको घेर रहीं
अपना काला जादू हैं हम पर फेर रहीं
बोलो तो, कुछ करना भी है
या काला शरबत पीते-पीते मरना है?''

कालिमा का यह बढ़ता हुआ प्रसार वही सघन अंधकार है, जो निराला की चिंता के केन्द्र में था और जिससे घिरा हुआ मुक्तिबोध ने अपने को पाया था - ''काला समुंदर ही लहराया, लहराया!'' यह भी कहा था कि ''इस काले समुंदर का पश्चिमी किनारे से नाता है!'' कहना होगा कि 'काला शरबत' इसी काले समुद्र से आता है। वीरेन डंगवाल का यह वैशिष्ट्य है कि वे निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन, शमशेर और रघुवीर सहाय की काव्य-परंपरा को अपने समय के संकटों को पहचानने और व्यक्त करने में विकसित करते हैं। यह हिन्दी की विरासत है कि रचना में सच को देखने और बरतने का हुनर ही काफ़ी नहीं है, सच से जूझने की ईमानदारी और साहस भी ज़रूरी हैं। जब वीरेन कहते हैं कि मनुष्यता इतने लाख वर्ष चलकर आयी है और इसके आगे भी चलकर ही जा सकती है; तो 'चलना' उनके यहाँ संघर्ष और प्रगति का पर्याय है -

''आकाश उगलता अंधकार फिर एक बार
संशय-विदीर्ण आत्मा राम की अकुलाती
होगा वह समर, अभी होगा कुछ और बार
तब कहीं मेघ ये छिन्न-भिन्न हो पायेंगे।''

स्वतन्त्रता और सौन्दर्य गति में हैं, स्थगित या गतानुगतिक हो जाने में नहीं - ''जो सुन्दर था / गतिमान भी था वही / पकड़ा न गया / पकड़ा गया मैं / जकड़ा गया।'' इसका सत्य यह है कि वीरेन ठंडे, निश्चेष्ट, पिछड़े हुए समय-समाज की गिरफ़्त में एक आदिम अँधेरे की जकड़न महसूस करते हैं।

''पीड़ा की इस कठिन अर्गला'' को तोड़ने के लिए वे जन-मानस में एक नया उन्मेष चाहते हैं, क्योंकि उनकी आस्था 'सतत् जाग्रत ज्योतिर्विवेक' में है, 'जनपीड़ा-जनित प्रचंड क्रोध' में है।

''फ़िलहाल श्रवण सीमा से आगे इसीलिए अश्रव्य है
उनका क्षुब्ध हा-हाकार
घनीभूत और सुसंगठित होनी है उनकी वेदना अभी
सुरती ठोंकता हुआ कर रहा हूँ मैं
प्रागैतिहासिक रात के बीतने का यही इन्तज़ार''

उपर्युक्त इंतज़ार की आलोचना की जा सकती है और इसे अकर्म या फिर सरल आशावाद कहकर आप ख़ारिज कर सकते हैं; लेकिन यह उस 'वापसी' या 'विस्मरण' से श्रेष्ठ तो है ही, जिसको आजकल कुछ विगत साम्यवादी रचना या विचार की दुनिया में मूल्य की तरह प्रस्तावित कर रहे हैं और जीवन-मूल्य के तौर पर गले लगा रहे हैं। यह प्रेम अचानक नहीं जन्मा है, बल्कि पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में दुनिया-भर में समाजवादी चिंतन और शासन व्यवस्थाओं के बिखराव के ऐतिहासिक संदर्भ में पैदा हुआ है। अतः बदली हुई परिस्थिति में, आलोकधन्वा के शब्दों में, प्रोन्नत और पुरस्कृत होने के लिए 'भूलने' के सिवा कोई उपाय भी नहीं रहा है -

''अब तो भूलने की भी बड़ी कीमत मिलती है / अब तो यही करते हैं / लालची ज़लील लोग''। ज़ाहिर है कि ऐसों की बनिस्बत वीरेन को भरोसा उन लोगों में है, जो ''अभी भी / भूले नहीं करना / साफ़ और मज़बूत / इनकार।'' उनकी कविता भी इन्हीं लोगों के लिए है; उन दोस्तों के लिए, जिनसे बक़ौल शमशेर, 'ज़िन्दगी में मानी पैदा होते हैं।'

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में, ख़ास तौर पर इमरजेंसी के समय से जिस तरह सामंती-साम्राज्यवादी, अर्द्ध-फ़ासीवादी और फिर फ़ासीवादी शक्तियाँ शासन करती आ रही हैं; उससे समस्त सामान्य जन असमाधेय मुश्किल में तो पड़ ही गये हैं, उनकी मेधा और सृजनात्मकता की कुंठित और हतप्रभ हुई है। 'दुश्चक्र में स्त्रष्टा' का यही अर्थ है। 'कारीगरी का कमाल' भगवान का नहीं है, व्यंग्य है कि ऐसी मान्यता चली आती है - ''जैसा कि कहा ही जाता है''! अलबत्ता नदी, पहाड़, समुद्र, मनुष्य और मनुष्येतर जीव-सृष्टि के चकित कर देने वाले, विविध और संश्लिष्ट रूप-गुण की जैसी रचना ईश्वर ने की है; वैसे विशाल, उदात्त, ऐन्द्रिय और सजल सौन्दर्य को बरक़रार रखने और अभिव्यक्ति की नयी मंज़िलों तक पहुँचाने में मनुष्य खुद सक्षम है। उसके पास वह विलक्षण दिमाग़ है, जो ''पल भर में पूरे ब्रह्मांड के आर-पार'' जा सकता है। फिर भी इस जन को स्त्रष्टा न होने देने के लिए एक समूचा व्यवस्थागत षड्यन्त्र सक्रिय है - इसी वास्तविक स्त्रष्टा को अपदस्थ बनाये रखने की ग़रज़ से पुरोहितों, सामंतों, पूँजीपतियों ने अवास्तविक की महिमा का अंतहीन बखान किया है - नागार्जुन के शब्द हैं - ''ज़ोर देकर कह रहे ये वेद और पुरान / मूल से चिपटे रहो नादान''! दरअसल प्रभु-वर्ग के इस पाखण्ड को निहत्था करने के लिए वीरेन ईश्वर की मनुष्य-कृत परिकल्पना की धज्जियाँ उड़ा देते हैं -

''आख़िर यह किनके हाथों सौंप दिया है ईश्वर
तुमने अपना इतना बड़ा करोबार? - - - - -
किस घोंसले में जा छिपे हो भगवान्?
कौन-सा है आख़िर, वह सातवाँ आसमान?
हे, अरे, अबे, ओ करुणानिधान!!''

प्रसंगवश, वीरेन डंगवाल की कविता में ईश्वर और धर्म की अवधारणाओं के साथ जो 'ट्रीटमेंट' है, जैसी तल्ख़ और निभ्रन्ति भंगिमा है; वह सबसे ज्यादा नागार्जुन के ''नक्सल मिज़ाज'' के समकक्ष है। नागार्जुन ने भगवान् को 'कल्पना का पुत्र' तो कहा ही, 'वितंडावाद' की संज्ञा भी दी। उपहास करते हुए लिखा - ''न अब तक सुलझे तुम्हारे बाल / थक गयीं लाखों ऊँगलियाँ, हो गया अतिकाल / अँधेरे में रहे लोग टटोल - ठोस हो या पोल?'' इसी तरह वीरेन के यहाँ कुत्ते की लगातार हिलती हुई दुम ''गोया एक अदृश्य पंखे की मूठ'' है, जो भगवान् के मुखड़े पर झली जाती रहती है। वीरेन के यहाँ आत्म-निर्ममता का भी ऐसा ही प्रखर चैतन्य है, जो वर्तमान सभ्यता के हाशिये पर कवि की या निज की अवस्थिति के अभिज्ञान और अपने दोषों तथा त्रुटियों के सहज स्वीकार में प्रगट होता है। यह आत्म-स्वीकार इतना निश्छल और अन्यों के साथ उनका साझा इतना आत्मीय है कि इसमें वह अद्भुत मानवीय

गरिमा झलकती है, जो किसी और समकालीन कवि में धोखे से भी नहीं मिलती। इसमें हमें यह दृष्टि हासिल होती है कि मनुष्य का विचलन उतना ही स्वाभाविक है, जितने कि आत्मोन्नयन के उसके प्रयत्न अनिवार्य हैं। वीरेन मूर्त्ति-भंजन की कला में निष्णात हैं, चाहे वह अपनी मूर्त्ति क्यों न हो! इसे वे एक ज़रूरी कर्तव्य की तरह निबाहते हैं और बहुधा शरारत की हद तक। इस तरह वे किसी के लिए 'अन्य' नहीं रह जाते और किसी को उच्चतर, अभिजात अथवा 'अन्य' (विशिष्ट के अर्थ में) मानने से इन्कार भी करते हैं। ईश्वर के साथ भी उनका यह साझा दिलचस्प है -

''हे ईश्वर, पापों से लिथड़ा हुआ था जीवन
हालाँकि तू गवाह है, पर्याप्त कर नहीं पाया मैं।
ज़्यादातर थे मेरी पकड़ से बाहर।''

यहाँ पाप या तुच्छता की स्वीकृति तो महज़ एक आलम्बन है, सवाल यह पूछा गया है कि पाप-पुण्य की कसौटी किसके लिए खोजी और गढ़ी गयी है? अगर 'समर्थ' लोगों के जीवन में यह निकष बेमानी है, जैसा कि है; तो सामान्य जन को बिना डरे ''कुछ बहुत निर्मल सपने'' देखने ही चाहिए, जो किसी की दया के मुहताज न हों। अंततः ये सपने ही बचायेंगे, ईश्वर की अनुकंपा नहीं - ''उन्होंने ही बचाकर रखा है मुझे / तेरी कृपा के बावजूद।'' एक और कविता भिन्न संदर्भ में आगाह करती है कि ''महारथी की अनुकम्पा भरी मुस्कान'' से सम्मोहित न हो जाना, क्योंकि ''सोने के हाथों में चमड़े के कोड़े'' हैं। इसके बरअक्स सपनों के लिए जीना, वीरेन के शब्दों में, ''चूहों की-सी अदम्य तल्लीनता से'' फ़रिश्तों के बुने, उलझे हुए आसमानी जाल को कुतरना है - ग्रह - नक्षत्रों का यह जाल मूलतः ईश्वर, वेद-पुराण, ज्योतिष, स्मृति-ग्रन्थों और सनातनी संस्कारों से निर्मित एक नैतिक-धार्मिक मूल्य-व्यवस्था है, जो हमें प्रदत्त है - मर्यादा का वह दमनकारी, एकांगी विमर्श; जो अभिजात सवर्ण हिन्दू पुरुष के पक्ष से चलाया जाता है और जिससे बहस करने पर आप विधर्मी, विदेशी, कुजात या कुमार्गी की शत्रु-छवि से ही मंडित किये जायेंगे। आसन्न अतीत में ज्योतिष को ज्ञान के आधुनिक अनुशासन के रूप में विश्वविद्यालयों में प्रतिष्ठित करने की जो सरकारी मुहिम चलायी गयी, कहने की ज़रूरत नहीं कि वह इसी ''आसमानी जाल'' को जनता के जीवन पर फेंकने का एक अपवित्र उद्यम था।

इसी तरह आडवाणी के सांप्रदायिक लश्कर (कैफ़ी आज़मी ने रथ-यात्रा को 'लश्कर' कहा था) और बाबरी मस्जिद के ध्वंस से लेकर गुजरात के दंगों की विभीषिका का जो ख़ौफनाक दौर है, वीरेन डंगवाल के इस संग्रह में उसके असर को साफ़ चिह्नित किया जा सकता है। यह यों ही नहीं है कि वे 'कुछ नयी कसमों' में उन 'प्रमोद महाजन की कसम'' को विशेषतया जगह देते हैं, जिन्होंने हाल में राष्ट्रपति सरीखे सर्वोच्च संवैधानिक पद के लिए अपनी पार्टी द्वारा प्रत्याशी तय किये जाने के उपक्रम को कक्षा में किसी उपग्रह की स्थापना के सदृश माना है। सवाल उठाये जाने पर राज्यसभा में सबके सामने अतिशय उदार होकर माफ़ी भी माँग

ली - 'मुँह में राम, बग़ल में छूरी' इसी को कहते हैं। एक उदाहरण ही बताने को बहुत है कि संघ-संप्रदाय भारतीय संविधान का कितना आदर करता है और मंदिर-निर्माण के जिस अभियान का वह अगुवा है, उसकी बुनियाद कितनी रक्तरंजित और अमानवीय है; इसे दुनिया-भर में प्रार्थना-गृहों के इतिहास से जाना जा सकता है -

''प्रार्थनागृह ज़रूर उठाये गये एक से एक आलीशान।
मगर भीतर चिने हुए रक्त के गारे से
वे खोखले आत्माहीन शिखर-गुम्बद-मीनार
उँगली से छूते ही जिन्हें रिस आता है ख़ून!''

धर्म को राजनीतिक सत्ता हासिल करने की कुंजी और अपने चरित्र को चमकाने की चीज़ बनाने वाले इन जन-प्रतिनिधियों को वीरेन ऐसी तीखी निगाह से देखते हैं कि सोना भी सोना नहीं रह जाता - ''कलावा बाँधे गद्‌गद खल विदूषक / सोने के मुकुट पहनते उतरवा रहे हैं / फोटो'' । ये विदूषक दरअसल हृष्ट-पुष्ट चूहे हैं, जो मनुष्य की हत्या का अपशकुन लेकर तो चले ही रहे हैं; तुलसी, गाँधी, निराला और विवेकानंद जैसे महापुरुषों की विचार-संपदा को अपने हित में विकृत, अपहृत और अनुकूलित करने की चेष्टाओं में भी संलग्न हैं। वीरेन एक ध्वनि-संयोजन के सहारे उनकी निकृष्ट क़िस्म की उपस्थिति का एहसास कराते हैं और उनके मूलभूत बौनेपन को रेखांकित करके वृहत्तर मनुष्यता की विजय में हमारा विश्वास नये सिरे से जगाते हैं -

''तहख़ानों से निकले मोटे-मोटे चूहे
जो लाशों की बदबू फैलाते घूम रहे
हैं कुतर रहे पुरखों की सारी तस्वीरें
चीं-चीं, चिक्-चिक् की धूम मचाते घूम रहे
पर डरो नहीं, चूहे आख़िर चूहे ही हैं,
जीवन की महिमा नष्ट नहीं कर पायेंगे।''

वीरेन डंगवाल की ये कविताएँ गुजरात त्रासदी के पहले ही छपकर आ गयी थीं; लेकिन अहमदाबाद में सांप्रदायिक हिंसा के दरमियान अल्पसंख्यकों की दुकानों को लूटने के लिए खाते-पीते, संभ्रांत कहे जाने वाले मध्यवर्ग के पुरुष ही नहीं, महिलाएँ भी अपनी जिन कारों और स्कूटरों से पहुँची थीं, क्या उन्हें यहाँ लक्ष्य न किया जा चुका था - ''ओउम् लिखा स्कूटर दौड़ा राम लिखाकर कार''? - - - - और जिस तरह गुजरात में कट्टर हिन्दूवादियों ने कुछ ग़रीब दलित और आदिवासी जातियों को दंगों में इस्तेमाल किया, उससे शासन-तंत्र की सांप्रदायिक रणनीति के सफल प्रसार की ही सूचना मिलती है। वीरेन ने इसकी पहले से चली आ रही तैयारी से ख़बरदार किया था -

''ग़रीब बस्तियों में भी
धमाके से हुआ देवी जागरण

लाउडस्पीकर पर । ----

याने साधन तो सभी जुटा लिये हैं अत्याचारियों ने''

साधनों को जुटाने और आज़माने के बाद अब ये शक्तियाँ अपने बेनक़ाब सत्तारोहण का इंतिज़ाम कर रही हैं। एजाज़ अहमद के मुताबिक़ फ़ासिज़्म का यह नया चरण है। ग़ौरतलब है कि मुक्तिबोध ने 'आधी रात अँधेरे में / किसी मृत्यु दल की जो शोभा-यात्रा' देखी थी, उसे आलोचकों ने 'फ़ासिस्ट जुलूस' माना है। जुलूस में ''इसी नगर की गहन मृतात्माएँ'' थीं, जो ''भूत-पिशाच-काय'' दिखती थीं - अँधेरे में उनके ''भीतर का राक्षसी स्वार्थ'' उभर आया था! लेकिन उस समय जो रात में ''दुनिया की नज़रों से हटकर / छुपे तरीके से'' किसी नगर में हो रहा था; उसे आज हम समूचे मुल्क में, सबकी आँखों के सामने, दिन-दहाड़े होता देख सकते हैं -

''बावर्दी बेवर्दी हत्यारे
रौंद रहे गाँव-गाँव - नगर - नगर
एक प्रेतलीला सी जैसे चलती रहती है लगातार''

लेकिन इसका सबब क्या वही नहीं - ''मानो मेरे कारण ही लग गया / मार्शल लॉ वह / मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया''? वीरेन डंगवाल की काव्योपलब्धि यह है कि सामान्य भारतीय जन की पराजय और वंचना तथा फ़ासिस्ट तत्वों के बढ़ते हुए आधिपत्य के बीच वे मध्यवर्ग को, तमाम क्षुद्र क़िस्म की निजी चिंताओं और स्वार्थों की भाग-दौड़ में उसके मुब्तिला बने रहने को इस विडंबना का ज़िम्मेदार ठहराते हैं - इसमें आत्मालोचना का दंश बीचोंबीच स्थित है। सबसे बड़ी बात यह कि वे मध्यवर्ग के अंतर्विरोधग्रस्त अवसाद के आंतरिक शून्य की शिनाख़्त करते हैं और विडंबना के पूरे गत्यात्मक संदर्भ-चित्र के साथ, मार्मिकता के चरम पर उसकी अभिव्यक्ति करते हैं -

''अब तो डब्बे भी पाँच एसी के
पाँच में ठुँसा हुआ बाक़ी वतन
आत्मग्रस्त छिछलापन ही जैसे रह आया जीवन में शेष
प्यारे मंगलेश
अपन लोग फँसे रहे चीं-चीं-चीं-टुट-पुट में जीवन की
भीषणतम मुश्किल में दीन और देश।''

माया ने करोड़ों रूप धारण किये हैं, स्वजन बेगाने हो गये और अपना ही मुल्क परदेस हुआ जाता है! अपने ही भारतीय यथार्थ का अपने सचेतन अस्तित्व के लिए इस क़द्र अजनबी, विश्रृंखल और विजातीय हो उठना - निश्चय ही यह मौजूदा ऐतिहासिक हक़ीक़त है; लेकिन इससे लगाव और अलगाव के इतने सशक्त 'कंट्रास्ट' की रचना, इतनी शिद्दत से उसका साक्षात्कार मुमकिन हुआ है, क्योंकि वीरेन डंगवाल की काव्य-संवेदना में प्रेम की निविड़ता तो है ही, सामान्य भारतीय जन के मुक्तिकामी प्रयत्नों को व्यर्थ और अप्रासंगिक बना

रही इकहरी एवं असहिष्णु 'सांस्कृतिक' राजनीति की उतनी ही पैनी समझदारी भी है। आज देश के इतिहास में वह समय आ पहुँचा है, जब शमशेरबहादुर सिंह के शब्दों में - ''छपे काव्य में / लिपि - सम्बन्धी / दंगे / संस्कृति / बनने लगते हैं''! कबीर ने एक आध्यात्मिक अर्थ में कहा था कि 'रहना नहीं, ये देस बिराना है', लेकिन वीरेन की मुश्किल यह है कि रहना यहीं है, 'इसी दुनिया में'! इसलिए उनके यहाँ एक सुखद रोमांच की बात यह है कि वे ठेठ भौतिक अर्थ में कबीर के शब्द प्रयोग करते हैं और मीर तक़ी मीर के - से अंदाज़ में हमें यह प्यारी और सख़्त हिदायत देते हैं -

''देस बिराना हुआ मगर इसमें ही रहना है
कहीं ना छोड़ के जाना है इसे वापस भी पाना है
बस न तू आँधी में उड़ियो । मती ना आँधी में उड़ियो।''

उपर्युक्त का अर्थ यह नहीं कि कवि जीवन-दुख से, प्रेम की पीड़ा से या मृत्यु की सच्चाई से मुख़ातिब नहीं है। दुख अपना ही नहीं, जन-जन का और मनुष्येतर प्राणियों का भी। अपना यह संताप कि क़र्ज़ लेकर ख़रीदा गया घर सारी ज़िन्दगी साथ चलेगा, ''बैंक की क़िस्तों की तरह''! दूसरी ओर कवि के अपने बेघर, बेरोज़गार, विपन्न लोग हैं, जो उसके 'देश की हवा में हर ठौर चिंदियों की तरह उड़े चले जाते' हैं। यही नगण्य लोग ''पूरे संसार को ढोने वाली'' ताक़त हैं, पर उन्हें सही अभिव्यक्ति नहीं मिल पायी है। इनमें वह रज्जो है, जो पोलीथीन से कटोरी ढाँपकर घर लौट रही है, उसे यह फ़िक्र है कि ''अम्मा के आने से पहले चूल्हा तो धौंका ले / रखे छौंक तरकारी ।'' 'पालदार नाव की तरह' चलता हुआ ख़ूबसूरत रिक्शा है, ''खिंचता मगर / एक आदमी के प्राणों से।'' अपनी गर्दन पर इक्के का बोझ सम्हाले घोड़ा है, जो बारिश से भीगी हुई सड़क पर रपट गया है - ''लिथड़ा पड़ा चलाता टाँगें आँखों में भर आँसू''। अंततः क्या है ज़िन्दगी? कभी-कभी शेक्सपीयर की याद नहीं घेरती - ''लाइफ इज़ अ टेल टोल्ड बाय एन ईडियट / फुल ऑफ़ साउण्ड एण्ड फ्यूरी / सिग्निफ़ाइंग नथिंग''? या फिर तुलसी की स्मृति - ''कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो''? कैसा आश्चर्यजनक साम्य है कि वीरेन की कविता में ज़िन्दगी मानो एक निरर्थक शोर से भरी हुई गाड़ी है, जिसमें नींद कभी ठीक से आती नहीं - ''रात चूँ-चर्र-मर्र जाती है / ऐसी गाड़ी में भला नींद कहीं आती है?''

रात 'विकट' है। और शाम? यहाँ वीरेन डंगवाल शमशेर का स्मरण करा देते हैं - ''शाम रुलाई फूटने से ठीक पहले का लम्बा पल।'' यह रुलाई बहुत सारे सपनों और उम्मीदों की अपूर्णता, प्रेम की असंभाव्यता और जीवन की विषमता से वाबस्ता है; वीरेन का अंतरतम जैसे शमशेर से अभिन्न हो गया है - ''मैंने प्रेम किया / इसीलिए भोगने पड़े / मुझे इतने प्रतिशोध''। उन्हीं की तरह काल के समक्ष मनुष्य की अपराजेयता में वीरेन की आस्था है और त्रिलोचन की तरह जीवन की अमरता में - ''मृत्यु रुकती है नहीं तो जन्म भी रुकता कहाँ है?'' कवि को विश्वास उन लोगों में है, जो समाज में सुंदर मज़बूत विचारों की तरह हैं, क्योंकि उन्हें कभी नष्ट नहीं किया जा सकता - ''लोगों में ही प्रतिबिम्बित होता है भौतिक शास्त्र का / यह

अविनाशी संसार''। कवि ने इसी अर्थ में कहा है कि अपनी सरज़मीं को, इस दुनिया को ''कहीं ना छोड़ के जाना है'', यानी जाना भी है, तो एक अनिवार्य सजल संवेदना की तरह अपने लोगों के ही पास छूट जाना है। सच पूछिये तो यह शमशेर बहादुर सिंह का सच्चा उत्तराधिकार है - ''अनश्वरता / मैं तुझ में घँसा रहूँ / तेरे दिल में मुसलसल गड़ती / एक मीटी फाँस!''

इस मक़ाम पर हमें तस्लीम करना चाहिए कि वीरेन डंगवाल मृत्यु के बरअक्स अपार जीवनासक्ति के कवि हैं। जीवितता के, जीवन-ऊष्मा के कवि! उनके यहाँ वह ''हठीला जीवन'' है, जो मध्यवर्ग की 'नींद के बावजूद / बढ़ता ही जाता आगे'! एक बहुत ही आत्मीय वैचारिक आभा और एक तरल पारदर्शी संवेदनशीलता से निर्मित वीरेन की कविता उस मित्र की तरह है; जो उनकी चाहत के मुताबिक़ और उन्हीं के शब्दों में 'खूब्र प्यारा और घना' है। सुंदर और सांद्र। वह ग़लत करने से बरजता है और कमज़ोर पड़ने पर हौसलाअफ़्ज़ाई करता है। चिंताओं से उज्र नहीं है, पर वे ऐसी न हों कि ''मन उनमें ही गले धुने''। यहाँ इसरार करना होगा कि इस कविता के अंतःकरण का आयतन बहुल और विस्तृत है। इसलिए समकालीन यथार्थ की मुठभेड़ से उपजे विषाद को वीरेन विपुल वस्तु-जगत्, मनुष्येतर जीव-सृष्टि और प्रकृति के घनिष्ठ साहचर्य से अर्जित ऊर्जा, ख़ुशी और सौन्दर्य-चेतना के बल पर अतिक्रांत करते हैं। मसलन फ़रवरी के महीने से वे अपने 'आलसी अँधेरे' के लिए माँगते हैं, 'एक झकझक किरण'। कुत्ते, भालू, भैंस या बंदर से उनके विशिष्ट गुण माँगकर जब वे प्रायः उपेक्षित या तिरस्कृत प्राणियों को गरिमा प्रदान करते हैं, तो यह जताते हैं कि मनुष्य को 'मनुष्येतर' हो सकने के लिए पशुओं से भी प्यार करना आना चाहिए, अलबत्ता सियार की-सी अक्ल अपनाने की चीज़ नहीं है। वीरेन जलेबी की ''सुन्दर और गर्मागर्म / पेचीदा सरसता'' के मुरीद हैं, तो ''चौड़े पत्तों वाले बदमाश' तम्बाकू का मोह भी संवरण नहीं कर पाते - वह दुश्मन है, मगर प्यारा-सा और हमारा ही उपजाया हुआ! जीवन में द्वंद्व की अपरिहार्यता की उनमें विलक्षण अंतदृष्टि है और उसके बेचैन गतिशील मानवीय सौन्दर्य के वे हिमायती हैं। 'रोनी दीवार' को 'जगर-मगर' करने वाला चूना उन्हें ख़ुश कर देता है, क्योंकि यह चूना ही है, जिससे 'अंधकार रह न गया सूना'! ज़ोरों की बारिश में धुले-पुँछे सूअर के बच्चे मे वे 'अँगरेज' का रुतबा देखते हैं, यानी सूअर भी अँगरेज बन सकता है। इसे विपरीत छोर से पढ़ें तो भी यह पंक्ति आपको प्रिय लग सकती है, अगर आपकी सोच औपनिवेशिक नहीं है। वैसे इस बच्चे की अकड़, वर्षा के आह्लाद से बनी मुद्रा दर्शनीय है -

> ''ठंडक पहुँची सीझ हृदय में अद्‌भुद मोद भरा है
> इससे इतनी अकड़ भरा है सूअर का बच्चा।''

ये सिर्फ़ कुछ उदाहरण साबित कर देते हैं कि वीरेन डंगवाल की इस दुनिया के विविध संदर्भों से कितनी गहरी और उत्कट संसक्ति है और वे इसका कितना मूर्त्त, ऐन्द्रिय, सजल और संश्लिष्ट आख्यान रच सकते हैं। कविता में जीवन-द्रव्य की यह रवानी और कशिश कई बार पाश की याद दिलाती है। वैसी ही सघन और असमाप्य जिजीविषा और जीवन को नष्ट

करने में लगी ताक़तों के प्रति वैसा ही ज्वलंत आक्रोश। मसलन अख़बारों में जिस तरह मृत्यु को 'सबसे आम और ख़ास ख़बर' के रूप में छापा जाता है और इस सनसनी में बिक्री के अवसर तलाशे जाते हैं; उसमें न जीवन का विवेक है, न उसके उद्दाम प्रवाह को स्वीकार करने की सदाशयता। फिर भी अपने समन्वित रूप में व्यापक जन-समाज की अदम्य जीवनी-शक्ति मृत्यु अथवा यथास्थिति के षड्यन्त्र की सारी अँधेरी वर्जनाओं को तोड़ने में सक्षम है, वीरेन डंगवाल का कवितांश है - ''जीवन / किन्तु बाहर था / मृत्यु की महानता की उस साठ प्वाइंट काली / चीख़ के बाहर था जीवन / वेगवान नदी सा हहराता / काटता तटबंध / तटबंध जो अगर चट्टान था / तब भी रेत ही था / अगर समझ सको तो, महोदय पत्रकार!'' जीवन की शाश्वत अजेयता में पाश की आस्था की याद आना स्वाभाविक है - ''मैं घास हूँ / मैं तुम्हारे सारे किये-धरे पर उग आऊँगा''। जैसे पाश ने लिखा है - ''हम चाहते हैं अपनी हथेली पर कोई इस तरह का सच / जैसे गुड़ की चाशनी में कण होता है / जैसे हुक्के में निकोटिन होती है / जैसे मिलन के समय महबूब के होठों पर / कोई मलाई जैसी चीज़ होती है'', उसी तरह वीरेन के यहाँ ''चलो तो निकल चलो घर से बाहर / फुसफुसाता है रक्त में छिपा तम्बाकू'', उसी तरह महबूब की स्मृति है - ''झकझोर मीठी जलेबी खायी / तो तुम्हें याद किया / पतलून की पेटी पर चाशनी पोंछी / तो तुम्हें याद किया'', यहाँ तक कि परोक्ष भी प्रत्यक्ष से ही सुन्दर और अर्थवान् है - ''और तो और / तुम्हें देखा तो भी तुम्हें याद किया।''

जीवन का ऐसा चितेरा और पक्षधर कवि ही कह सकता है कि ''तदेऊष रूज़ेविच की क़सम / कविता लिखना न आया न कभी आयेगा ही मुझे।'' यह समस्त पुस्तकीय और अकादेमिक ज्ञान, तथाकथित अंतर्राष्ट्रीय उच्च वैचारिकी और वातानुकूलित कमरों में कविता का शास्त्रीयतावादी विमर्श चलाने वाली उच्च-भ्रू संस्कृति की मुख़ालफ़त है और निराला की परंपरा में है - ''बहु-रस साहित्य विपुल यदि न पढ़ा / मन्द सबों ने कहा / मेरा काव्यानुमान यदि न बढ़ा / ज्ञान, जहाँ का रहा / रहे, समझ है मुझमें पूरी, तुम / कथा यदि कहो।'' अपनी पृथ्वी से सच्चा लगाव रखकर ही कवि वीरेन लिख सके हैं कि ''कुछ पाये बग़ैर भी मुमकिन है सुख।'' यहाँ डॉ. नामवर सिंह का कथन स्मरणीय है कि वीरेन डंगवाल 'पदार्थमयता के कवि हैं' और वस्तुओं की प्राणवान् समृद्धि का उत्स यह है कि उनकी कविता विभिन्न साहित्यिक राजधानियों के ''कवि-समाज की आत्म-विभोर परस्पर पीठ-खुजाऊ मंडलियों से अलग'' ( - कवि-आलोचक नीलाभ) और दूर उस 'तीसरे रास्ते' की कविता है, जो ''मगध / अवन्ती / कोसल / या / विदर्भ / होकर नहीं / जाता।''

तीसरा रास्ता तीसरी दुनिया की राहगुजर है और ग़ालिब को याद करें तो इस रास्ते से कवि को कोई विचलित नहीं कर सकता - न धर्म की रूढ़िवादी शक्तियाँ, न समाज के आततायी प्रभु-वर्ग और न 'वफ़ा को न जानने वाला' काफ़िर प्रेम ही! इस राहगुजर पर 'इसी दुनिया' से मुहब्बत की, इसकी मुश्किलों से साझे की, इसकी गतिविधि के सौन्दर्य की और इसकी जीवन-स्थितियों में बदलाव और बेहतरी के लिए बेचैनी की कविता लिखी जाती है।

वीरेन डंगवाल सितारों के छल को पहचानते हैं, चाहे वे इतिहास में जड़े रहे हों या कविता के आकाश पर चमकते हों - ''वे तो बस मढ़ते थे रात को अपनी चमक से / जैसे अंधकार की सुंदर व्याख्या करते / रिझाने वाले चतुर शब्द!'' ऐसे ही शब्दों के साधक-कवि परिवर्तनकामी चेतना को कविता के लिए त्याज्य मानते हैं और संघर्ष को सुख तथा कीर्ति के रास्ते का रोड़ा समझते हैं - ''हम गा सकते वह भी, क्या कहते हैं 'मल्हार राग' / हाँ उसमें नहीं रहेगी वह सब तड़प-आग / जो कविता की दुश्मन है, जीवन की दुश्मन - - - - इनके मारे मर गया निराला बिना बात / वरना कवि अच्छा-ख़ासा था, बदनाम हुआ।'' लेकिन वस्तु-जगत् में निहित भीषण और सुंदर को, हिंस्र और उदात्त को, लघु और विराट् को, क्षुब्ध और प्रशांत को सूक्ष्मता तथा समग्रता के साथ, उनके गतिशील अन्तर्सम्बन्धों की जटिलता में उन्हें महसूस करने और रूपायित करने की सही कलात्मक अंतर्दृष्टि न हो, तो कला का हश्र क्या होगा? इसे वीरेन डंगवाल ने एक कविता में बहुत दिलचस्प तरीक़े से उजागर किया है - ''शेर नीचे खड़ा है / दाँत दिखाता, मगर सीधा-सादा / बग़ल में नदी बह रही लहरदार / पहाड़ क्या हैं, रामलीला का पर्दा हैं / माता, मैं उस चित्रकार को प्रणाम करता हूँ / जिसने तेरी यह धजा बनायी । '' ऐसी कला के हाथ ही जोड़े जा सकते हैं, उससे झगड़ना भी निष्प्रयोजन है।

वीरेन का आदर्श यह है कि कविता की नदी 'कृशकाय' भी हो तो 'पानी से ख़ूब भरी' हुई हो। पानी या दर्पण की तरह कविता का स्वभाव है कि वह दृश्य से जितनी आत्मीय होगी, उसके उतने ही प्रामाणिक और प्रभावी अंकन में सक्षम होगी - मूल की तरह जीवित और उससे होड़ लेता हुआ अंकन! इसी अर्थ में प्रतिसृष्टि भी सृष्टि है और कवि स्रष्टा! अतः वस्तुओं का विश्रृंखल और यांत्रिक अम्बार न लगाया जाय, बल्कि रचना गहरी, निविड़ और प्रवाहशील हो! उसमें सच्चाई की आँच हो! ''झूठ बात को सच्चे मन से सत्य मानने और जीवन में अपनाने'' की महानगरीय संस्कृति का उस पर असर न हो, क्योंकि उसकी भाषा 'फ़रेबसम्भवा' है। वहाँ मेहनत करने को आदमी मजबूर है, पर 'मेहनतकश' शब्द के प्रयोग की मनाही है। घरों में एक कोना भगवान् के लिए यों रहता ही था, लेकिन 'उसके बग़ैर आजकल गुज़र नहीं'। इसके साथ ही इस ज़माने में 'आभासी यथार्थ' का वह तंत्र फैल गया है, जिसके अपने देवी-देवता हैं - ''दरवाज़े पर काँच लगाये जगमग-जगमग ज्योति करी / भगवान बने बैठे हैं कम्प्यूटर और कम्प्यूटरी।'' 'विश्व बैंक के कार्याधिकारी नाच-गाने के मक़्सद से हमारी प्राथमिक शालाओं में पहुँच गये हैं', मगर क्या वैश्विक विकास के पश्चिमी वितान में हिन्दुस्तान के गाँव कभी शामिल हो सकेंगे? सच तो यह है कि दुनिया के अमेरिकीकरण में लगे लोग 'उस्ताद हत्यारे' हैं और वे तीसरी दुनिया के आम आदमी को शोषित, ग़रीब, पिछड़ा और असहाय बनाये रखने पर आमादा हैं - ''दुनिया एक गाँव तो बने / लेकिन सारे गाँव बाहर रहें उस दुनिया के / यह कम्प्यूटर करामात हो।'' यही वह समय है, जिसमें सार्थक हस्तक्षेप और प्रतिरोध की अपनी प्रगतिशील भूमिका को आत्म-मुग्ध, आत्म-पोषी और अनुदार हो चले भारतीय मध्यवर्ग ने लगभग विस्मृत कर दिया है। कुछ इस क़दर कि उसका होना न होने के बराबर है और अब

वह 'शहर' भी नहीं रहा, जिसमें उसे पाया जा सकता था - ''कहीं नहीं था वह शहर / जहाँ मैं रहा कई बरस / जाना प्रेम / अतीव सुन्दर / उस कहीं नहीं शहर में / यों लगता था ख़ाली / गो कि मकान थे बहुत / जमी खुई खपड़ैलों वाले / विशाल 'मकानात' / और उनमें लोग भी रहते ही होंगे।''

जैसा कि कह आये हैं, इस 'कहीं नहीं शहर' में 'फ़रेबसम्भवा' भाषा का चलन है। इसलिए वीरेन कवियों को आगाह करते हैं कि भाषा के वृक्ष ज़मीन की सिर्फ़ सतह पर न रोपें, क्योंकि ''धरती कम से कम दो मील गहरी होती है''। 'अय्याशी के जंगल में शामिल होने की कामना से' किया गया कवि-कर्म सर्वहारा के साथ धोखा है और महज़ ''निष्क्रिय कामातुर अर्थहीन कलख'' का गुंजार है। ऐसी कविता जीवन-व्यवहार में साधारण जनता के प्रति विद्वेष और संस्कृति के क्षेत्र में दया का भाव रखती है। अगर्चे उसके मूल्यवान श्रम और दमित सामाजिक अवस्थिति का अपने हित में इस्तेमाल वह दोनों जगह करती है। कविता में विन्यस्त वीरेन डंगवाल की मर्मस्पर्शी वैचारिकता का निकटस्थ अध्ययन करने पर रघुवीर सहाय की 'अरे अब ऐसी कविता लिखो', 'आज की कविता', 'हैं', 'आज़ादी', और 'अधिनायक' जैसी अनेक कविताएँ बरबस याद आती हैं। कैसे एक पूर्ववर्ती बड़े कवि के दाय को, कविता, संस्कृति और मनुष्यता से जुड़ी उसकी चिंताओं को अपने जीवनानुभव की रौशनी में विकसित किया गया है, यह देखने की चीज़ है। ''पूरब-पच्छिम से आते हैं / नंगे-बूचे नरकंकाल'' आज़ाद भारत में गुलामी का यह नया यथार्थ है और इसके विभिन्न रूपों तथा वास्तविकताओं को कविता में इस तरह प्रकट करना है कि ''न कोई पुलक-पुलक रह जाय / न कोई बेमतलब अकुलाय / छन्द से जोड़ो अपना आप / कि कवि की व्यथा हृदय सह जाय।'' स्पष्ट है कि वीरेन ने अपने कवित्व के ज़रिए रघुवीर सहाय की आकांक्षाओं को बार-बार चरितार्थ किया है। उन्होंने बताया है कि जनता की संस्कृति और उसके जीवन-दुख को, अपनी कला को चमकाने तथा बिक्री-योग्य बनाने के लिए किसी सामग्री की तरह इस्तेमाल करना कला नहीं, दुकानदारी है - मानवीय सार-तत्व से सूनी इस कला के आँसू दिखावटी हैं - उनमें सृजन का माद्दा नहीं, केवल प्राप्ति की लालसा है -

''हम रोयेंगे तो बादल भी शर्मायेगा
वह ग्लीसरीन की तरह किंतु चमकायेगा
नंगे लोगों की देह भूख का सन्नाटा - - - - -
वह चमक रहा जो झिलमिल करुणा का वितान
उसमें ही है हम लोगों की सहकारी दुकान''

यही कारण है कि वीरेन डंगवाल रूमानियत से लगी-लिपटी आत्म-करुणा की किसी संभावना को भी अपने प्राणों से खींचकर अलहदा कर देना चाहते हैं। उनकी आस्था प्रत्यक्ष के अनुभव में है; परोक्ष की सत्ता के प्रति आकर्षण, उसके रहस्य-जनित भय, उसकी निर्ममता और उससे जन्मी निज की पीड़ा के बीच आवाजाही उनकी फ़ितरत नहीं और यह हमारे वक़्त का

तक़ाज़ा भी नहीं - ''कौन खड़ा देखता था तब मुस्काता / क्रूरता के साथ / मगर दिखायी न देता? ग़ालिब किंवा प्रसाद जी की यह औलाद / कहाँ से बची रह गयी / कलेजे के इस बियाबान में?'' कोरी भावुकता और रूमानियत के संश्लेष के साथ समस्या यह है कि वह अनुभव और भाषा दोनों को निरी सामान्यता में डुबो देता है। अभिव्यक्ति में उदात्तता और गंभीरता नहीं आने पाती, चित्रण सशक्त नहीं होता, कैनवास विस्तृत नहीं होता। विविधता से विपन्न भाषा अपनी ख़ास पहचान से भी महरूम हो जाती है। सबब यह कि काव्य-भाषा के इकहरेपन की बुनियाद में लोक-भाषा की बहुस्तरीयता से असम्पृक्ति है और उसके अविशिष्ट रचाव के मूल में लोक से छिटककर उसका दूर जा पड़ना है। यानी 'इसी दुनिया' से आत्मीयता और अंतर-क्रियाओं का अभाव - उसे हम आत्म-तृष्णा कहें या बेज़ारी - कविता में संवेदनात्मक ऊर्जा को शिथिल करता है और उसे व्यक्तित्वहीन बनाकर उपभोग की वस्तु में 'रिड्यूस' कर देता है। ज़ाहिर है कि यह कविता की मुक्ति नहीं है। रघुवीर सहाय के शब्दों में कहें, तो 'इस दुनिया में जहाँ सब सहमत हैं', वहाँ सब अकेले और बिखरे हुए भी हैं और ''रक्षा की खोज में पाता है हर एक अपनी-अपनी मौत।'' अतः कविता में जीवन तो अनेक-रूपात्मक समाज-जीवन से गहन संसक्ति की मार्फ़त ही आ सकता है और व्यवस्था से संघर्ष की चेतना उसे उपभोग्य वस्तु में रूपांतरित होने नहीं दे सकती। अन्यथा एक तरफ़ घनीभूत तृष्णा का जंगल है, दूसरी ओर निराशा का पछाड़ खाता समुद्र - इन दोनों से उपजीव्य जुटाती कविता जीवन का सतही और सजीला आख्यान है, जो कि अंततः अपनी प्रकृति के चलते प्रतिगामी सत्ता-संरचना का सहायक बनता है। सुविधा, सहमति और समर्पण की संस्कृति में निरर्थकता और एक-से-पन से आक्रान्त व्यक्तिगत वासनाजन्य वाग्जाल या 'कविता का कन्ज़्यूमरिज़्म' ही संभव हैं; फ़िल्म उद्योग की गीत-भाषा के धिक्कार से वीरेन डंगवाल ने शायद यही जताना चाहा है - ''भाड़ में जा री, अरी बम्बई! अपने असंख्य सजना समेत / धिक्कार तेरी काव्य-भाषा को!''

इस पृष्ठभूमि में कोई अचरज नहीं कि वीरेन डंगवाल जो काव्य-भाषा लेकर आते हैं, उसमें विलक्षण ताज़गी और धार है। उसकी अपनी संश्लिष्ट संरचना है, अपना वेधक सौन्दर्य! 'कठिन समय' और 'भयानक समय' जैसे घिसे हुए शब्द-बंधों की जगह उन्होंने 'सनत समय' का व्यवहार किया है; यानी हर चीज़ को पैसा कमाने के उपकरण में तब्दील करता और पैसे से ही हर चीज़ का 'मूल्य' आँकता वाणिज्यिक समय! ऐसे समय के 'उत्तम चट्टे-बट्टे' 'अवसर पाकर' इकट्ठे नहीं, 'कट्ठे' हुए हैं। वीरेन को शब्दों में यह विचलन पैदा करना अच्छा लगता है। विचलन भाषा के प्रायः अनुशासित माहौल में स्वतन्त्रता का 'स्पेस' मुहैया करता है और ताज़ा हवा के ख़ुशगवार झोंके की तरह होता है, इसलिए पाठक उसे पसन्द करते हैं। 'अच्छा लगने' का तर्क उसके 'होने' के लिए पर्याप्त है। यों क्या वह कविता को और सुंदर, और साभिप्राय नहीं बना देता? वीरेन के यहाँ वह सृजनशीलता है, जो किसी भाषा को समृद्ध करने के लिए ज़रूरी होती है। मसलन उनकी कविता में, आपको 'कम्प्यूटरी' मिलेगी, सीमेंट की 'फरिश्तिनें' और गोभी के 'शिशुफूल' मिल जायेंगे। वस्तुओं और प्राणियों को भी व्यक्तित्व

और मानवीय सम्बन्धों की-सी गरिमा प्रदान करने का उनमें अद्‌भुत मनुष्यताजन्य उछाह है। अगर पी.टी. ऊषा 'मेरे ग़रीब देश की बेटी' है, तो छिपकली भी किन्हीं 'पुरखों की बेटी' है। इसी तरह 'सूरमा मच्छर' हैं, 'चित्रलिखी हकबकी' गाय है, 'पोस्टकार्ड का एक कान शेरछाप है', साइकिलों-रिक्शों के 'छापामार पहिये' हैं, नाक ''हस्ती की पिपहरी'' है, भाषा 'फ़रेबसम्भवा' है। प्रसंगानुकूल शब्दों का चयन और निमार्ण भी ज़बर्दस्त है। 'उटकर्मों' से बना हुआ जीवन, 'झरझरे' बाल, 'खंजड़' घर, तारों की 'टिमक', गर्मी की सूनी 'लपक-लू' सड़क, कुत्ते का कोई 'निखिद्‌द' काम कर आना - ये कुछ ऐसे ही प्रयोग हैं। इनके लिए जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण और भावन करने वाली संवेदना - दृष्टि तो चाहिए ही, अपनी भाषा के अन्तस्सलिल संगीत से लगाव और उसकी समझदारी भी आवश्यक है। इसीलिए वीरेन बड़े अधिकार के साथ मलिन को 'मलीन', जश्न को 'जशन', प्लेटफ़ॉर्म को 'प्लेटफ़ारम' और डावाँडोल को 'डवाँडोल' लिखकर अपनी भाषा को अधिक लचीला, व्यंजक और प्रिय बना ले जाते हैं। 'आँचा-पाँचा', 'धूम-धाँय', 'खच्च भीड़' और 'टीन की बाक्सिया' वगैरह से पता चलता है कि हिन्दी भाषा के स्वभाव से ही नहीं, हिन्दी जीवन के यथार्थ से भी कवि की रागात्मक घनिष्ठता है। नये मौलिक शब्दों की उद्‌भावना का उत्स यही है।

प्रसंगवश, शमशेर जी ने एक कविता लिखी थी - ''सावन की उनहार / आँगन-पार / मधु बरसे, हुन बरसे / बरसे - स्वाति धार '' - केदार जी (केदारनाथ सिंह) ने एक बार बताया कि उन्होंने शमशेर जी से पूछा था कि 'आपने 'हुन' क्यों लिखा?' शमशेर जी ने कहा कि 'ध्वनि अच्छी लगी, इसलिए लिखा है।' कुछ ध्वनियाँ होती हैं, जो कविता को 'अमर अर्थ' की सुन्दरता प्रदान करती हैं' उसे चुस्त और सारगर्भित बनाकर। त्रिलोचन जी के शब्द हैं - ''ध्वनिग्राहक हूँ मैं / समाज में उठनेवाली / ध्वनियाँ पकड़ लिया करता हूँ। '' कारण यह कि ''लड़ता हुआ समाज, नयी आशा-अभिलाषा / नये चित्र के साथ नयी देता हूँ भाषा।'' मुक्तिबोध ने जिस ''सकर्मक सत्-चित् वेदना'' के प्रकाश की ज़रूरत पर ज़ोर दिया था, उसकी अंतर्निहित शक्ति या सक्रियता का स्रोत भी ध्वनि है - ''ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।'' इसी सिलसिले में देखें कि वीरेन डंगवाल बदले हुए बहुविध यथार्थ का, संघर्षमय व्यापक जन-जीवन का वस्तु-चित्र उपलब्ध करते हैं। इसके लिए वे ठेठ देशज से शुद्ध तत्सम और शास्त्रीय तक विस्तृत भाषिक संपदा से गुजरते हैं। फिर अपने अनुभव और चिंतन की ज़मीन से जुड़े शब्दें को अपने शिल्प-स्वप्न के मुताबिक सुंदर, नैसर्गिक, अनूठी, गत्यात्मक और सान्द्र काव्य-भाषा में बदल देते हैं। इस प्रक्रिया में ख़ास बात यह कि वे महत्वपूर्ण पूर्वज कवियों की तरह कुछ नये शब्द गढ़ते हैं और चीज़ों की सशक्त अभिव्यंजना के लिए नये ध्वनि-संयोजनों को भी आविष्कृत करते हैं।

कुछ ऐसी आवाज़ें हैं, जिन्हें पंत, निराला और शमशेर की तरह हिन्दी में पहली बार वीरेन डंगवाल लाये हैं और जिन्हें सिर्फ़ उनकी कविता में सुना जा सकता है। यहाँ चक्की की ''रूँ-रूँ'' आपको सुनने को मिलेगी, मोटर-साइकिल की ''घुड़कती हुई घुर्र घुर्र'' भी और

वातानुकूलित स्वच्छता में कम्प्यूटर की ''सुरीली कट्ट-टक्'' भी - यह अंदाज़ सुमित्रानंदन पंत के 'टी-वी-टी-टुट्-टुट्' सरीखा है; वैसा ही संकोच, वैसी ही मृदुलता कि एकबारगी ठिठक जाना पड़े - ''सकपकाती है लजीली बेंत / सक् पक् थम्म कौन आता है उधर''! ध्वनियों में वेधकता और स्मरणीयता का वह तत्व है, जो भाषा से कुछ आगे की चीज़ है। वहाँ तक जाना कवि की सृजनात्मक अतिजीविता का सबूत है। माध्यम में रहकर भी माध्यम के पार जाने की यह चेष्टा अपने मूल रूप में काल को अतिक्रांत करने की इच्छा है। ''इसी रात में अपना घर है'' और 'इसी रात के बीतने का इन्तज़ार' है। ''अन्धकार की सत्ता'' मनुष्य-जीवन को इतना संतप्त और बेचैन बना देती है कि वीरेन ने अपने पहले संग्रह में यह शब्दाभिव्यक्ति की थी - ''चिल-बिल चिल-बिल मानव-जीवन।'' इस बार जीवन की ''चीं-चीं-चीं-टुट-पुट'' के चलते अंधकार के बढ़ जाने का एहसास है और वह बेचैनी और सतत्, और तीखी हुई है - ''रात चूँ-चर्र-मर्र जाती है / ऐसी गाड़ी में भला नींद कहीं आती है?'' शक्तिशाली ब्रिटिश हुकूमत की छाया में निराला ने रावण की हँसी को एक नयी तरह से महसूस किया था - ''फिर सुना - हँस रहा अट्टहास रावण खलखल'' - स्वाधीन भारत में यह हँसी और प्रसारित हुई है और तमाम ओछे रूपों में - ''चीं-चीं, चिक्-चिक् की धूम'' बनकर। इसके समानान्तर हमारे जीवन की 'खड़कताल' में कुछ ख़ास पश्चिमी मूल्यों की ''भों-पों-भों'' शामिल की जा रही है, जिससे अपसंस्कृति के इस नक़्क़ारख़ाने में सामान्य जन का 'आर्तनाद' तूती की आवाज़ बनकर रह जाय। पहली नज़र में किसी को लग सकता है कि वीरेन शब्द-क्रीड़ा कर रहे हैं, लेकिन वे दरअसल उपर्युक्त साजिश में शरीक देशी-विदेशी तत्वों को अनावृत और अवमूल्यित करते हैं। यहाँ ध्वनियाँ अराजक नहीं हैं, बल्कि यह व्यवस्था है और इसके मानसिक दिवालियेपन को उजागर करने के लिए ऐसी संरचना निर्मित की गयी है। यह ध्वनि-विन्यास क्रमशः अवज्ञा, आश्चर्य, उपहास की व्यंजना से गुज़रता हुआ एक तिरस्कार-सूचक प्रश्न में बदल जाता है - ''आओ रे, अरे उपूरे, परे,दरे, पूरे, दपूरे / के रे, केरे?''

'दुश्चक्र में स्त्रष्टा' वीरेन डंगवाल का दूसरा ही कविता-संग्रह है, लेकिन केवल दो संग्रहों के आधार पर उन्होंने जो उत्कर्ष और विदग्धता हासिल की है, उनकी कविता की जैसी गहरी और मूल्यवान् प्रासंगिकता है, अद्वितीयता और व्याप्ति है; वह उन्हें उनकी पीढ़ी ही नहीं, हमारे समय के सबसे समर्थ, कुछ गिने-चुने कवियों में प्रतिष्ठित करती है। लेखन में परिमाण का निश्चय ही महत्व है और उस ओर वीरेन डंगवाल का ध्यान जाना चाहिए; किन्तु इधर कुछ कवि जिस तरह अपने संकलनों की संख्या बढ़ा रहे हैं, संख्या पर गर्व कर रहे हैं और उसे एक काव्य-मूल्य के तौर पर भी प्रस्तावित करने लगे हैं, वह ज़्यादा चिंता की बात है। ग़ौरतलब है कि भारतीय राजनीति में पिछले एक-डेढ़ दशक से 'संख्या-बल' सम्बन्धी-विमर्श अक्सर ही छिड़ा रहता है और उसके विडम्बनापूर्ण नतीजे सामने आये हैं। केन्द्र में सांप्रदायिक राष्ट्रवादी विचारधारा का शासन है और अमेरिकी साम्राज्यवाद से उसके नापाक रिश्ते हैं। यानी संख्याएँ आत्माहीन भी हो सकती हैं और उनके सहारे कमतर या प्रतिगामी विचार सत्तारूढ़ हो सकते हैं।

अलबत्ता साहित्य की दुनिया में एक भिन्न अर्थ में संख्याओं के वर्चस्व के प्रति सावधानी अपेक्षित है। जैसा की पिछले वर्ष 'सफदर हाशमी स्मृति व्याख्यान' में एजाज़ अहमद ने कहा है कि "अध्ययन और कर्म में, हर हाल में कर्म को प्रमुखता मिलनी चाहिए," वीरेन डंगवाल भी मानते हैं कि पुस्तकों और सिद्धान्तों की जड़ इजारेदारी की बजाए व्यवहार-क्षेत्र की ईमानदारी श्रेयस्कर है और ईमानदार वही हो सकता है, जिसमें मनुष्यता से प्रेम करने की लियाक़त हो - "एक नज़र थोड़ा-सा अपने जीवन पर भी मारो / पोथी-पतरा-ज्ञान-कपट से बहुत बड़ा है मानव / कठमुल्लापन छोड़ो, उस पर भी तो तनिक विचारो।"

वीरेन डंगवाल भारत की बहुजातीय सामासिक संस्कृति और हिन्दी की स्वातन्त्र्यचेता प्रगतिकामी काव्य-धारा से प्रतिबद्ध, जीवनधर्मी आवेगों वाले कवि हैं, मगर "कला विज्ञान और दर्शन के जीवंत वैभव से समन्वित" भी! इतने पर भी कविता या 'संस्कृति के दर्पण में मुस्कराने' की उनकी महत्वकांक्षा नहीं, क्योंकि सच तो यह है कि "कुछ भी नहीं किया गया / थोड़ा बहुत लज्जित होने के सिवा"। अतः उनकी व्यथा आक्रोश में रूपांतरित होती है - "हज़ार ज़ुल्मों से सताये मेरे लोगो / मैं तुम्हारी बद्दुआ हूँ"। ये पंक्तियाँ ग्यारह बरस पहले आये उनके कविता-संग्रह से उद्धृत हैं, लेकिन महत्त्व की बात यह है कि संघर्ष का उनका जज़्बा आज भी क़ायम है, क्योंकि लोगों और चीज़ों से उनके आत्मिक साहचर्य में वैसी ही घनिष्टता रही आती है। उत्तर-आधुनिकता, सांप्रदायिकता, सर्वग्रासी उपभोक्तावाद और नव-आर्थिक साम्राज्यवाद की व्यूह-रचना या दुश्चक्र से अपने को घिरा पाकर भी उनकी कविता सिर्फ़ सुन्दर या कुलीन, निरी रागात्मक या नॉस्टेल्जिक, विषण्ण या किंकर्तव्यविमूढ़ और 'चतुर-सुजान' होने से इन्कार करती है - उसमें अमूर्त्तन, अव्याख्येयता और अध्यात्म की अनुपस्थिति अकारण नहीं है। प्यार बेशक उनके कवि का केन्द्रीय सरोकार है, पर वह हारने के सबब या नतीजे के तौर पर नहीं, जीतने के लिए जंग की बात करने वाला प्यार है। वीरेन की इस अद्‌भुत आत्म-शक्ति का उत्स समाज-जीवन से उनकी सम्बद्धता में तो है ही, हिन्दी कविता की मुक्तिधर्मी विरासत और उसके वर्तमान से उनके अंतरंग जुड़ाव में भी है। निराला, नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल ही नहीं, चंद्रकांत देवताले और मंगलेश डबराल के बारे में, उन्हें स्मरण या संबोधित करते हुए लिखी गयी उनकी कविताएँ इसकी साक्ष्य हैं। कलात्मक अंतर्दृष्टि के अभिज्ञान में ही नहीं, "सही बने रहने की कोशिश" में भी ये कवि उनका साथ देते हैं; जो उनके शब्दों में किसी कवि की एकमात्र कोशिश होती है। अग्रज और साथी कवियों से कितना अमिट प्यार किया जा सकता है और इस प्यार से कविता और जीवन दोनों में कितना समृद्ध हुआ जा सकता है; इसे मौजूदा समय में वीरेन जितना शायद ही किसी ने जाना हो! मसलन् बाँदा में केदारनाथ अग्रवाल की स्मृति से वे इतने एकात्म हो उठते हैं कि जैसे 'सिर्फ समय बदल गया है, कवि मैं वही हूँ"

"मैं खपड़ैल, मैं खपड़ैल।
मैं जामा मस्जिद की शाही संगेमरमर मीनार

मैं केदार, मैं केदार, मैं कम बूढ़ा केदार।''

ऐसा लिखने के लिए जितनी प्रतिबद्धता चाहिए, उतना ही कलेजा भी! यही वजह है कि इस कविता को पढ़कर हमें एक मार्मिक अचरज होता है। हमारे वे लोग अब रहे नहीं और समय कठिनतर है - ''संशय ख़ुसरो की बातों में / ख़ुसरो की आँखों में डर है''! ऐसे समय में हमें अपने पर्वूजों के दाय को वहन करना है; 'एक समवेत गान में फूट पड़ना है, अंधकार को खील-खील करते हुए।' कवि को अंततः 'लालटेन की उतनी रौशनी' बन सकना चाहिए, जिसमें बच्चे 'मन लगाकर पढ़ सकें', भविष्य का रास्ता खोज और पहचान सकें! संयोगवश, मुझे निजी तौर पर यह जानने का सौभाग्य हासिल है कि कवि वीरेन अपनी डायरियों के पहले पृष्ठ पर गौतम बुद्ध के इस कथन को नोट करते हैं -

''को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ।''

(जब सब-कुछ निरंतर जल रहा है तो हँसी कैसी, आनन्द कैसा? अन्धकार में डूबे हो और दीपक की खोज नहीं करते!)

वीरेन डंगवाल रौशनी की खोज कर पाते हैं, क्योंकि उनमें वह क्रांतिधर्मी भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि है, जो काव्य-विवेक को कुंठित और निष्प्रभ नहीं होने देती। कविता और इतिहास की यह जुगलबंदी बुद्ध से राम और राम से निराला के संघर्ष की एकता को पहचानती और इस पहचान को हमारे लिए प्रासंगिक बनाती है। वीरेन इतिहास के साक्ष्य से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति के लिए समुत्सुक और संघर्षरत भारतीय जन-समाज के संवेदनक्षम सांस्कृतिक ताने-बाने को यों ही छितराया नहीं जा सकता - ''यों ही नहीं बन गया / वह ख़मीर / उसके पीछे है / हज़ारों बरस की साधना और अभ्यास'' । इसलिए उनका यह विश्वास सार्थक है कि ''हमारी अयोध्या'' को नष्ट नहीं किया जा सकता; उनकी कविता इसी सार्थकता को सिद्ध करने का रचनात्मक संघर्ष है। फ़ासिज़्म के अँधेरे में अपनी रचनाशक्ति की पड़ताल, अपनी ही ''खोई हुई / परम अभिव्यक्ति अनिवार'' को साकार करने की बेचैनी -

''वह एक और मन रहा राम का
जो न थका।
इसीलिए रौंदी जाकर भी
मरी नहीं हमारी अयोध्या
इसीलिए हे महाकवि, टोहता फिरता हूँ मैं इस
अँधेरे में
तेरे पगचिह्न।''
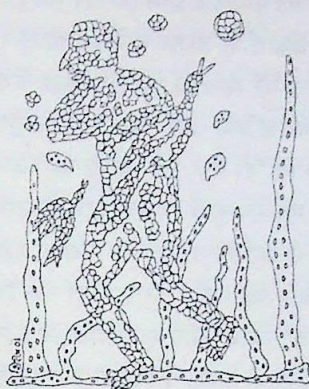
# इतिहास में जारी कशमकश

## *योगेन्द्र आहूजा की कहानी 'एक पुरानी कहानी'*

कृष्ण मोहन

*यह कहानी एक बरस पहले 'पहल' में छपी थी। इस कहानी को लेकर युवा आलोचक और ध्यान आकर्षित करने वाली पत्रिका 'परख' के संपादक कृष्णमोहन ने विशद विश्लेषण किया है। इधर साहित्यिक हस्तियों पर कहानी लिखने का प्रचलन बढ़ा है। योगेन्द्र आहूजा इससे मुक्त गहरे अतल में जाने वाले, भारी बेचैनी से समय संकेत रचने वाले कथाकार हैं। कृष्णमोहन का यह एक मूल्यवान प्रयास हैं।*

पिछले कुछ अर्से से साहित्यिक हलकों में इस बात पर बड़ी सरगर्मी रही है कि कौन सी कहानी किस साहित्यिक हस्ती 'पर' लिखी गई है। इन चर्चाओं के बीच वरिष्ठ लेखकगण बड़े आत्मविश्वास के साथ तमाम पुरानी कहानियों का हवाला देते हुए बताते हैं कि वे किन साहित्यकारों के 'ऊपर' लिखी गई थीं। आम तौर पर इन 'रहस्योदघाटनों' का मकसद यह जताना होता है कि यह दाँव पुराना है जिसे उस्तादों ने जिलाए रखा, और अब पट्ठे भी सीख रहे हैं। इन कहानियों को छापने वाले संपादक भी अपने पाठकों की 'मदद' करने के लिए कभी खुले तो कभी छिपे रूप में 'असली' मुद्दे की तरफ संकेत कर देते हैं।

दूसरी ओर इस प्रवृत्ति का विरोध करने वाले बहुत से लोग इसे आपसी संबंधों की नैतिकता के ख़िलाफ मानते हैं और विश्वासघात की संज्ञा देते हैं। ग़ौरतलब है कि ये दोनों पक्ष एक बात पर सहमत होते हैं कि फलाँ रचना अमुक लेखक या सावर्जनिक जीवन के किसी क्षेत्र में अपनी पहचान बनाए किसी व्यक्ति विशेष पर लिखी गई है। समस्या, दरअसल, इसी दृष्टिकोण के चलते पैदा होती है।

कथा साहित्य के संदर्भ में यह आम तौर पर स्वीकृत तथ्य है कि रचनाकार जाने या अनजाने अपने समकालीन यथार्थ के किसी न किसी पहलू से प्रभावित होता है और अपनी रुझान के मुताबिक हासिल उसके सारतत्व को पुनर्सृजित करता है। इस प्रक्रिया में प्रायः वह अपने संपर्क में आए लोगों की छवियां और भंगिमाओं का इस्तेमाल अपनी रचना के परिवेश को जीवंत बनाने के लिए करता है। यही नहीं, कभी वह किसी व्यक्ति के आधार पर अपनी रचना का केंद्रीय चरित्र भी गढ़ सकता है। इसके बावजूद उस व्यक्ति की हैसियत कहानी के संबंध में नगण्य कच्चे माल से अधिक नहीं होती, जिसका उल्लेख भी रचना के बुनयादी गुण, उसकी सार्वभौमिकता की हानि का ख़तरा उठाए बिना नहीं किया जा सकता।

रचना में यथार्थ की विश्वसनीय उपस्थिति उसके बाहरी रंग-रूप और विवरणों में नहीं, उन अन्तर्सबंधों में होती है जो रचना में बिखरी तमाम इकाइयों को एक सूत्र में बाँधते हैं। इन संबंधों के रूपायन में ही रचनाकार की समझ, संवेदना और उसके शिल्प की परीक्षा होती है। इन्हीं के चलते रचना संकुचित से वृहत्तर यथार्थ की ओर बढ़ती है तथा वैयक्तिक से सार्वजनीन बनती है। इसीलिए किसी के व्यक्तिगत जीवन से किन्हीं तथाकथित सत्यों का उद्घाटन करने वाले लेखक, दरअसल, इस बहाने अपनी ही मानसिकता का उद्घाटन करते पाए जाते हैं।

दूसरी बात यह कि अगर कोई कहानी किसी के व्यक्तिगत जीवन का पर्दाफाश करने वाली है तो वह उन सत्यकथाओं से अलग नहीं होगी जिनमें कानूनी कारणों से पात्रों के नाम बदल दिए जाते हैं। साहित्यिक रचना से उसका अलगाव कल्पना के बिंदु पर होता है। कल्पना साहित्यिक रचना का अनिवार्य विधायक तत्व है, जबकि सत्यकथा में इसकी हैसियत झूठ जैसी होती है। इसीलिए साहित्यिक रचना होने का दावा करने वाली कहानी का मूल्यांकन साहित्यिक मानदण्डों पर ही होना चाहिए, स्वयं कहानीकार का उद्देश्य चाहे जो रहा हो। ऐसा न करने पर इस गहरे चुनौतीपूर्ण दौर में सारी सदिच्छाओं के बावजूद बहस के रचनाविरोधी हो जाने का खतरा है।

बहरहाल, कहानी में कोई व्यक्ति बिना पहचान बदले भी चरित्र के रूप में उपस्थित हो सकता है, बशर्ते आग्रह स्थूल तथ्य का न होकर सूक्ष्म तत्त्व का हो। संयोग से ऐसी ही एक कहानी पिछले दिनों 'पहल' में छपी है। योगेन्द्र आहूजा की 'एक पुरानी कहानी'। इसमें मुक्तिबोध और अशोक वाजपेयी बाकायदा चलते-फिरते पात्रों के रूप में आते हैं। इसे पढ़ते हुए कहानी और सत्यकथा के बीच के फ़र्क़ को समझा जा सकता है।

कहानी इस लेखकीय सूचना के साथ शुरू होती है कि यह रचना 'मुक्तिबोध पर श्री अशोक वाजपेयी के एक संस्मरण के कुछ अंशों का काल्पनिक पुनर्लेखन' है। इस सूचना के माध्यम से लेखक ने अपने पात्रों की समस्त गतिविधियों की जिम्मेदारी अपनी कल्पना पर डालकर उन वास्तविक व्यक्तियों को इससे मुक्त कर दिया है जिन पर ये पात्र आधारित हैं। अब यह सवाल बेमानी हो जाता है कि मुक्तिबोध के जीवन की घटनाओं अथवा अशोक

वाजपेयी के संस्मरण से यह रचना कितना मेल खाती है। प्रासंगिक सिर्फ़ यह है कि बीसवीं सदी के छठे दशक में मध्यप्रदेश के एक कस्बे में रहने वाला हिंदी का एक बड़ा लेखक, जिसका नाम मुक्तिबोध है, किन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के बीच सक्रिय था; अथवा हिंदी के एक युवा लेखक योगेंद्र आहूजा ने इक्कीसवीं सदी के पहले साल में उसे किस रूप में देखा।

'एक पुरानी कहानी' की मूल विषयवस्तु स्वाधीनता के बाद भी भारत की राज्यसत्ता का पहले की ही तरह जनविरोधी, औपनिवेशिक चरित्र अपनाए रखना, तथा जनता का पक्ष लेकर उससे टकराने वाले क्रांतिकारी कवि-लेखकों की रचनात्मक जद्दोजहद है। हम सब जानते हैं कि आम तौर पर सत्ताधारियों के विचार ही समाज में प्रभावी होते हैं, लेकिन जनता के हक़ में जूझने वाले विचारों में भी कैसी संक्रामकता होती है, इसका मार्मिक चित्रण इस कहानी में मिलता है। कहानी का दूसरा पहलू अतीत के प्रति लेखक के दृष्टिकोण में निहित है जो शुरू से अंत तक टेक की तरह आने वाले इस वाक्य में सूत्रबद्ध है - एक बहुत पुरानी कहानी है 'जो शुरुआत के पहले ही खत्म हो गयी और अंत के बाद दुबारा शुरु।' इतिहास की कोई धारा अपने मुकाम तक पहुँचे बिना अस्तित्वहीन नहीं होती और अनुकूल स्थिति पाते ही नए-नए रूप धारण कर प्रकट हो जाती है। उनकी कहानी कहने वाले कभी आते हैं कभी नहीं आते, लेकिन उनके साक्षी हमेशा होते हैं। 1942 और 1959 के कुछ प्रसंगों की सृष्टि करके कही जाने वाली यह कहानी लेखक के ही शब्दों में किसी धारदार चाकू से जमे हुए खून को खुरचने पर निकली फ़क़त कुछ बूंदे हैं, पूरी कहानी नहीं।

कहानी बाकायदा शुरु होती है 8 अगस्त 1942 की रात बम्बई के गवालिया टैंक मैदान में दिये गए गाँधीजी के प्रसिद्ध भाषण के एक अंश से जिसकी अंतिम पंक्तियाँ हैं - 'हमारी योजना में गुप्त कुछ भी नहीं, हमारी तो खुली लड़ाई है। आप किसी भ्रम में न रहें। लुक छिपकर कोई काम न करें। जो लुक छिपकर कोई काम करते हैं, उन्हें पछताना पड़ता है।' 10 अगस्त'42 को राजनाँदगाँव के कालीबाड़ी मुहल्ले में एक नौजवान अवधेश अपने पिता रामसहाय श्रीवास्तव से बीस तक लौटने का वायदा करके, कुछ पर्चे और किताबें लेकर, रायपुर में इंतज़ार कर रहे अपने कुछ साथियों से मिलने ट्रेन से रवाना होता है। एक ब्रिटिश जासूस उसका पीछा करता है, उसके बारे में फोन से कहीं सूचना देता है और वह राजनाँदगाँव से रायपुर के बीच के छोटे से सफर में हमेशा के लिए गायब हो जाता है। 1959 में घटित होने वाली कहानी को आज़ादी के पहले के दौर से जोड़ने वाला यह अकेला सूत्र कहानी को संदर्भ प्रदान करता है। ज़ाहिर है, अवधेश बीस अगस्त को नहीं लौटता और उसके पिता उसकी प्रतीक्षा में विक्षिप्त से हो जाते हैं। इस तिथि के ठीक सत्रह साल बाद बीस अगस्त 1959 को यह कहानी घटित होती है। 1942 की प्रवृत्तियाँ अपने तमाम अयामों के साथ 1959 में विस्तार पाती हैं और इस प्रक्रिया में 1947 पर एक बड़ा-सा सवालिया निशान छोड़ जाती हैं।

उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष में अवधेश ने अपनी कुर्बानी दे दी, लेकिन उसके पिता इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार न थे। उनके बड़े बेटे प्रमोद ने आज़ादी के बाद

रेलवे की ठेकेदारी में खूब पैसा बनाया था और उनके मकान को शानदार दुमंजिला करा लिया था। उसे पिता के ख़ब्त पर क्रोध आता था लेकिन पिता रामसहाय श्रीवास्तव की व्याकुलता महज़ अंधे पुत्रमोह के चलते नहीं थी। अवधेश की प्रतीक्षा के अधिक बुनियादी और वस्तुगत कारण कहानी में मिलते हैं। 10 अगस्त 1942 को अवधेश का पीछा करके उसे फँसाने वाले ब्रिटिश जासूस मि. विल्सन का 'आत्मिक वंशज' और शिष्य, आज़ाद भारत के राज्यतंत्र का एक पुर्जा अजीत कुमार शर्मा, जो मुक्तिबोध की जासूसी के लिए नियुक्त है, उन्हीं के मकान में किराएदार होता है। यह अकेला नुक्ता आज़ाद भारत के राज्यतंत्र के चरित्र का परिचय देने के लिए काफी है। ऐसे में सच्ची आज़ादी के लिए लड़ने वाले विद्रोहियों की प्रतीक्षा लाजिम है। रामसहाय श्रीवास्तव इस प्रतीक्षा में अकेले नहीं हैं। अजीत कुमार शर्मा के प्रीमैच्योर रिटायरमेंट लेने के कारण उसकी जगह भेजे गए युवा नरेश राजदान के पिता बीस साल बाद अपने घर लौटे हैं और सुभाष चन्द्र बोस की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे आज़ाद हिंद फौज में लड़े थे और आज़ाद भारत के साथ तालमेल बिठाने में नाकाम होकर, अपने एकान्त में दीवारों को देखकर 'आज़ादी, नैतिकता, न्याय' वगैरह बड़बड़ाया करते हैं। वर्तमान से उनका नाता टूट चुका है और वे बरसों से घर में 'आत्मा की तरह अदृश्य' रहते आए हैं। कहानी के ये दोनों पात्र अपने पीड़ा भरे जीवन और मृत्यु में भारतीय जनता की मुक्ति की आकांक्षा का वहन करते हैं। वे अतीत की विद्रोही धाराओं को पहचानते हैं, किन्तु वर्तमान के जटिल चक्रव्यूह में घिरकर टूट जाते हैं। बहरहाल, इस प्रक्रिया में वे कोई समझौता नहीं करते और धीरे-धीरे खत्म हो जाते हैं। इस तरह आजादी के लिए लड़ने वाली एक पूरी पीढ़ी आजाद भारत में अप्रासंगिक होकर खत्म हो जाती है।

'वह कहानी जो शुरुआत के पहले ही खत्म हो गई और अंत के बाद दुबारा शुरु' सबसे पहले तो अवधेश की है, उसके बाद उन दो नौजवानों की जो बीस अगस्त 1959 को राजनाँदगाँव में आते हैं। एक तो बीस साल का युवा कवि जो पड़ोस के ही किसी कस्बे से मुक्तिबोध से मिलने आया था, और दूसरा नरेश राजदान। मुक्तिबोध और अजीत शर्मा 'समकालीन' हैं, जिन पर अपने समय को क्रमशः जनता और सत्ता के पक्ष में दर्ज करने की ज़िम्मेदारी है। इसीलिए 'वह कहानी मुक्तिबोध के जले और झुलसे शब्दों में ही ठीक से कही जा सकती थी, मगर नहीं लिखी गई क्योंकि सब कुछ लिखने की जिम्मेदारी अकेले मुक्तिबोध की नहीं थी, और सब कुछ की जानकारी भी उन्हें कैसे हो सकती थी। वे तत्वज्ञ भले ही थे, सर्वज्ञ थोड़े ही।' इन पंक्तियों में लेखक ने अपने ऊपर आ पड़ी जिम्मेदारी के गुरुत्व का भी संकेत किया है।

इक्कीसवीं सदी के पहले वर्ष में अगर 1959 की कहानी लिखनी हो तो उसके लिए 'आजादी मिलने के फकत बारह साल बाद' के वक्त को पुनर्जीवित करना होगा जिसमें उस वक्त की कुछ 'प्रातिनिधिक आवाजें' होंगी। ग़ौरतलब है कि इन आवाज़ों में भाप का इंजन गुजरने के बाद कुत्तों का समवेत रुदन, उसी साल रिलीज हुई फिल्म 'नया दौर' के गीत

मच्छरों-झींगुरों की अविराम झनझनाहट और टीन की छतों पर बारिश की एकतान तड़तड़ है। इस 'नया दौर' की सचाई पूरी कहानी में बिखरी हुई है और इसकी एक केंद्रीय विषयवस्तु है। कुत्तों, मच्छरों और झींगुरों का योगदान इस 'नए दौर' में असंदिग्ध है। टीन की छत पर अचानक शुरु और अचानक बंद होने वाली बारिश की तड़तड़ की अनिश्चितता आज़ाद भारत की 'लोकतांत्रिक' अव्यवस्था का नमूना भर है। भाप का इंजन शासक वर्ग की व्यक्तिवादी सांस्कृतिक राजनीति का प्रतीक है, जिस पर यथा प्रसंग आगे विचार किया जायेगा। इन 'प्रातिनिधिक आवाजों' में आखिरी आवाज़ रामसहाय श्रीवास्तव के कमरे में लगी अवधेश की तस्वीर के शीशे के डरावनी आवाज़ के साथ चकनाचूर हो जाने की है। उस आवाज़ से घबराकर वह उठ बैठे और हैरत से तस्वीर का खाली फ्रेम देखते वे रोने लगते हैं कि उनका बड़ा बेटा प्रमोद चीखकर उन्हें याद दिलाता है कि 'अब तो देश आज़ाद हुए भी बारह साल हो गए, बारह साल' इसलिए 'अब मान लीजिए कि मर खप गया वह'। यानी जिस काम से गया था वह तो बारह साल पहले ही पूरा हो गया। आने वाला होता तो अब तक आ ही गया होता। यह सुनकर वे स्तब्ध रह जाते हैं, और फिर अवधेश की खोज में दिन भर भटकने के बाद दुर्घटनाग्रस्त हो जाते हैं।

उस साल बीस अगस्त का दिन रामसहाय श्रीवास्तव के लिए कुछ अधिक ही बेचैनी और निराशा से भरा हुआ था। दोपहर में बस अड्डे पर उनकी मुलाकात मुक्तिबोध के युवा कवि दोस्त से हो गई थी, जो पड़ोसी कस्बे से आया था। अपने मनोविक्षेप में उन्होंने उसे अवधेश समझ लिया था। इस पर उस युवा ने सटीक जवाब देते हुए कहा था कि 'अपना रास्ता लो बाबा, मैं किसी अवधेश को नहीं जानता'। यह एक विडंबना ही है कि नरेश राजदान से अपने मकान में आने के बावजूद उनकी मुलाकात नहीं हुई, और उस युवा कवि में उन्होंने अवधेश की छवि देखी जो 'शातिर या मक्कार नहीं था कम से कम उस वक्त तक, आगे की भगवान जाने और उसकी अंतरात्मा'। बहरहाल, उस युवा कवि ने उस दिन केवल रामसहाय श्रीवास्तव से ही हाथ नहीं जोड़ा था, मुक्तिबोध को भी अलविदा कह दिया था, क्योंकि मुक्तिबोध का साथ देने की अनिवार्य शर्त थी अवधेश होना यानी अपने को दाँव पर लगाने को प्रस्तुत होना, जिसके लिए वह तैयार न था। कहानी में मुक्तिबोध से उस युवा कवि की बातचीत, जिसमें ज्यादातर मुक्तिबोध ही बोलते हैं, दूसरी बातों के अलावा जनता, साहित्य और सत्ता के आपसी रिश्तों को समझने के लिहाज से बेशकीमती हैं।

इस सिलसिले की शुरुआत तब हुई जब मुक्तिबोध ने उसकी कविताओं की कॉपी में कुछ पढ़ने के बाद सिर उठाया और उसे देखकर 'अंदाज़ा लगाने की कोशिश की कि दस बरस बाद वह युवक कहाँ होगा।' ऐसा इसलिए कि 'युवक की कविताओं में हताश हृदय की एक साफ सुनाई देने वाली धकधक थी और बीच बीच में किसी मनुष्येत्तर दुनिया का मुँह ताकने की नागवार हकरत .... उस विराट उथल पुथल का कोई अंदाज़ा, कोई इशारा नहीं जो इस अद्वितीय युवक में आगे आने वाले बरसों में...।' किंचित निराशा और थोड़ी देर की चुप्पी

के बाद मुक्तिबोध कहते हैं, 'पार्टनर, यह गरीब मुल्क है जो कल तक गुलाम था। यहाँ राइटर होने का मतलब बिल्कुल अलग है पार्टनर, इसे समझ लेना बहुत जरूरी है।' इतना कहकर मुक्तिबोध चुप हो जाते हैं, लेकिन युवक समझदार है और वह उनकी खामोशी में भी सुनता है, यह मुश्किल सफर है, जिसमें चक्कर आएँगे पार्टनर, यह अपने ही अदना से वजूद के तंग शिकंजे में कसे रहकर नहीं किया जा सकता। अभी से मत लेटो अपने ताबूत में, वहाँ की उनींदी ऊब डूब में, धुँधले अँधेरे में जो घटित होता सौंदर्य देखते हो, वह केवल एक धोखा है।' इसके बाद मुक्तिबोध संकोच भीगी आवाज़ में कहते हैं, 'कि कविता कोई खंदक या जंगल जैसी जगह नहीं है जहाँ हिस्ट्री से, समय से निजात पाने को थोड़ी देर छुपा जा सके, कि इतिहास से मुँह छुपाना उसी तरह नामुमकिन है जिस तरह अपनी छाया फलाँगना, कविता में इस तरह की कोशिशों का भी एक छोटा मोटा, असफल इतिहास है।'

इसके बाद मुक्तिबोध भाषा और हिंदी कवि लेखकों के आचरण के बारे में महत्वपूर्ण वक्तव्य देते हुए कहते हैं – 'भाषा का खेल बहुत अजीब है दोस्त, वह अनवरत अभ्यास, मुश्किल श्रम, लंबे धीरज और अपने अनुभवों के प्रति सत्यनिष्ठा से अर्जित की जाती है, अपनी संभावनाओं की तलाश में महानताओं का अनुसरण करते हुए, जिस रास्ते पर हृदय कितनी बार विदीर्ण होगा इसकी कोई गिनती नहीं – मगर फिर एक ही रात में गँवा दी जा सकती है।' इस गँवाने की प्रक्रिया की सुंदर व्याख्या करते-करते यकायक मुक्तिबोध को अपनी आवाज उपदेशक की सी लगने लगती है और वे चुप हो जाते हैं और उस युवक को अपनी ही कोशिशों से यह समझने के लिए छोड़ देते हैं कि शब्दों को उनके अर्थ से काटकर अलग कर देने वाले खंजर कितने हैं और वे कहाँ-कहाँ से आते हैं। लेखक यह बताना नहीं भूलता कि कला की अटॉनमी का विचार उनमें से केवल एक है और वे सब के सब अमरीका से ही नहीं आते।

मुक्तिबोध ने तीसरी बात यह कही कि 'हिंदी जाति के लेखक या कवि को विनम्रता का कोई हक नहीं। यह फटेहाल और दलिद्दर महाजाति बयान के बाहर गरीबी और अपमान झेलती आई है, इसलिए इस जात के लेखकों पर यह एक अतिरिक्त जिम्मेदारी है – अभियान की जिम्मेदारी। ..... हिंदी कवि को सर्वदा एक सात्विक गुस्से से खौलना चाहिए और एक खास तरह की वर्ग-अकड़ को हिंदी कविता का अनिवार्य तत्व होना चाहिए, उससे वे दुरात्माएँ दूर रहेंगी जो बहला फुसलाकर चमक दमक के रास्ते पर....। 'इसके बाद लेखक अपने पाठकों से एक बहुत मानीखेज़ सवाल पूछता है कि 'सन् 1959 में ही मुक्तिबोध को कैसे यह पता था कि अंत में हिंदी के लेखक या कवि के पास उसके गुरूर या गुस्से के सिवा कुछ नहीं बचेगा या जो कुछ भी बचेगा वह इस गुरूर में ही ....'

ग़ौर करें कि कहानी के संदर्भ में निरर्थक से लगने वाले इस सवाल का कोई तथ्यात्मक जवाब न तो संभव है, न अपेक्षित। दरअसल, इस सवाल के माध्यम से लेखक ने एक तीर से कई शिकार किए हैं। सबसे पहले तो उसने अपने पाठकों से वर्तमान के धरातल

पर रिश्ता क़ायम किया है। अतीत की स्मृतियों की पुनर्रचना उसने वर्तमान के इस ठोस संदर्भ में की है कि 2001 का यथार्थ 1942 और 1959 का ही विस्तार है। दूसरे इस सवाल में आज के हिंदी कवि-लेखकों की आत्मिक शक्ति के बारे में एक सुनिश्चित राय व्यक्त की गई है। आखिरी बात यह कि इसमें मुक्तिबोध के वक्तव्य का समर्थन करते हुए यह स्थापित किया गया है कि हिंदी लेखकों की वर्तमान दशा के लिए वे 'दुरात्माएँ' ज़िम्मेदार हैं जो बहला-फुसलाकर उन्हें चमक-दमक के रास्ते पर ले जाती हैं।

ज़ाहिर है कि हिंदी लेखकों को निरीह और आत्महीन बनाने वाले भी अनेक हैं और शब्दों को उनके अर्थों से काटकर अलग करने वाले भी। लेकिन कहानी में इनके प्रतिनिधि के बतौर अमरीका से आयातित विचारों और ऐशो-आराम के जीवन को गौरवान्वित करने वाली 'दुरात्माओं' को चुना गया है तो इसके कुछ निश्चित कारण हैं। हमारे समाज की तरह ही हमारे साहित्य में भी बिचौलियों द्वारा वर्ग, धर्म, जाति, लिंग या क्षेत्र के आधार पर वंचित और उत्पीड़ित तबकों के संघर्ष को प्रभुत्वशाली तबकों के बीच बैठने के लिए इस्तेमाल करने की जबरदस्त मुहिम चल रही है। बड़े-बड़े विचारक गरीबों, दलितों, अल्पसंख्यकों और स्त्रियों के हितैषी बनकर उनके इतिहास बोध पर कोलतार फेरने के लिए कंधे से कंधा रगड़ रहे हैं। ऐसे में हिंदी के एक युवा लेखक का यह रचनात्मक हस्तक्षेप हमें अपने बौद्धिक आलस्य को तोड़ने और अपनी बंजर निराशा से बाहर आकर परिदृश्य के दूसरे पहलू का सतर्क परीक्षण करने की प्रेरणा देता है, क्योंकि इसी से आगे का रास्ता बन सकता है।

बहरहाल, इस वार्तालाप के बाद मुक्तिबोध के उस युवा कवि दोस्त का सामना कुछ व्यावहारिक सचाइयों से होता है, और उसके हाथ के तोते उड़ जाते हैं। मुक्तिबोध उसे अजीत शर्मा के बारे में बताते हैं जो नियमित रूप से उनकी गतिविधियों को दर्ज करता है और उस दिन न जाने क्यों मौजूद नहीं है वरना उसका भी नाम दर्ज हो जाता। युवा कवि यह सुनकर भयभीत हो उठता है जबकि मुक्तिबोध अपनी रौ में उसे अजीत शर्मा के बारे में ढेरों जानकारियाँ देते हैं, क्योंकि लेखक होने के नाते उन्हें भी जासूसी करनी पड़ती है।

वापसी के लिए युवा कवि जब मुक्तिबोध के साथ रेलवे स्टेशन आता है तो 'स्टेशन में घुसते ही भाप के बादलों में डूबा एक अकेला इंजन नज़र आया था जिसकी उमस भरी तपिश का घेरा बहुत बड़ा था, उसकी आँच असहनीय जैसी थी, लेकिन थोड़ी देर में वह चीख जैसी सीटियों के साथ भाप की पर्तों पर पोत की तरह तैरते हुए कहीं आगे चला गया।'

अपनी ही भाप में डूबा यह अकेला इंजन मानो अपने ताबूत में शांति तलाशने वाले उस युवा कवि का ही बिंब है। कसूर उसका भी नहीं। सत्ता के वैचारिक और नैतिक प्राधिकार के लिए साहित्य हमेशा ही एक बड़ी चुनौती रहा है। उसका सामना करने का दमन के अलावा दूसरा तरीका सत्ता के पास उसे पालतू बनाने का ही है। साहित्य की शक्ति का सत्ता के पक्ष में इस्तेमाल भी इसी तरह होता रहा है। इसीलिए आधुनिक युग में भी चारण पाए जाते हैं, लेकिन अपनी विश्वसनीयता खोकर वे सत्ता के लिए भी अनुपयोगी हो जाते हैं। इसी विश्वसनीयता की

स्थापना के लिए बीसवीं सदी में अमेरिका से यह अभिनव विचार आया कि साहित्य समाज से स्वतंत्र है और वह व्यक्ति के अंतर्मन की क्रिया-प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति का माध्यम भर है। विद्रोह का विकल्प भी यहाँ सुलभ है लेकिन अपने आवेगों के वशीभूत होकर, उसके संगठित सामाजिक रूपों का यथासंभव निषेध करते हुए। सर्वोपरि साहित्य व्यक्तिगत घटना है, सामाजिक परिघटना नहीं। अब, जनता के पक्ष में चिंतन या रचना के स्तर पर सक्रिय होने की अपनी मुश्किलें और ख़तरे हैं, जिनकी बानगी इस कहानी में भी दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में बहुत सारे कवि लेखक ज़रूरी आत्मसंघर्ष नहीं कर पाते और धारा के साथ बह निकलते हैं। उस इंजन की तरह जो भाप की पर्तों पर पोत की तरह कहीं आगे चला गया था, अं. ।जसकी चीखें वास्तव में सीटियाँ थीं।

अपने युवा दोस्त को विदा करते हुए मुक्तिबोध जल्दी-जल्दी बोलते हैं, 'पार्टनर, कवि व्यक्तित्व को निरंतर दो स्तरों पर जूझते रहना होता है, एक दुतरफा संघर्ष ..... एक ओर अपनी अभिव्यक्ति को पाने को और दूसरी तरफ कंडीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज से बचने का। इस ओर कवि सचेत न हो तो उसकी कविता ..... इसमें संदेह होगा कि वह उसके कवि व्यक्तित्व का सही प्रतिनिधित्व करती है या .... एक निरंतर आत्मनिरीक्षण से ही ...' इसी बीच गाड़ी आ जाती है और युवा कवि उसमें चढ़कर उनकी ओर हाथ हिलाता है। 'उसकी आँखें सूनी थीं, चेहरा पीला, गुमसुम और उदास और वह उस वक्त बहुत कमज़ोर लग रहा था।' मुक्तिबोध चिल्लाकर उसे अगली बार अधिक समय लेकर आने को कहते हैं कि तभी 'उन्हें लगा था कि फिज़ूल था, उनकी आवाज़ वहाँ तक पहुँचेगी नहीं ... बाहर आते हुए उस युवा कवि के पसीने में भीगे म्लान चेहरे के बारे में सोचते रहे थे और सड़क तक पहुँचते पहुँचते उन्हें निश्चय हो गया था, कि वह उन्हें कोई चिट्ठी नहीं लिखेगा, न जीवन भर एक भी कविता उन्हें .... और उन्होंने अपने को समझाया था कि यह ज़रूरी नहीं।'

यह भी एक कहानी थी जो शुरुआत के पहले ही खत्म हो गई। उस युवा कवि की ट्रेन के जाने के बाद बरेली से आने वाली गाड़ी से नरेश राजदान आया और अजीत शर्मा से मिलने कालीबाड़ी स्थित उसी मकान में पहुँचा जहाँ बीस वर्ष की लंबी प्रतीक्षा कर चुकने के बाद अवधेश के पिता अभी थोड़ी ही देर पहले स्टेशन पर आने-जाने वाली गाड़ियों में किसी को ढूँढते हुए गिरकर घायल होने के बाद बेहोशी की हालत में लाए गए थे। इस तरह यह कहानी अंत के बाद दुबारा शुरू हुई।

नरेश राजदान जब राजनाँदगाँव में उतरता है तो वह उसे बिलकुल बरेली जैसा लगता है। यहाँ तक कि वह रिक्शेवाला जो उससे उसका गंतव्य पूछता है, उसे घर से बरेली स्टेशन छोड़ने वाले रिक्शेवान जैसा ही लगता है -- 'वही बोली, कपड़े और वैसी ही फटेहाली'। आशय बिलकुल साफ है कि यह किसी एक शहर या व्यक्ति की नहीं एक जैसी स्थितियों की कहानी है।

अजीत शर्मा के प्रीमेच्योर रिटायरमेंट की अर्जी देने के पीछे दो वजहें हैं। पहली वजह

यह है कि वह अपनी पत्नी के गर्भ में लंबे इंतज़ार के बाद आए बच्चे के साथ, जो चंद महीनों बाद दुनिया में आने वाला था, 'बचपन के खेल खेलते हुए' शांति से अपने बाकी दिन बिताना चाहता था। दूसरी और 'असली वजह' यह है कि उसे 'यकीन हो गया है। पहले वह धुँधला और अनिश्चित था, लेकिन अब साफ है, पक्का यकीन, जिसमें कहीं कोई शुबहा नहीं।' जबकि उसके गुरु विल्सन ने उसे सिखाया था कि 'इस काम का पहला नियम यह है कि खामोशी से सुनते रहो, छुपकर नोट करते रहो, मगर कभी भूलकर भी उस पर यकीन मत करो। .... इतिहास समय, मुस्तकबिल ये शैतानी शब्द हैं, इन पर हमेशा अविश्वास करो। ..... इतिहास एक शैतानी शब्द है .... वह एक कीड़ा है जो ज़हीन दिमागों में पलता है, एक धूल है जो सबसे बुद्धिमान आँखों में गिरती है।'

ग़ौर करें कि रिटायरमेंट की दो नहीं, दरअसल एक ही वजह है, इतिहास समय और भविष्य में यकीन। वह बच्चा इसी मुस्तकबिल का प्रतीक है, जो अजीत शर्मा के जीवन में इतनी देर से आया है। उसके साथ 'बचपन के' खेल खेलने के लिए खुद भी बच्चे जैसा निर्दोष होना ज़रूरी है। इसीलिए वह मुखबिरी का काम छोड़कर स्वयं भी इतिहास में दाखिल होने का फैसला करता है, जो अन्यथा संभव नहीं था। जैसा कि नरेश राजदान को उसका काम समझाते हुए वह कहता है, 'तुम्हें भी हमेशा यह याद रखना होगा कि तुम सिर्फ इतिहास के भेदिये हो, एक मुखबिर, और उसके अलावा इतिहास में कोई भी हिस्सेदारी तुम्हारी लिए मना है।' मुखबिरी से मुक्ति पाने के कारण आज उसका भी नया जन्म होने वाला है।

अंतःक्रिया और रुपांतरण की प्रक्रिया कहानी में अनवरत चलती रहती है। गरीब परिवार का वह मेधावी युवक, जो राजधानी न जाकर 'एक रेग्जीन के बैग में अपनी कविताओं की कॉपी रखकर पड़ोस के इस धूमिल कस्बे में दागदार चेहरे वाले एक लगभग गुमनाम शाइर' मुक्तिबोध से मिलने चला आया था, अपनी आंतरिक दुर्बलताओं और आत्मकेंद्रित प्रवृत्ति के चलते शासन-सत्ता के गलियारों की तरफ निकल गया। वहीं सत्ता के लिए मुखबिरी करने वाला अजीत शर्मा उन्हीं के संपर्क में आकर उनकी तरफ खिंच आया। अपने रूपांतरण की प्रक्रिया का वह बड़े रोचक अंदाज़ में बयान करता है, 'अदृश्य रहते हुए मैं उनके करीब रहता रहा, उनकी बातें नोट करता रहा। यही मेरी ड्यूटी थी - आसान लगता था लेकिन धीरे-धीरे मुझे एहसास हुआ कि यह दुनिया का सबसे मुश्किल काम है। मैं उनकी उद्विग्नता के मानी समझने की कोशिश करने लगा और पता नहीं कैसे इस काम का पहला नियम भूल गया जो मेरे गुरु ने मुझ बताया था, उनकी बातों पर यकीन करने लगा। .... तुम इतिहास में यकीन करना चाहोगे, तुम्हें लगेगा कि सब कुछ इतिहास में घटित होता है, उसके बाहर और परे कुछ भी नहीं, और यह कि सब कुछ का एक अतीत होता है और एक भविष्य। शायद तुम उस वक्त थोड़ा सा उदास होगे, और तुम्हें धीरे-धीरे टुकड़ों में बहुत सारी बातें याद आएँगी।'

इस कहानी की इमारत तिमंजिला है। सबसे ऊपर की मंज़िल पर रामसहाय श्रीवास्तव नरेश राजदान के पिता के साथ अपने खोए हुए समय को तलाश करते हैं। बीच में विल्सन की

आँखों में आँखें डाले मुक्तिबोध अपने वक़्त पर अपनी छाप छोड़ने को कृतसंकल्प हैं, तथा जमीनी स्तर पर नरेश राजदान और वह युवा कवि आमने-सामने खड़े हैं।

अजीत शर्मा भले ही अपने ब्रिटिश पुरोधा विल्सन को अपना गुरु मानता है, लेकिन उसके वास्तविक गुरु मुक्तिबोध हैं जो उसके 'समकालीन' हैं और लेखक होने के नाते खुद को भी एक जासूस मानते हैं। नरेश राजदान के मामले में भी उन्हें विल्सन को मात देने में सफलता मिलती है। यहाँ इन दोनों के विचारों का वाहक अजीत शर्मा बनता है। वह हृदय से चाहता है कि उसकी जगह नौकरी करने आया नरेश राजदान विल्सन के उसूलो में पक्का हो जाए, लेकिन अपनी परंपरा (जिसका रूप कहानी में पैतृक है) और अपनी आंतरिक प्रवृत्ति के चलते वह अजीत शर्मा की तथाकथित असफलता के उदाहरण से ही प्रभावित हो जाता है। राजनाँदगाँव आने से पहले उस युवा कवि और नरेश राजदान के व्यक्तिगत जीवन में उल्लेखनीय अंतर बस इतना है कि वह युवा कवि अपनी कविताओं में 'अपने वजूद और दुनिया से बेहिसाब उकताहट या किसी काल्पनिक माशूका के नाम एक प्यार भरी पाती' लिखता है, जबकि नरेश राजदान कविताएँ तो नहीं लिखता लेकिन एक सचमुच की लड़की से भावुक किस्म का इकतरफ़ा प्रेम करता है। प्रेम में वह लड़की के भाई के भेजे हुए गुंडों का सामना करता है और शहर छोड़कर जाने से बचने के लिए एक अच्छी भली नौकरी का बुलावा ठुकरा देता है। लेकिन बात बहुत ज्यादा बढ़ जाने पर पिता और पूरे परिवार का ख्याल करके वह दूसरे प्रदेश की यह नौकरी स्वीकार कर लेता है। अवधेश की ही तरह वे दोनों भी उम्र के उस पड़ाव पर पहुँच चुके हैं जहाँ तमाम धुँधलके के बावजूद व्यक्तित्व की रूपरेखा उभरने लगती है। नरेश राजदान को वांछित दिशा देने में अजीत शर्मा की असफलता में कला के उस अनूठे रहस्य की झलक भी दिखाई पड़ती है जिसके मुताबिक कला अपने कलाकार के इरादों और विचारों को अतिक्रमित करके 'स्वतंत्र' हो जाती है और इतिहास में वृहत्तर भूमिका निभाती है।

अजीत शर्मा से जब नरेश राजदान अपने काम के प्रति अरुचि का इजहार करता है, तब इस पेशे की खूबी और महत्व का वर्णन करते हुए वह कहता है 'यह छोटी सी जगह है, काम कुछ ज़्यादा नहीं, लेकिन कुछ कवि और लेखक हैं और उनका सरगना... आने वाले बरसों में काम बढ़ने वाला है, इतना काम कि दिन रात छोटे पड़ जायेंगे। एक विराट उथल-पुथल होगी, आंदोलन होंगे। सब अपना हक माँगेगे .... बढ़ई, लुहार, बुनकर, दर्ज़ी, लकड़हारे। आज़ादी के पहले से भी ज़्यादा काम होगा और मुश्किल भी। नज़र रखनी होगी, रपट तैयार करनी होगी। तुम उस वक्त किसी बड़े शहर में बड़े अफसर होगे, तुम्हारे नीचे तीन सौ जूनियर्स होंगे।' इधर कवियों और लेखकों पर नज़र रखने की बात सुनकर नरेश राजदान को अपने निरीह पिता याद आते हैं जो सुभाषचन्द्र बोस के आगमन की भूमिका बनाने वाला लेख वर्षों से लिखते आ रहे थे। अजीत शर्मा अपना प्रयास जारी रखता है, 'इस काम में खतरा है लेकिन उस खतरे का अपना रोमांच भी है। बस, तुम वो बेवकूफियाँ मत करना जो मैंने कीं। तुम देख रहे हो कि मैं जिस हाल में यहाँ आया था उसी पोजीशन में रिटायर हो रहा हूँ। 'भविष्य

में संभावित जिन आंदोलनों की बात वह अपने पेशे का महत्व बताने के लिए करता है, युवा नरेश राजदान उनसे प्रभावित होने लगता है, और अपनी जिन बेवकूफियों की चर्चा वह उसे उनसे विरक्त करने के लिए करता है वे उसे अपनी तरफ खींचने वाली साबित होती हैं। मसलन यह चेतावनी 'तुम्हें अपनी गरीबी याद आएगी और सबकी गरीबी। तुम अँधेरे कमरे में वापस आकर एक तीली जलाओगे, उसके धुँधले प्रकाश में दर्पण में देखोगे। वहाँ तुम्हें एक व्याकुल, उदास चेहरा नज़र आएगा। फिर तुम मोमबत्ती की रोशनी में एक रपट बनाओगे, और उसे भेजने के बाद डाकखाने की सीढ़ियाँ उतरते हुए तुम हैरानी से भर जाओगे, अपने पर ही एक बेइंतहा हैरानी, कि तुमने अभी-अभी जो काम किया है वह .... इन पिद्दी ख्यालों को पैदा होते ही मार देना होगा, वरना वे धीरे-धीरे बड़े होते जाएगें।'

यह बातचीत युवक को अशांत कर जाती है। वह सो नहीं पाता। वह अजीत शर्मा से पूछता है कि, 'आपने क्या नाम बताया था?' शर्मा पूछता है 'किसका?' 'वही जो ....।' शर्मा और कुछ कहे बिना समझ जाता है - 'मुक्तिबोध .... गजानन माधव मुक्तिबोध।' थोड़ी देर बाद वह उससे फिर पूछता है - 'वह कहाँ चला गया?' शर्मा समझता है कि प्रश्न अवधेश के बारे में है। वह पहले तो उसकी जिज्ञासा का कारण पूछता है, फिर अपनी झूठी अनभिज्ञता ज़ाहिर करते हुए कहता है - 'अब तो देश आज़ाद हुए भी बारह साल हो गए।' इस वाक्य का मकसद अवधेश की अप्रासंगिकता की स्थापना है। कहानी की स्थापना इसके विपरीत है। इसके मुताबिक यह रूपगत तथ्य तो है, लेकिन वस्तुगत सत्य नहीं। इसीलिए उस दिन सुबह ही अपने बेटे प्रमोद से यह सूचना पाकर रामसहाय श्रीवास्तव सदमें में आ जाते हैं और संभवतः इसी से पैदा हुई अतिरिक्त व्यग्रता उनकी जान ले लेती है। नरेश राजदान कुछ देर की चुप्पी के बाद शर्मा से ऊपर जाने के बारे में पूछता है। शर्मा अन्यथा तो अधूरे वाक्यों तक में बात करने और समझने का आदी है मगर यहाँ बात को टालने के लिए कहता है कि एक दिन वह बहुत ऊपर जाएगा। राजदान के अपना आशय स्पष्ट करने पर वह उसे हतोत्साहित करता है और बातचीत का क्रम टूट जाता है।

थोड़ी देर बाद नींद लगने पर राजदान सपने में देखता है कि अवधेश गुपचुप तरीके से पिता से मिलने ऊपर की मंज़िल पर चढ़ता है। वह पिता से कहता है कि 'रुकूँगा नहीं। छुपता-छुपाता आया हूँ। जासूस पीछे लगे हैं।' जब उसके पिता आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि वह अकेला कितना काम करेगा और उन्हें तो यह सब करता कोई नज़र नहीं आता, तब वह जवाब देता है - 'नहीं पिताजी, वे हर जगह हैं। काम चल रहा है। वह कभी नहीं रुका, एक क्षण के लिए भी नहीं।'

उसके स्वप्न में उपजे अवधेश के ये दो वक्तव्य उसकी मनःस्थिति के दो रूपों के द्योतक हैं। अजीत शर्मा से हुई बातचीत के दौरान जासूसी के पेशे की जो तस्वीर उसके दिमाग में बनी है, पहले तो वह सामने आती है। अवधेश का पीछा करने वाले जासूसों में वह खुद को भी शामिल पाता है, सपने में वह ठीक यही काम कर भी रहा है। लेकिन उसके मस्तिष्क का

द्वंद्व एक वैकल्पिक नियति की रचना करता है। वह अवधेश के सहयोगियों में भी हो सकता है जो 'नज़र नहीं आते लेकिन हर जगह हैं'। इसके बाद अवधेश के पिता मानो राजदान के पिता में बदल जाते हैं, और रोज़ लिखने के बावजूद काम खत्म न होने की बात करते हैं। उनके लिखे काग़ज़ों पर उसके पिता की 'सुलेख हस्तलिपि' दिखाई पड़ती है। इस प्रकार उसका अवचेतन इस वैकल्पिक स्थिति पर सहमति की मुहर लगाता है।

अंत में, कथाकार मानो पटाक्षेप करते हुए कहानी से उभरी तस्वीर के रूप में 1959 में ही इलाहाबाद में हुए एक सम्मेलन के बाद लौटते हुए ट्रेन के डिब्बे में मुक्तिबोध, अशोक वाजपेयी और नरेश राजदान को दिखाता है। अशोक वाजपेयी अपनी कविता पत्रिका के अगले अंक में छापकर मुक्तिबोध को चकित कर देने के लिए उनके सो जाने के बाद उनकी कोट की जेब से चाबी निकालकर 'बक्सा खोलते हैं और उनकी कविताओं के रजिस्टर से एक कविता चुपचाप कॉपी कर लेते हैं, मगर वह पत्रिका बंद हो जाती है और कविता उसमें नहीं छपती। अशोक वाजपेयी को कटनी स्टेशन पर गाड़ी बदलना है और ट्रेन वहाँ पहुँचने पर वे उतर जाते हैं। जगने पर मुक्तिबोध जब उन्हें तलाश करते हैं तो नरेश राजदान बताता है कि 'वे तो चले गए।' थोड़ी देर बातचीत के बाद मुक्तिबोध फिर गहरी नींद सो जाते हैं। एक ज़िद्दी टिकटचेकर जब उन्हें जगाना चाहता है तो राजदान उसे डाँटकर भगा देता है। इस प्रसंग में अलग से उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कथाकार नरेश राजदान को एक बार मुक्तिबोध का बेटा कहता है और स्वयं राजदान मुक्तिबोध से अपना नाम अवधेश बताता है। अब चूँकि यह कहानी से उभरी तस्वीर है और कहानी की व्याख्या हम कर चुके हैं, इसलिए इस प्रसंग पर और कुछ कहना मुनासिब नहीं लगता।

कहानी के अंत में आया एक वाक्य का पैराग्राफ कुछ स्पष्टीकरण की माँग जरूर करता है। यह इस प्रकार है 'इस तरह की तमाम बातें ... जिनकी जानकारी मुक्तिबोध को नहीं हुई, इसलिए वह क़हानी नहीं लिखी गई जो शुरुआत के पहले ही खत्म हो गई और अंत के बाद दुबारा शुरू - वह यदि लिखी जाती तो इनकी कविताओं की तरह ही विद्युन्मय होती और प्रचंड प्रकाशमान - लेकिन अब कभी नहीं लिखी जा सकेगी क्योंकि उसका वक्त हमेशा के लिए बीत गया।'

दरअसल, यह कहानी प्रकट रूप में एक ऐसी पुरानी कहानी के बारे में है जिसे मुक्तिबोध ही लिख़ सकते थे, लेकिन उन्हें इसकी जानकारी नहीं हो सकी और अपनी इतिहास की किताब पर फासीवादियों की नालिश का जवाब देने जैसे दूसरे काम भी उन्हें करने थे, इसलिए नहीं लिखी जा सकी। अगर वह लिखी जाती तो उसमें इन-इन घटनाओं का ज़िक्र जरूर होता। अंततः यह भी कह दिया गया कि अब वह कभी नहीं लिखी जा सकेगी क्योंकि उसका वक्त हमेशा के लिए बीत गया।

कहानी के बिलकुल अंत में उसके न लिखे जाने की जो वजह बताई गई, समूची कहानी का संदेश उसके खिलाफ़ है। उस कहानी के वक़्त के बीत जाने का मतलब है

औपनिवेशिक गुलामी के वक़्त का बीत जाना। लेकिन हम सभी जानते हैं कि वह गुलामी दरअसल वापस आ रही है - 1947 के लबादे को भी उतारकर। पूरी कहानी अतीत काल में कही गई है इसलिए उसमें सिर्फ 1959 तक के साक्ष्य हैं। लेकिन वर्तमान के बारे में हमारा आकलन कहानी के साक्ष्य से पुष्ट हुए बिना विश्वसनीय नहीं हो सकता। सौभाग्य से वह साक्ष्य मौजूद है, कहानी के किसी दबे-छिपे गोशे में नहीं, उसकी ठोस, मूर्त और दृश्यमान समूची उपस्थिति में। इस कहानी का होना ही इसके न होने के तर्क को निर्णयात्मक रूप से खण्डित करता है। मुक्तिबोध के न लिखने के बावजूद इसका लिखा जाना इस बात का प्रमाण है कि मुक्तिबोध के उत्तराधिकारी उनकी विरासत को सँभालने और उसे विकसित करने में सक्षम हैं।

रहा सवाल सत्य का, जिसका प्रबल आग्रह शुरुआत में ही गाँधीजी के वक्तव्य में दिखाई पड़ता है और सत्यकथाओं के लेखक जिसका दावा करते नहीं थकते, तो हम यही कहेंगे कि कला का सत्य जीवन के सत्य का अनुवाद नहीं होता और उसे रूप और अंर्तवस्तु के बीच छिड़े संघर्ष के बीच ही हासिल किया जा सकता है। इस मायने में यह कहानी उस खुली लड़ाई का ही एक नमूना है जिसका आह्वान 1942 में गाँधी जी ने किया था। 'धारदार चाकू से खुरचने पर निकली हुई खून की बूँदें' एक लकीर की शक्ल में अतीत से चलकर वर्तमान तक आई हैं। यही लकीर इस 'पुरानी कहानी' को एक नई कहानी बनाती है।

कहानी

# बॉल्तजर की अनोखी दोपहर

ग्रेब्रियल गार्सिया मार्केइज

अनुवाद : केवल गोस्वामी

पिंजरा तैयार हो गया। बॉल्तजर ने आदत के मुताबिक उसे ओलपी के साथ टाँग दिया और जब तक उसने दोपहर का खाना खत्म किया तब तक यह बात सभी की जबान पर थी कि यह दुनिया को सबसे सुंदर पिंजरा है। बहुत से लोग उसे देखने के लिए आए, उसके घर के सामने भीड़ लग गई और बॉल्तजर को उसे नीचे उतार कर दुकान बंद करनी पड़ी।

''तुम्हें दाढ़ी बनानी चाहिए'', उसकी पत्नी उरसला ने उससे कहा, ''तुम बकरे की तरह लगते हो।''

''भोजन के बाद दाढ़ी बनाना बुरा समझा जाता है,'' बॉल्तजर ने कहा।

दो हफ्ते से बढ़े खच्चर की गर्दन जैसे बाल और कुल मिलाकर एक डरे हुए लड़के जैसा चेहरा! किन्तु यह भ्रमित करने वाली झलक थी। फरवरी में वह तीस का हो गया था। चार साल से वह उरसला के साथ बिना ब्याह किए रह रहा था, उनका कोई बच्चा भी नहीं हुआ था। जीवन में वह कई बार सतर्क हुआ था पर डरने जैसी कोई बात नहीं थी। उसे तो यह भी मालूम नहीं था कि जो पिंजरा उसने अभी-अभी बनाया है - वह कुछ लोगों के लिए दुनिया का सब़से सुंदर पिंजरा है। उसे बचपन से ही पिंजरे बनाने का अभ्यास था। यह पिंजरा शायद ही उनसे मुश्किल हो।

''थोड़ी देर सुस्ता लो।'' औरत ने कहा - ''दाढ़ी वाला चेहरा किसी को दिखाने लायक भी तो नहीं।''

जब वह आराम कर रहा था तो पड़ोसियों को पिंजरा दिखाने के लिए उसे कई बार

अपनी झूलन खटिया से उठना पड़ा। तब तक उरसला का ध्यान उस ओर नहीं गया था। वह इस बात को लेकर नाराज थी कि उसके पति ने पिंजरा बनाने में सारा समय लगाकर बढ़ईगिरी की अपनी दुकान के काम की उपेक्षा की है। दो सप्ताह से वह ठीक से सोया नहीं था। बेतुकी बातों के बारे में बड़बड़ाते हुए उसने दाढ़ी बनाने के बारे में नहीं सोचा था। किन्तु तैयार पिंजरे को देखकर उसका गुस्सा काफूर हो गया। बॉल्तजर जब झपकी लेकर उठा तो उसने उसकी पैन्ट-कमीज इस्तरी करके खटिया के निकट पड़ी कुर्सी पर रख दी और पिंजरे को खाने की मेज़ पर ले गई। एकांत में उसने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

''इसके कितने दाम लगाओगे।'' उसने पूछा।

''मैं नहीं जानता,'' बालथाजार ने कहा - ''मैं तीस रुपये माँगूगा शायद बीस तक सौदा पट जाए।''

''पचास रुपये देने को कहना'', उरसला ने कहा, ''इन दो हफ्तों में तुम्हारी नींद हराम हो गई है। फिर यह है भी बहुत बड़ा मैं नहीं समझती मैंने अपने जीवन में इतना बड़ा पिंजरा कभी देखा हो।''

बॉल्तजर ने दाढ़ी बनानी शुरू की।

''तुम समझती हो वे मुझे पचास रुपये दे देगें?''

''मिस्टर चैपे मोन्टियल के लिए तो यह कुछ भी नहीं, फिर इतनी कीमत का तो यह है ही।'' उरसला ने कहा - ''तुम साठ देने को कहना।''

घर के भीतर दम घुट रहा था। अप्रैल का पहला हफ्ता था, झींगुरों की सुरसुराहट के कारण भी गर्मी असह्य हो रही थी। कपड़े पहनने के पश्चात बॉल्तजर ने बरामदे की ओर का दरवाजा खोल दिया था ताकि ताजा हवा आ सके। बच्चों का एक झुण्ड कमरे में घुस आया।

खबर फैल गई थी। अपने जीवन से सन्तुष्ट किन्तु पेशे से ऊब हुए डाक्टर ओक्टोवियों गिराल्डो ने अपनी अपाहिज पत्नी के साथ खाना खाते समय बालथाजार के पिंजरे के बारे में सोचा। गर्मियों के दिन थे। छज्जे के जिस कोने में वे मेज बिछाते थे वहाँ पर कई गमले पड़े थे और नन्ही मुनिया वाले दो पिंजरे भी। उसकी पत्नी परिन्दों को बहुत प्यार करती थी। उनसे अगाध प्रेम होने के कारण वह बिल्लियों से घृणा करती थी क्यों कि वह उन्हें खा जाती थी। उसके बारे में सोचते हुए डाक्टर गिराल्डो दोपहर बाद एक मरीज को देखने गए और लौटते हुए बालथाजार के घर की ओर से गुजरे।

खाने के कमरे में कई लोग थे। मेज़ पर रखे तारों के विशाल गुम्बद और तीन मंजिलों वाले पिंजरे की नुमाइश हो रही थी। उसके भीतर अलग-अलग रास्ते और खाने बने हुए थे। विशेषतया भोजन, सोने और झूलने के लिए। परिन्दों की दिलजोई के लिए स्थान छोड़ रखा था। यह बर्फ के कारखाने के छोटे मॉडल की तरह लग रहा था। बिना छुए डाक्टर ने उसका मुआइना किया। लगा कि पिंजरा अपनी शोहरत से ज्यादा खूबसूरत था और अपनी पत्नी के लिए की गई पिंजरों की कल्पना से कहीं अधिक खूबसूरत।

''यह कल्पना की उड़ान है।'' उसने कहा। उसने लोगों की भीड़ में से बॉल्तजर को खोजा और अपनी खानदानी आँखें उस पर गड़ाते हुए कहा - ''तुम एक अद्‌भुत वास्तुकार हो सकते थे।''

बॉल्तजर सकुचा गया।

''धन्यवाद,'' उसने कहा।

''यह वास्तविकता है।'' डाक्टर ने कहा। अपनी जवानी में खूबसूरत रही औरत की भाँति वह नाजुक, चिकना और मोटा था और उसके हाथ बहुत सूक्ष्म थे। उसकी आवाज लेटिन बोलने वाले पादरी की तरह थी। ''तुम्हें इसमें परिन्दे रखने की जरूरत नहीं।'' पिंजरे को लोगों की ओर मोड़ते हुए उसने कहा, जैसे वह उसकी बोली लगाने जा रहा हो। ''इसे पेड़ के साथ लटका देना ही काफी है। खुद-ब-खुद गाने लगेगा।'' उसने पुनः उसे मेज पर रख दिया। पिंजरे की ओर देखकर एक क्षण सोचा और बोला - ''अच्छी बात है, मैं इसे ले जाऊँगा।''

''यह बिक चुका है।'' उरसला ने कहा।

''यह चैपे मोन्टियल की सम्पत्ति है।'' बॉल्तजर ने कहा ''उसने खासतौर पर इसे बनाने के लिए कहा था।''

डाक्टर ने सम्मानपूर्वक कहा, ''क्या उसने इसका खाका तुम्हें दिया था?''

''नहीं।'' बालथाजार ने कहा,'' उसने कहा था वह गौरैया का जोड़ा रखने के लिए इस तरह का बड़ा पिंजरा चाहता है।''

डाक्टर ने पिंजरे पर निगाह डाली।

''किन्तु यह गौरैया के लिए नहीं है।''

''दरअसल डाक्टर साहब, यह उसी के लिए है,'' मेज की ओर बढ़ते हुए बॉल्तजर ने कहा, बच्चों ने उसे घेर लिया। ''बिल्कुल सही सही नापजोख है।'' अलग अलग खानों की ओर उंगली से इशारा करते हुए उसने कहा। फिर उंगली के पोर से गुम्बद को झन झना दिया और पिंजरे में प्रतिध्वनियाँ गूँजने लगीं।''

''यह पुख्ता तार है, आप देख सकते हैं, और हर जोड़ पर अंदर बाहर से दोहरा टांका लगाया गया है।'' वह बोला।

''यह तो तोते के लिए भी बड़ा है।'' एक लड़के ने बीच में बोलते हुए कहा।

''वह तो है,'' बॉल्तजर ने कहा।

डाक्टर ने घूमकर देखा।

''ठीक है, किन्तु उसने तुम्हें नक़्शा तो नहीं दिया।'' वह बोला - ''गौरैया के जोड़े के लिए एक बड़ा पिंजरा बनाने के अतिरिक्त उसने तुम्हें कोई खास हिदायत तो नहीं दी, क्यों ठीक है न?''

''हाँ, यह तो ठीक है।'' बॉल्तजर ने कहा।

''फिर कोई समस्या नहीं,'' डाक्टर ने कहा, ''एक बात तो है, यह पिंजरा गौरैया के

पिंजरे के लिए है भी बहुत बड़ा और दूसरे यह पिंजरा! इसका कोई प्रमाण नहीं कि यही पिंजरा बनाने के लिए उसने तुमसे कहा था।''

''बिल्कुल यही,'' सोचकर बॉल्तजर ने कहा ''इसीलिए मैंने यह बनाया है।''

डाक्टर अधीर हो उठा

''तुम ऐसा एक और बना सकते हो,'' उरसला ने अपने पति की ओर देखते हुए कहा और फिर डाक्टर की ओर घूमी ''आपको कोई जल्दी तो नहीं?''

''मैंने दोपहर बाद के लिए अपनी पत्नी से वायदा किया था।'' डाक्टर ने कहा।

''मुझे खेद है, डाक्टर साहब,'' बॉल्तजर ने कहा, ''किन्तु मैं पहले से बिकी हुई चीज़ को दोबारा आपको नहीं बेच सकता।''

डाक्टर ने कंधे झटकाए, रुमाल से गर्दन का पसीना पोंछते हुए अनमनी दृष्टि से पिंजरे का जायजा लिया, जैसे कोई किनारा छोड़ते हुए जहाज की ओर देखता है।

''उन्होंने उसके कितने दाम तुम्हें दिए हैं?''

बॉल्तजर ने बिना कोई उत्तर दिए उरसला की ओर देखा। ''साठ रुपये।'' वह बोली।

डाक्टर पिंजरे को लालसा से देखता रहा, ''यह बहुत सुंदर है।'' उसने लम्बी साँस ली। ''बेहद सुंदर।'' फिर दरवाजे की ओर जाते हुए उसने स्वयं को मुस्कराते हुए संभाला। फिर इस घटना के चिह्न सदा सर्वदा के लिए उसके स्मृतिपटल से मिट गए।''

''मोन्टियल बहुत अमीर है।'' उसने कहा।

वास्तव में जोस मोन्टियल इतना अमीर नहीं था जितना वह दिखाई देता था, किन्तु ऐसा बनने के लिए वह कुछ भी कर सकता था। कुछ गलियों परे माल-असबाब से भरे एक घर में कभी किसी को ऐसी गंध नहीं मिली जिसे बेचा न जा सके। वह पिंजरे की खबर से उदासीन रहा। उसकी पत्नी मृत्यु के भय से प्रताड़ित थी इसलिए दोपहर के भोजन के पश्चात खिड़कियाँ दरवाजे बंद करके दो घंटे लेट जाती थी, कमरे की परछाईं को घूरती रहती थी, जब कि जोस मोन्टियल एक झपकी ले लेता था। वहाँ मिली जुली आवाज़ों के शोर ने उसे विस्मित कर दिया था। तब उसने घर का दरवाज़ा खोला और सामने लोगों की हुजूम पाया। ताजा-ताजा बनी दाढ़ी और सफेद पोशाक पहने बॉल्तजर उस समूह के केन्द्र में था। उसके चेहरे पर शिष्ट एवं सरल भाव थे जिनको लिए कोई निर्धन, धनी के दरवाजे पर जाता है।''

''क्या शानदार चीज है। '' जोस मोन्टियल की पत्नी बॉल्तजर को भीतर लाते हुए उद्दीप्त भाव से चहकी। ''मैंने अपने जीवन में इस तरह की चीज कभी नहीं देखी।'' दरवाजे पर बढ़ती भीड़ के कारण वह उद्विग्न हो गई।

''किन्तु इससे पहले यह बैठक दीवाने-आम बना दे इसे भीतर ले आओ।''

बॉल्तजर जोस मोन्टियल के घर के लिए कोई अजनबी नहीं था। अपने कौशल और व्यवहार के खुलेपन के कारण विभिन्न अवसरों पर बढ़ई के छोटे-मोटे कामों के लिए बुलाया जाता था। किन्तु अमीर व्यक्तियों के मध्य उसे कभी सुविधाजनक नहीं लगा। उनके बारे में,

उनकी कुरूप एवं बड़बोली पत्नियों के बारे में, उनकी अनेक शल्यक्रियाओं के ब़ारे में सोचकर उसको अक्सर दया आती थी। जब भी वह उनके घर में प्रवेश करता, पैर घसीटे बिना नहीं चल पाता था।

''क्या पैपे घर पर हैं, '' उसने पूछा।

उसने पिंजरे को खाने क़े मेज पर रख दिया।

''वह स्कूल गया है।'' जोस मोन्टियल की पत्नी ने कहा। ''वह जल्दी ही आ जाएगा,'' वह बोली ''मोन्टियल नहा रहा है।''

वास्तव में जोस मोन्टियल के पास नहाने का समय नहीं था। बाहर क्या हो रहा है यह देखने की उसे उतावली थी। इसलिए जल्दी-जल्दी अपने शरीर पर अल्कोहल की मालिश कर रहा था। वह इतना सतर्क था कि घर के भीतर होने वाली भिन्न-भिन्न आवाजों को सुनने के लिए वह बिजली के पंखे के बिना सोया।

''श्रीमती।'' वह चिल्लाया - ''यह क्या हो रहा है?''

''आओ देखो क्या शानदार चीज है,'' उसकी पत्नी चिल्लाई।

घने बालों से ढकी तोंद वाले जोस मोन्टियल ने कंधे पर तौलिया लिए ही सोने के कमरे की खिड़की से झाँका।

''क्या है यहाँ?''

''पैपे का पिंजरा।'' बॉल्तजर ने कहा।

उसकी पत्नी परेशान नज़र आ रही थी।

''किसका?''

''पैपे का।'' बॉल्तजर ने उत्तर दिया, फिर जोस मोन्टियल की ओर घूम कर कहा ''पैपे ने इसे बनाने का ऑर्डर दिया था।''

तुरन्त कुछ नहीं हुआ, किन्तु बॉल्तजर को लगा कि किसी ने उसके सामने बाथरूम का दरवाजा खोल दिया है। जोस मोन्टियल सोने के कमरे से कच्छा पहने ही बाहर आ गया है।

''पैपे!'' वह चिल्लाया।

''वह अभी लौटा नहीं है।'' बुत बनी उसकी पत्नी बुदबुदाई।

पैपे आता दिखाई दिया। वह लगभग बारह वर्ष का था। अपनी माँ की तरह गुमसुम था और उसकी बरौनियाँ भी बाँकी थीं।

''यहाँ आओ!'' जोस मोन्टियल ने उसे कहा, ''क्या तुमने इसका ऑर्डर दिया था?''

बच्चे ने सिर झुका लिया। उसे बालों से पकड़कर घसीटते हुए जोस मोन्टियल ने पैपे को अपनी आँखों में झाँकने को मजबूर कर दिया।

''जवाब दो।''

बिना बोले बच्चे ने अपने होठ काट लिए।

''मोन्टियल,'' उसकी पत्नी बुदबुदाई।

जोस मोन्टियल ने बच्चे को तो जाने दिया और बालथाज़ार की ओर जलती हुई निगाहों से देखा। ''मुझे अफसोस है बॉल्तजर,'' वह बोला, ''बनाने से पहले तुम्हें मुझसे पूछ लेना चाहिए था। सिर्फ तुम्हीं हो जो बच्चों के साथ ऐसा सौदा कर सकते हो?'' बोलते समय उसका चेहरा ढीला पड़ने लगा। बिना देखे उसने पिंजरा उठाया और बॉल्तजर को दे दिया।

''जल्दी से इसे यहाँ से ले जाओ, और जिस किसी को भी बेचना चाहो बेच दो,'' वह बोला, ''मैं चाहूँगा इस बारे में तुम मुझसे बहस न करो।'' उसने उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा, ''डाक्टर ने मुझे गुस्सा न करने की हिदायत दी है।''

बच्चा बिना आँख झपकाए बुत बना खड़ा रहा, जब बॉल्तजर ने पिंजरा हाथ में लिए अनमने ढंग से उसकी ओर देखा, फिर उसके कण्ठ से कुत्ते के गुर्राने जैसी आवाज निकली और चीखते हुए वह फर्श पर लेट गया।

बिना विचलित हुए जोस मोन्टियल ने उसकी ओर देखा, किन्तु माँ ने उसे सांत्वना देने की चेष्टा की। ''उसे उठाने की कोशिश भी नहीं करना,'' वह बोला, ''उसे फर्श पर अपना सिर फोड़ने दो, फिर उस पर नमक डालकर नीबू निचोड़ना ताकि वह जी भर कर गुस्सा दिखा सके।'' बच्चा बिना आँसू बहाये चीख रहा था जबकि उसकी माँ उसकी कलाइयों को थामे हुए थी।

''उसे अकेला छोड़ दो,'' जोस मोन्टियल ने इसरार किया।

बॉल्तजर ने बच्चे की ओर इस प्रकार देखा जैसे उसने दर्द से छटपटाते हुए पशु को मरते देखा हो। लगभग चार बजे थे। उस समय उरसला अपने घर में प्याज काटते हुए एक बहुत पुराना गीत गा रही थी।

''पैपे,'' बॉल्तजर ने कहा।

वह मुस्कराते हुए बच्चे की ओर बढ़ा और पिंजरा उसे दे दिया। बच्चे ने उछलकर अपने बराबर के पिंजरे को बाहों में भर लिया। तारों के जाल में से वह बॉल्तजर की ओर देखता रहा। वह नहीं जानता था कि वह क्या कहे। उसने एक भी आँसू नहीं गिराया था।

''बॉल्तजर।'' जोस मोन्टियल ने नरमी से कहा, ''मैंने कहा न इसे यहाँ से ले जाओ।''

''लौटा दो।'' औरत ने बच्चे को आदेश दिया।

''रख लो।'' बॉल्तजर ने कहा और फिर जोस मोन्टियल से, ''आखिर मैंने इसी के लिए तो बनाया था।''

जोस मोन्टियल बैठक तक उसके साथ आया।

''पागल न बनो बॉल्तजर, '' उसने रास्ता रोकते हुए कहा, ''अपना यह सामान ले जाओ और मूर्खता न करो, मैं तुम्हें एक पैसा भी नहीं देने वाला।

''उसकी कोई बात नहीं।'' बॉल्तजर ने कहा, ''मैंने विशेषतया तोहफे के तौर पर पैपे के लिए इसे बनाया है, मैं इसके बदले कुछ नहीं चाहता।''

जब बॉल्तजर दर्शकों के बीच से रास्ता बनाते हुए जाने लगा उस समय जोस मोन्टियल ड्राइंग रूम के बीचों-बीच खड़ा चिल्ला रहा था और उसकी आँखें सुर्ख होनी शुरू हो गई थीं।

''पागल!'' वह चिल्लाया, ''अपने इस घटिया माल को यहाँ से ले जाओ। आखरी बात सुन लो, मेरे घर से कोई ऑर्डर नहीं जाएगा। सुअर का बच्चा।''

कहवा खाने में बॉल्तजर का भरपूर स्वागत हुआ। अभी तक वह सोचता था कि उसने अब तक बनाए पिंजरों से बेहतर पिंजरा बनाया है, कि वह उसे जोस मोन्टियल के बेटे को देगा इसलिए रोने की कोई बात नहीं और इन चीजों का कोई विशेष महत्व नहीं है। फिर उसे लगा कि कई लोगों के लिए इन चीजों का कुछ महत्व है। वह थोड़ा उत्तेजित हो गया।

''अच्छा! उन्होंने तुम्हें पिंजरे के साठ रुपये दिए?''

''साठ!'' बॉल्तजर ने कहा।

''यह तुम्हारी कामयाबी है,'' किसी ने कहा, ''शायद तुम अकेले व्यक्ति हो जिसने मिस्टर चैपे मोन्टियल से ढेर सारी रकम वसूल की है। हमें जश्न मनाना चाहिए।''

उन्होंने उसके लिए बियर खरीदी। बॉल्तजर ने हर एक का अभिवादन किया। चूँकि पीने का उसका यह पहला अवसर था इसलिए शाम तक वह पूरी तरह धुत हो गया। वह साठ रुपये प्रति पिंजरे के हिसाब से हजार पिंजरे बनाने की काल्पनिक योजना के बारे में बतियाने लगा। फिर दस लाख पिंजरे जब तक कि उसके पास छः करोड़ रुपये न हो जाएँ। ''हमें उनके मरने से पहले अमीरों को बेचने के लिए ढेर सारी चीजें बनानी हैं, '' वह नशे में धुत होकर कह रहा था, ''वे सभी बीमार हैं और मरने वाले हैं। वे इतने कंजूस हैं कि गुस्सा भी नहीं कर सकते।'' दो घंटे तक वह ज्यूक बॉक्स से गाने सुनता रहा। हर व्यक्ति ने बॉल्तजर के स्वास्थ्य, सौभाग्य और अमीरों की मृत्यु के लिए जाम पिया, किन्तु खाने के समय वे उसे कहवाखाने में अकेला छोड़ गए।

उरसला ने आठ बजे तक उसकी प्रतीक्षा की। उसके लिए माँस के तले हुए टुकड़े प्याज कुतर कर बनाए थे। किसी ने उसे बताया था कि उसका पति कहवाखाने में है। वह खुशी से झूम रहा है, हरएक को बियर पिला रहा है, किन्तु उसने विश्वास नहीं किया क्योंकि बॉल्तजर पी कर कभी धुत नहीं हुआ था। आधी रात को जब वह सोने के लिए गई तो बॉल्तजर रौशनियों-वाले कमरे में था, वहाँ चार-चार कुर्सियों के साथ कई मेज़ बिछे थे और बाहर नाचने की जगह थी जहाँ टिटहिरियाँ घूम रही थीं। उसके चेहरे पर रंग लगा था और चूँकि वह अगला कदम उठाने में असमर्थ था उसने सोचा वह दो स्त्रियों के पास एक साथ सोना चाहता है। उसने इतने पैसे खर्च कर दिए थे कि उसे अगले दिन पैसे चुकाने के वायदे के साथ अपनी घड़ी गिरवी रखनी पड़ी थी। अगले ही क्षण गली में गिद्ध मंडराने लगे। उसे लगा उसके जूते निकाले जा रहे हैं किन्तु वह जीवन के खुशगवार दिन को अपने से अलग नहीं करना चाहता था। उस रास्ते पर सुबह पाँच बजे प्रार्थना के लिए निकली औरतों ने यह सोचकर उसकी

ओर नहीं देखा कि वह मर चुका है।

*पिछली बार हमने बेन ओकरी की कहानी प्रकाशित की थी जिसका अनुवाद अजित हर्षे ने किया था इस बार हम गेब्रियल गार्सिया मार्क्वेज की कहानी आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। अगली बार जैक लंदन की कहानी आपके लिये तैयार हो रही है जिसका अनुवाद इन्द्रमणि उपाध्याय कर रहे हैं।*
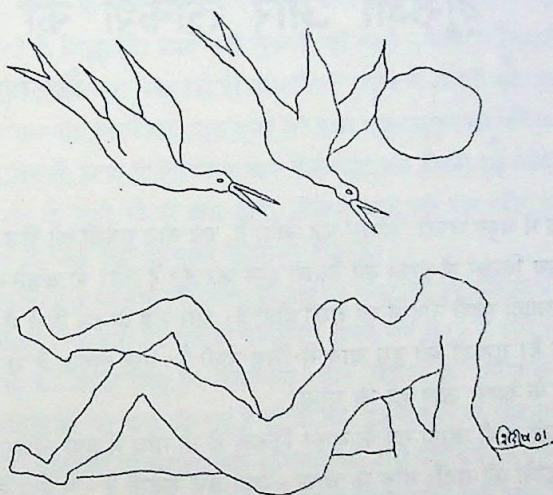
# गुरुजी और लोकेश की कहानी

कैलाश बनवासी

गाँव में बहुत जल्दी 'सोवा' पड़ जाता है, यह बात गुरुजी को रोज खटकती है। आठ बजे नहीं कि सब बिस्तर में घुसने की तैयारी शुरु कर देते हैं और नौ बजते-बजते तो गाँव की तीन चौथाई आबादी गहरी नींद में जा चुकी होती है। और ठंड के इन दिनों में तो यह काम और जल्दी हो जाता है। गुरूजी को इस बात से चिढ़ होती है। उन्हें लगता है ये लोग दो ही काम जानते हैं - डट के खाना और डट के सोना।

गुरूजी अभी खाना खा के बाहर निकले थे तो गाँव में घुप्प अँधेरा था और दिसंबर की रात की कड़ाके की सर्दी। गाँव के चौक - जहाँ बस रुकती है - में पान ठेले वाला डोकरा समारू रोज की भाँति भुर्री जला के तापने बैठा था। यही डोकरा जगते रहता है तो गाँव के दो-चार लोग जमा रहते हैं। आज गुरूजी पहुँचे तो वे भी नदारद थे, डोकरा अकेले आग ताप रहा था। थोड़ी देर वहाँ बैठ के आ गए गुरूजी।

गुरूजी के घर का टीवी चालू था। टीवी वाले कमरे का दरवाजा प्रायः खुला रखते हैं गुरूजी। वे समाचार वगैरह को बाहर टहलते हुए सुन लेते हैं। रेडियो भी जब कभी सुनते हैं तो वाल्यूम ऊँचा रखते हैं ताकि उनके साथ-साथ और लोग भी सुन सकें। वे अपने किराये के मकान के बाहर वाली बत्ती भी रात-भर जला के रखते हैं, जबकि गाँव के अच्छे-अच्छे दाऊ अपने घर के बाहर की बिजली नहीं जलाते। जलाएँगे तभी जब उनका काम होगा। बिजली की किफायत करते हैं। गाँव के सड़क की बत्तियाँ भी अंजोरी पाख में नहीं जलाई जाती, चंदा का उजाला रहता है इसलिए। उनहें चंदा पर भरोसा है। लेकिन हद ये है कि अब अंधियारी पाख में

भी इस नियम को चलाया जा रहा है। चंदा को उनके इस नये नियम की जानकारी नहीं है, नहीं तो कुछ न कुछ रोशनी इनके लिये भेज देता।

गुरूजी को गाँव में आए कुछ ही महीने हुए हैं। वे यहाँ के मिडिल स्कूल में अध्यापक हैं। वे ठेठ गाँव से नहीं, तहसील वाले कस्बे से आए हैं, इसलिए कुछ शहराती हैं। वे यहाँ के लोगों के रंग-ढंग समझने की कोशिश में हैं। गाँव में कुछ कम घरों में टी वी है, इसलिए भी गुरूजी अपनी बैठक का दरवाजा खुला रखते हैं, कि भाई जिनको देखना हो शौक से आ जाओ।

अक्सर रविवार के फिल्म और चित्रहार के समय पूरा पास-पड़ोस गुरूजी के घर में इकट्ठा हो जाता है। ज्यादातर बच्चे और महिलाएँ। गोद में दो-दो बच्चों को सँभालती औरतें। सब ये कार्यक्रम मुग्ध भाव से देखते हैं। ज्यों ही समाचार बुलेटिन की घोषणा होती है, वे जाने लगते हैं। चल दाई, खाना के लिये देखते होंगे। खाने वाले लोग घर में आ गए होंगे। थोड़ा भी देर होगा तो मरे-जिए से चिल्लाएंगे। जाते-जाते गुरूजी की पत्नी - जिन्हें वे मास्टरिन कहती हैं - जरूर पूछती जाएँगी - 'क्या साग पका रही हो मास्टरिन?'' गाँव में औरतों का एक दूसरे से साग पूछना एक तरह से राम-राम करने का, एक-दूसरे का हाल चाल पूछने का जरिया है, बहाना है।

वे मास्टरिन के साथ हँसी-मजाक कर गोठ-बात कर हँसती हुई चली जाती हैं।

अभी रात के साढ़े नौ ही बजे होंगे, लेकिन जाड़े की रात और कुलुप अंधियार देखकर काफी रात हो जाने का भययुक्त अहसास होता है।

दूरदर्शन में कोई धार्मिक सीरियल आ रहा है। मास्टरिन इन सीरियलों को गुरूजी की तुलना में ज्यादा ध्यान से देखती हैं। गुरूजी पत्नी का ध्यान भंग करने में लगे रहते हैं। धार्मिक नौटंकियों से गुरूजी को खासी चिढ़ है। 'रामायण' और 'महाभारत' सीरियल क्या लोकप्रिय हुए, धार्मिक धारावाहिकों की बाढ़ आ गई है टी वी पर! हनुमानजी पर धारावाहिक मंगलवार को प्रसारित होता है, शंकरजी पर धारावाहिक सोमवार को और शनिदेव पर शनिवार को। सभी देवी-देवताओं के दिन हैं। सप्ताह के सारे दिन उन्हीं के हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि सोमवार को हनुमानजी का सीरियल आने लगे। तब शायद देवताओं में लड़ाई होने लगे और उनके भक्तों में तो घमासान युद्ध ही छिड़ जाए। इन सीरियलों में देवगण कभी-कभी ही परेशान दिखाई देते हों, वे ज्यादातर सजे-सँवरे मधुर-मधुर मुस्कराते रहते हैं। चीखने-चिल्लाने का जिम्मा भयानक शक्लों वाले राक्षसों का है।

देवताओं को इतना मीठा-मीठा बोलते देख गुरूजी का मुँह मिठास के मारे चप-चप करने लगता है, मुँह में जलेबी का शिरा भर गया हो। गुरूजी मास्टरिन को बताते हैं। वे ध्यान नहीं देतीं।

गुरूजी ने फिर बताया कि यह देवता पिछले आधे घंटे से केवल मुस्करा रहा है, मुझे लग रहा है इसके जबड़े दुख रहे हैं, तुम क्या कहती हो?

आप चुपचाप नहीं देख सकते! मास्टरिन उन्हें झिड़क देती हैं - खुद तो देखेंगे नहीं,

दूसरे को भी नहीं देखने देंगे!

गुरूजी हँसते हुए अपनी चंदवा मुड़ी के गिने-चुने बालों को सँवारने लगते हैं।

तभी उढ़का हुआ दरवाजा खोलकर अचानक वह आ गया। लोकेश। ग्यारह-बारह बरस का लड़का। पड़ोस में रहने वाला।

उसका आना इतना अचानक था कि दोनों एक पल को भय से सिहर गये। गुस्सा आया, इसको तमीज नहीं है! आवाज देकर अंदर आना चाहिए! पर टाल गये! बच्चा है, वह भी देहात का। उसने भीतर आने के बाद भी कुछ नहीं कहा था, सिर्फ सहमा-सहमा सा मुस्करा रहा था - भीतर आना ठीक था या गलत?

अगले ही क्षण उसकी मुस्कान कृतज्ञता वाली मुस्कान में बदल गयी।

दरवाजे से बाहर की ठंडी, कंपकंपाती हवा आ रही थी। गुरूजी ने कहा, ''दरवाजा ओधा दे लोकेश।'

लोकेश ने दरवाजा उढ़का दिया।

'टीवी के आवाज को सुना तो आ गया, सर।' लोकेश की आँखों, चेहरे पर खूब उत्साह झलक रहा था। कोई मनचाही चीज दिनों बाद पाई हो, ऐसा।

दरवाजे के बिल्कुल पास ही वह पालथी मारकर बैठ गया। उसका बैठना, बैठना कम, खुद को सिकोड़ना ज्यादा था, कम से कम स्थान घेरते हुए। उसका वश चलता तो शायद अदृश्य होकर देखता। उसका बैठना वहाँ न होने के बराबर बैठना था। उसने अपने हाथ बाँध लिए थे ठंड से बचने के लिये। ठंड से बचने के लिये देह पर एक फटहा कमीज थी और हाफ पेंट।

गुरूजी ने ध्यान दिया, वह ठंडी भूमि पर ही बैठा है। गुरूजी खुद कुर्सी में बैठे थे, लेकिन गोबर से लीपी जाने वाली जमीन के ठंडेपन का अंदाजा था। उन्हें लगा, हल्का काँप रहा है लोकेश। उन्होंने पास में रखा बोरा लोकेश की तरफ बढ़ा दिया, ले इसमें बैठ जा लोकेश।

लोकेश बोरे पर भी उसी तरह गुड़ी-मुड़ी बैठ गया।

गुरूजी को लोकेश या उसके घर के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं। दो घर के बाद है लोकेश का घर। जात के हरिजन हैं - अनुसूचित जाति। गाँव में और कुछ पता चले न चले, जात सबसे पहले पता चलती है। इसके बाप को नाम चरनू है। लोकेश पाँचवी पढ़ रहा है। गुरूजी अक्सर तीन-चार छोटी बच्चियों को लोकेश के घर के आँगन में खेलते देखते हैं। सबकी सूरत मिलती-जुलती है, देखकर कोई भी जान जाएगा कि सगी बहनें हैं। एक बच्चा इसकी माँ की गोद में रहता है, छह महीने का। उसके जोर-जोर से रोने की आवाज जब-तब आती रहती है, और वैसे ही उसकी माँ की चिल्लाने, गाली देने की आवाज। अक्सर चिढ़चिढ़ाती रहती है वह औरत।

उसके पूरे घर-परिवार में अजीब सा रूक्खड़पन दिखता है - घर-दुवार से लेकर उसके चेहरों तक में। पता नहीं क्यों, छोटे बच्चों को छोड़ उस घर में कभी कोई हँसता-मुस्कराता नहीं

दिखता। उनके चेहरे और आँखों पर अक्सर अजीब सा रूखापन, निराशा और गहरा संदेह दिखता है, चाहे वह लोकेश की डोकरी दाई क्यों न हो, जिसके सिर के बाल मटमैले सफेद हैं और जिसकी मुड़ी हमेशा जापानी खिलौनों की तरह हिलती रहती है।

गुरूजी का मन सीरियल में बिल्कुल नहीं लगता था। यह मजबूरी थी। यह अभी कुछ और काम नहीं होने की मजबूरी थी। यह मनोरंजन के नाम पर जो कुछ दिखाया जाये उसे देखते जाओ की मजबूरी थी। यह टीवी देखने की आदत की भी मजबूरी थी। इस मजबूरी में कार्यक्रम के बीच विज्ञापनों को देखते जाने की मजबूरी थी, सैकड़ों अनाप-शनाप चीजों की जरूरतों से घिर जाने की मजबूरी थी। और घर से बाहर निकलते ही सचमुच इन चीजों से घिर जाने की मजबूरी थी, कि इनके बिना आदमी को आदमी नहीं समझे जाने की मजबूरी थी। अच्छा हो गया जो लोकेश आ गया। गुरूजी उसमें अपना मन लगाने लगे।

''क्यों, ये सीरियल तुमको पसंद है?''

उसने हाँ में मुड़ी हिलाई। मुस्कराकर कहा - ''भगवान वाला है न।''

''क्या रोज देखता है?''

''नहीं, कभी-कभी? जब जगते रहता हूँ न ...तब।''

गुरूजी को पता है इसके घर टीवी नहीं है, फिर कहाँ से रोज देखेगा?

थोड़ी देर बाद गुरूजी ने पूछा, ''तुम लोग कितने भाई बहन हो?''

''आँय!'' उसने शायद सुना नहीं। उसका सारा ध्यान सिर्फ टीवी पर था।

''मैं पूछ रहा हूँ, तुम लोग कितने भाई बहन हो?'' - गुरूजी का स्वर कुछ ऊँचा है।

''पाँच।'' वह अभी भी ध्यान मग्न है।

''तुम बड़े हो?''

''हाँ। बाकी सब झन छोटे हैं।''

''एक झन तो बहुत छोटा है न!'' गुरूजी ने उसके परिवार के प्रति दिलचस्पी जाहिर की।

''हाँ।'' उसने एक पल गुरूजी को देखा, फिर सहज भाव से बताया, ''सर, ये मेरी असली माँ नहीं है। ये मेरी मौसी माँ हैं। मेरी माँ दूसरी है।''

''अरे!'' गुरूजी को इस बात से झटका लगा। अब वे देखने के लिये टीवी देख रहे थे, सोच इसके बारे में रहे थे। तो ये इसकी सौतेली माँ है! शायद इसीलिए ये लड़का इतना काम करते दिखता है। घर वाले तंगाते हैं।

''अच्छा, तो तेरी माँ कहाँ है?''

''वो दूसरे गाँव में रहती है, अर्जुन्दा के पास वाले गाँव में।''

''कब से?''

''वा...अ, बहुत दिन हो गये उसको तो अलग रहते।'' वह एकदम सहज था।

''तू जाता है अपनी माँ के पास?''

''हाँ। कभू-कभू।''

''और तेरे बाबू?''

''वो नहीं जाता।'' उसने बहुत साफ कहा, ''जब हमारे बाबू दूसरा 'बिहा' के लाए न तो माँ अपने घर चली गईं।''

''और तू यहीं रह गया?''

''नहीं, मैं भी वहीं था, अपने नानी के पास।''

''अच्छा, यहाँ कब आया?''

''इसी साल। वो मेरे को ले आया, चल घर का काम-बुता करना और रहना बोलके।''

''वहाँ, तेरी माँ किसके पास है? नानी के पास?''

''नहीं, वो भी एक झन को 'बना' ली है। वहीं रहती है।''

सन्न रह गये गुरूजी! इस छोटे से बालक ने इतनी कम उम्र में क्या-क्या देख लिया है! और सह रहा है। इसका अपना कोई नहीं है। जहाँ दिल खोल के इसे प्रेम मिले, ऐसी कोई जगह नहीं इसके पास। न घर का न घाट का। गुरूजी को इसके माता-पिता पर गुस्सा आया - कैसे विचित्र माँ-बाप हैं! लड़के का क्या होगा - इसका किसी को ध्यान नहीं। गुरूजी ने लोकेश से कुछ और नहीं पूछा। क्योंकि आगे पूछना अपराध होता, बच्चे को मानसिक रूप से चोट पहुँचाना होता। यह जैसा है, उन्हें भूलकर खुश तो है!

लोकेश स्कूल के समय को छोड़ बाकी हर समय काम में लगा दिखाई देता। गुरूजी को याद नहीं कभी इस लड़के को चैन से खेलता देखा हो। घर के काम से लेकर खेत-खार के काम तक। बड़े सबेरे से घर-अंगना की साफ-सफाई, गइया-कोठा का झाड़-बुहार, बोरिंग से काँवर में पानी लाना, खेत में जुताई से लेकर कटाई तक - हर काम करता है लोकेश। जब से घर में सबसे छोटी संतान ने जन्म लिया है, इसकी सौतेली माँ ने घर का सारा काम इसके जिम्मे छोड़ दिया है। चरनू लात तानकर खटिया में सोता रहता है। वह बाहर के जरूरी कामों को संभालता है।

गुरूजी रोज सुबह टहलने निकलते हैं। कई बार मुँह अँधेरे। ठंड इस साल जम के पड़ रही है, सो कनटोप स्वेटर लपेटकर निकलते हैं। उस सुबह खूब घना कोहरा था, दो गज की दूरी पर क्या है, नहीं दिखता था। हर तरफ सफेद धुंध। उस कनकनाती ठंड और कोहरे में वह दिखा था। पहले तो गुरूजी पहचान ही नहीं पाए। बाद में पहचाना। ''अरे .... तू...? कहाँ जा रहा है इतनी सुबह!''

''खेत जा रहा हूँ, सर।'' वह अपनी हमेशा की कोमल मुस्कान मुस्काया। आज भी उसकी देह में सिर्फ फटी-पुरानी कमीज और हाफ पेंट था। उसके हाथ में एक टुकना था। पैर नंगे।

''खेत?'' गुरूजी को आश्चर्य हुआ, इतनी सुबह खेत में क्या काम? गुरूजी किसान

नहीं थे इसलिए उन्हें आश्चर्य हुआ।

''सीला बीनने।''

अच्छा। अब गुरूजी को ध्यान आया, फसलों की कटाई शुरू हो चुकी है। कटाई के बाद भी खेत में धान की बालियाँ, धान झरकर खेत में पड़े रहते हैं, उन्हें उठाने गरीब किसान जाते हैं। खेतों में गिरे पड़े धान का एक-एक दाना चिड़ियों की तरह उठाना होता है।

''किसके खेत में जा रहा है? अपने या दूसरे के?''

''अपने खेत में तो बीन लिया, सर। अब दूसरे के खेतों में जा रहा हूँ।''

''कोई तुझको मना तो नहीं करेगा? कुछ कहेगा तो नहीं कोई?''

''नहीं, कोई कुछ नहीं कहता। सब जाते हैं।''

लोकेश कोहरे में गुम हो गया।

गुरूजी चलते-चलते सोचने लगे, यह नौ-दस बजे तक लौटेगा अपना टुकना भरके। तब तक यह ऐसे ही भूखा सीला बीनता रहेगा। बिल्कुल खाली पेट। सुबह-सुबह कितनी तेज भूख लगती है। गुरूजी के बच्चे कुछ खाने के लिये कितना मचलते, चीखते-चिल्लाते हैं। और यह दस बजे तक बरदाश्त करेगा!.... गुरूजी को झुरझुरी आ गयी।

सारा गाँव जानता है लोकेश का बाप आदमी नहीं जल्लाद है! लोकेश को तंगाते हैं। मारपीट, भूखा रखना अब बहुत साधारण बात हो गई है। चरनू और उसकी घरवाली के गाँव वालों से भी संबंध नहीं। दोनों खूब लड़ने वाले, बात-बात में भाँय-भाँय करने वाले! कोई इनके मुँह नहीं लगना चाहता। लेकिन बच्चे के साथ अति देखकर पास-पड़ोस के चुप नहीं रहते। लेकिन समझाने का भी कोई असर नहीं। उल्टा, जो समझाने जाता है उसी को कहने लगता है, वाह! तुमको इसका दरद है तो तुम ही क्यों नहीं रख लेते! ऐसे ही जब उसने हरि के बाप मोहन से कहा तो वो बोल पड़ा - ''अच्छा! हौ, ठीक है। मैं उसे रख लेता हूँ। चल, आज के आज पंचायती बुला और लइका को मेरे हवाले कर! जहाँ तीन झन हैं वहाँ एक झन और सही! मैं तैयार हूँ।''

लेकिन चरनू इतना गँवार नहीं था जो एक नौकर के बराबर काम करने वाले लड़के को दूसरे के हवाले कर दे। उसने ऐसा कुछ नहीं किया।

थोड़े दिन शांत रहने के बाद वह फिर अपने ढर्रे पर लौट आया।

पास-पड़ोस के बच्चे गुरूजी के घर साँझ को पढ़ने आते हैं। हरि, चंदू, भोला, दीपा, रमेश ...। सब आस-पास के घरों में रहते हैं। यहाँ आकर उनको कई सुविधाएँ एक साथ मिल जाती हैं - गप्प मारना, पढ़ना, टीवी देखना, खेलना। बस, गुरूजी के सामने ज्यादा मस्ती नहीं चलती थी। गुरूजी की बात मानना पड़ती थी। उन्हें गुरूजी से अधिक मास्टरिन बाई का भय होता है। वे इनका हल्ला-गुल्ला या कमरा गंदा कर लेना, कचरा फैलाना आदि से बहुत चिढ़ती हैं। गुरूजी किसी तरह समझा-बुझा के रखते हैं।

अभी लोकेश यहाँ नहीं आता पढ़ने। उसे काम-धाम से फुर्सत कम ही मिलती है। इस साल वह पाँचवी की परीक्षा देगा। और पाँचवीं बोर्ड परीक्षा है। बोर्ड परीक्षा से ये लड़के बहुत घबराते हैं। बहुत से लड़के इसमें फेल हो जाते हैं। इसके बाद भी ये पढ़ाई-लिखाई में कोई ध्यान नहीं देते। गुरूजी देखते हैं, बहुत फर्क है शहर और गाँव के बच्चों में। शहरों में तो बच्चा पेट में आया नहीं कि उसके माँ-बाप उसकी पढ़ाई-लिखाई की चिंता में घुलने लगते हैं, ढाई साल के होते न होते उसे स्कूल का रस्ता दिखा देते हैं और रात-दिन उसके स्टैण्डर्ड, रैंक को लेकर पीछे पड़े रहते हैं। ट्यूशन अलग पढ़ाएंगे। किन्तु यहाँ? यहाँ बच्चे स्कूल के मास्टरों के भरोसे हैं। और बच्चे भी जो स्कूल में पढ़ लिया सो पढ़ लिया, घर में पढ़ाई-लिखाई का कोई वातावरण नहीं। बस बीच-बीच में उसके दाई-ददा गरजते रहेंगे - 'अबे पढ़ो न रे! साले एकदम गदहा है! दिनभर खाली खेलते रहेंगे।' इतना कह लेना अपनी जिम्मेदारी से मुक्त पा लेना है। या नहीं तो स्कूल के मास्टरों को खिसियाने लगेंगे, आजकल के मास्टर लोग बिल्कुल बेकार हैं। कुछ पढ़ाते-लिखाते नहीं। बस बैठे-बैठे अपनी तनख्वाह ले रहे हैं।

अब ये बच्चे आगे चलकर क्या मुकाबला कर पायेंगे शहरी बच्चों का! गुरूजी सोचते हैं, शहरी बच्चे तो इनसे दस गुना ज्यादा चंट हैं! वही आगे रहेंगे हर बात में। ईश्वर जाने इनका क्या होगा!

एक सुबह गुरूजी ने देखा, शीलू - लोकेश की बहन अपने आँगन में गोबर से छेना थाप रही है और चरनू काँवर लेके पानी लाने जा रहा है बोरिंग। उसके घर में यह नहीं दिखाई देने वाला दृश्य था। दृश्य में लोकेश ही सदा दिखता था। आज के दृश्य में लोकेश नहीं था।

गुरूजी का माथा ठनका। पूछा लड़की से - "लोकेश कहाँ है ओ?"

"वो तो रात से ही कहीं चल दिया है।"

"अरे क्यों? कैसे?"

"ददा उसको मारने कुदाए तो वे भाग गया। उसका बस्ता रखाया है।"

गुरूजी को बहुत बुरा लगा। लोकेश भाग गया। एक पढ़ने वाले लड़का भाग गया। नहीं, भगा दिया गया! अब यहाँ रहता भी कैसे! लेकिन भाग के कहाँ गया होगा!

गुरूजी ने देखा, चरनू काँवर में दो गुंडियों में पानी भरकर आ रहा है, तो उसके घर के सामने से हट गए। एक पल को गुरूजी ने चरनू के चेहरे को पढ़ा, वहाँ उसके भाग जाने को लेकर कुछ भी नहीं था। निपट कामकाजी चेहरा था। भावहीन।

दोपहर ढलने के बाद, खा-पी के कुछ आराम करने के बाद अड़ोस-पड़ोस की महिलाएँ, बच्चे अक्सर गुरूजी के घर के आँगन में आ बैठती हैं, बतियाती हैं। आज वे सब लोकेश के बारे में ही चर्चा कर रहीं थीं। कोई चरनू को कासती है कोई उसकी बीबी को और और कोई डोकरी को।

- दुनिया में और बाप होंगे, फिर इसके जैसा कमीना बाप कहीं नहीं होगा। इतना

हरामी!

- उस लड़के को देखोगे तो करलई लगता है। आत्मा कलप जाती है। फिर इन राक्षस को कोई फरक नहीं पड़ता, जिए के मरे!

किसी ने पूछा - कोई खोजने गया है उसको?

- कौन जाएगा? ये तो चाहते हैं लड़का यहाँ से टरे। ये डोकरी भर गई थी भांठा तरफ और लड़कों से पूछ रही थी।

- ये डोकरी रोगही भी कम नइ है! काटनेच के लायक है!

चंदू की डोकरी दाई बता रही है, बहुते तप रहा है ये चरनू! अच्छे-अच्छों को तो मरना आता है फिर इसको नहीं आता। एक बार रात को पानी बरस रहा था धार-धार और इसको इसके माँ-बाप बाहर निकाल दिये थे, जा बाहर में सो। गाय-गरू रात को अंगना में रखा पैरा मत खा ले इसको देखने के लिये निकाल दिए थे। अपने लोग कपाट-बेड़ी लगा के सो गये। अपनी आँख से देखी हूँ, गऊ कसम बहिनी, बिचारा वो लड़का रात भर बरसते पानी में बैठा था। सच में बहुत जल्लाद है।

- जल्लाद नही, सौ जल्लाद हैं!

- मेला-मड़ई होगा न तो ये अपने बच्चों को रुपया देंगे, मगर इस लड़के को एक धेला नहीं देंगे। हमको तो इतना दिन हो गया देखते, आज तक कभी इसके लिये एक ठो कपड़ा लेते नहीं देखे!

- अरे कपड़ा-लत्ता, रुपया-पैसा तो दूर की बात है बहिनि, हम तो इसके बाप के मुँह से बेटा कहते नहीं सुने! जब कहेगा तो साले, हरामी! अब ऐसे घर में कौन रहेगा!

आस-पास के बड़ों को ही  नहीं, छोटे बच्चों को भी लोकेश के दुखों की कहानी मालूम है।

सातवीं पढ़ता हरि बताता है, लोकेश को जब छात्रवृत्ति का पैसा मिलता है, उसका बाप झटक लेता है। यहाँ तक कि लोकेश रोपाई के काम में जाता है, अपना कमाकर लाता है उसको भी झटक लेता है।

तीसरी में पढ़ रही रत्ना बता रही है, एक बार मैं उसके घर गई थी तो उसके घर में मछली रांधे थे। तो अपने वे सब पेट-पेट खा रहे थे और इसको मुड़ी-मुड़ी खाने को दिये थे।

चौथी का छात्र रमेश बताता है, एक बार उसका बाप लोकेश को लकड़ी-लकड़ी से खूब मारा था। इसका हाथ-पैर फूल गया था। तीन-चार दिन स्कूल नहीं जा सका था।

सुनकर तीसरी पढ़ता अनुज गुस्से में आ गया- कहीं मैं उसकी जगह होता तो साले के टोंटा को वहीं के वहीं मसक देता!

ठठाकर हँस पड़ते हैं सब उसकी बात पर।

गुरूजी शाम को स्कूल की छुट्टी के बाद पास के गाँव चले गये थे। उस गाँव का साप्ताहिक बाजार था। साग-भाजी खरीदकर साइकिल से जब लौट रहे थे, देखा लोकेश मैदान

में गाँव के बच्चों के संग खेल रहा है। उन्हें खुशी हुई! अभी दिन ढला नहीं था। मैदान में डूबते दिन की सुनहली आभा बिखरी थी, मैदान का तिनका-तिनका इस सुनहली धूप से सराबोर चमक रहा था। गाँव के खेलते बच्चों के चेहरों पर हँसी की धूप थी, वे खिले हुए थे, खिलखिला रहे थे। गुरूजी ने पाया, आज शाम की धूप खुशी की धूप है। खुशी की धूप सुनहली होती है। यह बहुत दिनों बाद मिलने वाली खुशी की धूप है जिसमें तिनका-तिनका चमकता है। यह सुख है।

लोकेश इसी धूप में खेल रहा था। गुरूजी ने सोचा, बच्चा है। और अच्छा है कि बच्चा है, कल को भूलकर खेल रहा है।

गुरूजी ने लोकेश को अपने घर पढ़ने आने के लिये कहा तो उसने खुश होकर कहा - ''हौ सर! आऊँगा!!

गुरूजी उसके इस प्रकार चिल्लाकर कहने से और खुश हुए।

लोकेश पढ़ने आने लगा।

गुरूजी ने दो दिन बाद उससे पूछा, ''क्यों कहाँ चला गया था दो दिन पहले?''

तब वह पढ़ने में लीन था। इस प्रश्न ने उसको फिर उसकी वास्तविक दुनिया में लौटा दिया। कठोर, नुकीली, पथरीली दुनिया। उसने अपनी विज्ञान पुस्तक से नजर उठाकर बताया, ''ऐसे ही चल दिया था अरमरी गाँव की तरफ।''

''क्यों?''

''देखो न सर, वो साला बहुत मारता है मेरे को बिना मतलब! और दो दिन से मुझको खाना नहीं दे रहा था। ऊपर से मेरे को मारने कुदाया। तब मैं भागा राता को।''

''कहां? गाँव के बाहर?''

नहीं। रात को गाँव में ही था। दाऊ के घर के पास रेती रखा है न, वहीं सो गया। रात भर वहीं सोया रहा। बिहनिया जब चिरई-चुरमुन चिंचियाए तब जागा। और उठ के अरमरी के तरफ चल दिया।''

''तो उधर कहाँ जा रहा था?''

''धमतरी।''

''धमतरी! अरे, वहाँ कौन रहता है तुम्हारा?''

''वहाँ दूर की एक बहन रहती है।''

''अच्छा, कौन से मोहल्ले में?''

''वो, बस्ती के बीच में रहती है कहीं।''

''मगर कौन से मोहल्ले में? कौन से पारा में?''

''नहीं मालूम।''

''अरे पगला, धमतरी कोई गाँव थोड़ी है जो किसी के पूछने से पता चल जाएगा।'' गुरूजी ने समझाया, ''धमतरी तो शहर है। जब तक किसी का पूरा नाम-पता मालूम नहीं होगा,

वहाँ नहीं खोज सकते।''

लोकेश कुछ नहीं बोला। चुपचाप देखता रहा सूनी आँखों से। जैसे उसकी बहन न भी मिलती तो उसको क्या फर्क पड़ जाता।

''अच्छा, तो वापस कैसे आया?'' गुरूजी ने पूछा।

''मैं पैदल जा रहा था'', लोकेश बताने लगा, ''अरमरी में एक पुलिस वाले ने मुझको देख लिया। पूछा, कहाँ जा रहा है? तो मैं बता दिया, घर से भाग के जा रहा हूँ। मेरा बाप और सौतेली माँ मुझको बहुत तंगाते हैं, मारते-पीटते हैं, इसलिए। तो वो बोला, कहीं मत जा। तू घर वापस चला जा। उसी ने मुझको होटल में खाना खिलाया, फिर बस में बिठाया। पुलिस वाले ने बस कंडक्टर को भी समझा दिया था। ऐसे घर वापस आ गया।''

गुरूजी को दुख हुआ कि रात भर यह बालक भूखा-प्यासा खुले में सोया रहा था। और सुबह पैदल चलते-चलते बीस किलोमीटर आगे अरमरी चला गया था। उन्होंने सोचा, पुलिस वाले ने बहुत अच्छा किया। कोई भला आदमी रहा होगा। हालाँकि पुलिस की वर्दी में कोई भला आदमी नहीं दिखता। वर्दी में आदमी कड़क और क्रूर दिखता है। गुरूजी ने सोचा, अगर उस पुलिस वाले की जगह मैं पुलिस वाला हुआ रहता तो लड़के के साथ में आता। अपने डंडे और बूटों को पटक-पटकर इसके माँ-बाप की वो खबर लिया रहता कि दुबारा तंगाना छोड़ देते।

गुरूजी ऐसा सोचते हुए खुद को पुलिस के रूप में देख पा रहे थे कि उनके जिस्म पर पुलिस की कड़कड़ाती वर्दी है, हाथ में डंडा है, पैरों में वजनदार चमकते बूट हैं, और इन सबके होने से चेहरे पर खूब रौब आ गया है, कि उनकी आवाज सख्त हो चली है। और जब एक दिन लोकेश के बाप और माँ को फटकार रहे हैं तो वे दोनों थर-थर काँप रहे हैं - ''हौ मालिक। हौ साहब। आप जैसा कहोगे, वैसा करेंगे। ऐसी गलती दुबारा नहीं होगी साहब।''

इस समय गुरूजी को अफसोस हुआ अपने गुरूजी होने का। पुलिस से सब डरते हैं, गुरूजी से कोई नहीं डरता। गुरूजी माने गऊ, पानी वाला ढोड़िया साँप, जिससे किसी को कोई नुकसान नहीं।

गाँव का कोटवार गुरूजी के घर आता जाता था। कोटवार गाँव में मुनादी करने का काम करता है। गाँव में कोई भी बैठक हो, कोई सूचना प्रसारित करनी हो, वह गली-गली घूमकर मुनादी करता है और अपने आखिरी वाक्य के साथ खूब जोर से और खूब लम्बा 'हो....ओ...!, चिल्लाता है। छोटे बच्चे उसकी रात की मुनादी से डर जाते हैं। गुरूजी के बच्चे भी। कोटवार गाँव का सरकारी आदमी है, जिसे तनख्वाह बहुत कम मिलती है। कोटवार का काम गाँव की सुरक्षा का भी है। उसे नीले रंग की वर्दी मिली हुई है, भाला मिला है और चौरस वजनदार बक्कल वाला बेल्ट मिला है।

वह अधेड़ कोटवार अक्सर चाय पीने के समय में आता है 'जै हिन्द गुरूजी' कहता

हुआ। गुरूजी उसको चाय पिलाते हैं। चाय पीने के बाद वह अपनी जेब से बीड़ी निकालकर पीता है। बीड़ी का कसैला धुआँ गुरूजी को पसंद नहीं, फिर भी उसे पीने देते हैं।

एक शाम चाय पिलाने के बाद गुरूजी ने कोटवार से अपने मन की बात कह दी, ''इस चरनू का कुछ करो कोटवार। लड़के को बहुत तंगाता है। एक बार तो भाग भी चुका है घर से।''

कोटवार ने बीड़ी सुलगा ली थी, ''अरे नहीं मानता गुरूजी, कई बेर समझा के देख लिया।''

गुरूजी बोले, ''नहीं मानता तो थाने में एकाध हाजिरी लगवाओ। थाने के नाम से सुधर जाएगा।''

''आप समझा के देखो न गुरूजी।'' कोटवार ने कहा।

''मेरे समझाने से क्या मानेगा? मैं तो गाँव में नया आदमी हूँ। जब अपने पुराने पड़ोसियों की नहीं मानता तो मेरी कहाँ से मानेगा! फिर वो अनुसूचित जाति का है। मान लो मैं समझाने गया, कहीं मेरे खिलाफ ही उसने विशेष थाने में रिपोर्ट करा दिया तो मैं फँस जाऊँगा। थाना-कचहरी का चक्कर काटते परेशान हो जाऊँगा।''

कोटवार ने धुआँ उगलकर हामी भरी, ये भी बात सही है।

गुरूजी ने फिर उसे समझाया, थाने में तुम्हारी इंस्पेक्टर या हवलदार से जान पहचान तो होगी ही। आते-जाते रहते हो तुम। तो एकाध रोज इंस्पेक्टर साहब को कहो न, साहब आप कुछ मत करना, गाड़ी में जाके उसको धमकाना भर। बस्स। सुधर जाएगा चरनू।

कोटवार ने कहा, हौ देखता हूँ। कहूँगा।

कोटवार चाय पीने बराबर आता रहा। गुरूजी उससे पूछते तो कई तरह का जवाब देता, अभी उधर जाना नहीं हो रहा है, कि अभी साहब लोग खाली नहीं है, कि कल जाऊँगा करके निकला था, सरपंच ने दूसरा काम बता दिया।

गुरूजी ने फिर इस विषय में कहना छोड़ दिया।

लोकेश की परिस्थिति की चर्चा गुरूजी अपने स्टाफ के दूसरे शिक्षकों से भी कर चुके थे। लेकिन यहाँ भी कोई समाधान नहीं निकल पाया। गुरूजी अक्सर लोकेश के बारे में सोचते कि क्या उपाय है। किसको पकड़े! किसको कहें! बिना साख-रसूख के कोई छोटा-सा काम भी नहीं होता! गुरूजी को यहाँ लगने लगता, जैसे लोकेश अपने घर में निरीह और असहाय है, इस तंत्र में वैसे ही खुद निरुपाय और असहाय हैं। अपनी तरफ से कोई किसी की मदद के लिये नहीं आता। कहने पर भी नहीं। इस निरुपायता से वे सिकुड़ने लगते हैं ऐसा महसूस होता। बाहर की भीषण चमक और शोर-शराबे से वे केंचुए की तरह अँधेरे में दुबकने लगे हैं, यह भी अनुभव होता।

इधर लोकेश के घर का किस्सा वही का वही था। उससे गाली-गलौज, मार-पीट का वही सिलसिला। हाँ, कभी-कभी लोकेश भी जवाब देने लगा था।

एक दिन सुबह-सुबह उसकी माँ उस पर चिल्लाने लगी थी, ''एक ठो काम बताओ तो तेरा नखरा चालू हो गया - तबीयत ठीक नई है! तेरे को बस खाने-बोजने को पेट भर मिल जाए, बस। काम के नाम से पोटा काँपता है!''

''तुम कौन-सा काम करती हो, इसको तो बता?'' लोकेश चुप नहीं रह सका।

''देख-देख!'' झार खा गई उसकी माँ, ''नानकुन टुरा है और गज भर की जबान! मुँह लड़ाता है मेरे से! तेरे मुँह में कीड़े पड़े!''

''हमारे मुँह में क्यों पड़ेगा कीड़ा!''

वह और बिफर गई, ''अच्छा, रुक जा! आने दे तेरे बाप को। बताती हूँ उसको तो तेरा सब साहबी घुसड़ जाएगा।'' लोकेश जवाब में भुनभुनाया, क्या करेगा साला।

एक शाम फिर पीटा उसके बाप ने। लोकेश रोते-रोते गाँव से जा रहा था। साथ में खेलने वाले हरि और चंदू ने देखा तो किसी तरह पकड़कर, मनाकर उसको गुरूजी के घर लाए।

लोकेश के बदन पर मैली और फटी कमीज थी, जिसमें एक ही बटन था। छाती उघरा। साँवले चेहरे पर आँसुओं के सूख जाने की लकीरें थीं।

गुरूजी ने पूछा - ''तू शहर जायेगा मेरे साथ?''

''हौ सर।'' उसने एक पल भी नहीं गँवाया यह कहने में।

''ठीक है। वहाँ किसी जान-पहचान वाले के यहाँ काम में लगवा दूँगा। तू वहीं रहना, काम करना और पढ़ना।'' गुरूजी कहने के बाद उसके भविष्य के बारे में तेजी से सोचने लगे थे। यहाँ रहेगा तो कुछ नहीं कर पाएगा। वैसे भी इसका बाप अगले साल इसे दाऊ घर में नौकर लगाऊँगा कहता है। यहाँ से इसका निकलना जरूरी है। शहर में कितने ही लोग मिल जाएँगे जिनके घर में रहकर, काम करके अपनी पढ़ाई भी कर सकता है। उन्हें लगने लगा, बात बन जाएगी। वे शहर के लोकेश को देख रहे थे जिसके कपड़े साफ-सुथरे हैं, सलीका है जिसके पास।

गुरूजी ने पूछा, ''देख तेरा बाप कहीं खोजेगा तो नहीं?''

लोकेश बोला, ''रात भर इसी गाँव में पड़ा था तब खोजने नहीं गया तो वहाँ कहाँ जाएगा।''

गुरूजी ने देखा, लोकेश को कोई हिचक नहीं है। वे समझ गए, लड़के का मन पक्का है। उसके भीतर यहाँ के नरक के प्रति नफरत है। और बाहर चाहे कितनी भी तकलीफ उठाना पड़े, वह तैयार है।

''ठीक है!'' गुरूजी ने निर्णय के अंदाज में कहा, ''पाँचवीं की परीक्षा यहाँ दिला ले। अगले ही महीने परीक्षा है। परीक्षा के होते ही तुम्हारा टी.सी. निकलवा के शहर में भरती करा दूँगा। वहीं रह के पढ़ना। कहीं जाना मत। अब तेरा बाप तेरे को कितना भी सताए, भागना

मत। परीक्षा के होते तक किसी भी तरह यहाँ रहना। परीक्षा होते ही तुमको शहर भेज दूँगा।''

''हौ सर।'' लोकेश तैयार था।

गुरूजी उसके भविष्य के लिये सोचते थे। तमाम बातें।

लेकिन इसकी उन्हें ज्यादा जरूरत नहीं पड़ी। कुछ ही दिनों बाद वह घर से गायब हो गया। चला गया। पता नहीं कहाँ।

और इस बार लौट के नहीं आया लोकेश।

गुरूजी कई दिनों तक उसका रास्ता देखते रहे।

# कविताएँ

दिनकर कुमार

## माजुली

ब्रह्मपुत्र का पानी बढ़ता है
द्वीप का बदन घायल होता है
किनारे से
घाव दिखाई नहीं देते
बहता हुआ लहू
दिखाई नहीं देता
पर्यटन के नक्शे पर
एक आकर्षक लकीर नजर आती है

रात होती है
द्वीप में झिलमिलाती रोशनी
किनारे के दर्शकों की आँखों में
प्रतिबिंबित होती है
नामघर में जारी रहता है
भक्तों का कीर्तन

बालूचर में बारूद
दफनाया जाता है
बंजर जमीन में लाशें
दफनाई जाती हैं
मांझी पत्थर बन जाते हैं
लाश का भारीपन
नाव सहन नहीं कर पाती
आधी रात में लोग नींद से
जाग जाते हैं
किसी की चीख सन्नाटे को चीरती हुई
इस किनारे से
उस किनारे तक पहुँच जाती है

सपने में दिखते हैं
शंकरदेव
जो अपने आँसू से धोते हैं
लहू में नहाए लोगों को

*माजुली : ब्रह्मपुत्र के बीच स्थित विश्व का सबसे बड़ा नदी द्वीप (असम में)*

## भूपेन हजारिका

बेचैन मांझी की पुकार सुनता हूँ
नदियों-सागरों-महासागरों को
लांघकर
आती हुई दर्द भरी पुकार

वैशाख की रातों में चुपके से
पलते हैं कुछ मीठे सपने
कांसवन जैसा अशांत मन
वोल्गा से गंगा तक
मेघना से ब्रह्मपुत्र तक

दौड़ाता रहता है यायावर को

वह जो आदमी के भविष्य का
गीत है
वह जो अल्पसंख्यकों को सुरक्षा
का वादा है
वह जो पूस की रात में ठिठुरते
किसी गरीब की चीख है
वह जो प्रेम में
न पाने की टीस है
मेरे हृदय में
प्राचीन लोकगीत की तरह
वह स्वर धड़कता है
जीवन की रेल में तीसरे दर्जे के
मुसाफिरों के आँसू शब्द में
परिवर्तित होते हैं
प्यार के दो मीठे बोल की तलाश में
एक पूरी उम्र बीत जाती है

बेचैन मांझी की पुकार सुनता हूँ
समाज परिवर्तन के लिए
संगीत एक हथियार है
कहीं बुदबुदाते हैं पाल राबसन –
'वी आर इन द सेम बोट ब्रदर!
वी आर इन द सेम बोट ब्रदर!!
वी आर दन द सेम बोट ब्रदर!!!

# तीन कविताएँ

पवन करण

## अस्पताल के बाहर टेलीफोन

कितना ठीक रहा जो यहाँ यह टेलीफोन लग गया
अस्पताल के ठीक नीचे वरना, इससे पहले
एक टेलीफोन करने के लिये भागना पड़ता
अस्पताल परिसर के बाहर कितनी दूर
और जब तक टेलीफोन करके लौटते पता चलता
मरीज की तबीयत और बिगड़ चुकी है

अस्पताल की दीवारों पर मुर्दा होकर लटके
टेलीफोन के डिब्बों में कई-कई सिक्के गँवा चुके
नये-पुराने कई लोग विभाग द्वारा खोले गये बूथ के
इस टेलीफोन के बारे में यही सब कहते हैं
और विभाग के ड्यूटी बाजाता मैं एक बाबू चुपचाप
इस टेलीफोन के बारे में जिसके आगे
भीड़ ही लगी रहती है सुनता हूँ लोगों की कही

खैर बातचीत तो इससे हो ही जाती है लेकिन बातचीत के अलावा भी
कुछ ऐसा है जो होता है इस टेलीफोन के माध्यम से
जैसे उस धूप में पिघलते दिन को ही लो
मरीज का वह रिश्तेदार लगभग सुबकते हुए
टेलीफोन पर किसी को बतलाए जा रहा था
यहाँ पराये शहर में कौन जानता है मुझे
रुपये पैसे भी नहीं बचे अब उतने मेरे पास
डॉक्टर कहते हैं सख्त जरूरत है खून की जल्दी, तुरत, अभी,
तभी वह बच पायेगी बताओ मैं क्या करूँ कहाँ मरूँ जाकर
खून के लिये किसके आगे फैलाऊँ अपने हाथ,
टेलीफोन करने के लिये लाइन में लगे
उसकी बातें सुनते, खीजते, जल्दी मचाते लोगों में से
तभी एक मनुष्य आया निकलकर और उससे बोला
आपको रक्त की जरूरत है न घबराइये मत
मैं और मेरा मित्र आपको रक्त देने के लिये
इसी वक्त तैयार हैं, टेलीफोन रखिये, चलिये
मन हुआ कि इस टेलीफोन को उठाकर अपने सिर पर रखूँ
और इसके नाम की जिंदाबाद के नारे लगाता हुआ
पूरे अस्पताल का एक चक्कर लगाऊँ
एक रोज तो ऐसा हुआ कि मैं इसे मान गया
कस्बे में अपने बच्चों को पड़ोसियों के भरोसे छोड़कर
अपने पति के साथ इलाज करवाने आयी वह स्त्री
बीस रोज बाद बमुश्किल अस्पताल से आयी बाहर
और अपने बच्चों से टेलीफोन पर करते हुए बात
फूट-फूटकर ऐसी रोयी, ऐसी रोयी
कि मुझसे बैठा नहीं गया उसके सामने
मैं भी परदे के पीछे बिलखने लगा जाकर
मुझे लगा जैसे मैं भी उस स्त्री के बच्चों में से एक हूँ
और वह मुझसे ही टेलीफोन पर कर रही है बातचीत
वाह रे टेलीफोन उस रोज हतप्रभ सा
मैं तो देखता ही रह गया इसकी तरफ
एक बार तो ऐसी घटना हुयी जिसे मैं नहीं भुला सकूँगा जीवन भर
हॉस्पीटल से निकल कर एक ग्रामीण वृद्ध

बैठ गया टेलीफोन के सामने आकर
कहने लगा मेरा बेटा खत्म हो गया है
वो देखो सामने उसकी लाश रखी है
मेरे गाँव में जल्दी से टेलीफोन कर दो
वहाँ से लोग आ जायेंगे ले जायेंगे हमें
मैंने डरते-डरते उससे टेलीफोन नंबर पूछा तो उसने
मुझे अपने गाँव का नाम बता दिया
मैंने उससे पूछा क्या गाँव में टेलीफोन है
उसने कहा मुझे नहीं पता आप तो बस फोन कर दो
मैंने उसे समझाने की बहुत कोशिश की
कि गाँव के नाम से टेलीफोन नहीं लगता
लेकिन वह मेरे आगे देर तक एक ऐसे गाँव का
नाम लेकर गिड़गिड़ाता रहा जिसका नाम ही
मैंने जिंदगी में पहली बार सुना था

और उस लड़के के बारे में मैं आपको जरूर बताना चाहूँगा
जिसे इस परिसर में सब जानते हैं
जो अक्सर भीख माँगता देता है दिखाई
बहुत दिन हुए जो कहीं आया नहीं नजर
जो इलाज कराने आयी अपनी माँ के साथ आया था
और माँ की मौत के बाद पागल होकर
यहीं का हो गया रहकर उसे जब भी भीख में
एक रुपये का सिक्का मिलता
वह सीधे टेलीफोन बूथ चला आता
और अम्मा कितनी बीमार है कहकर अपने पापा को
फोन लगाने की जिद करता
वह दिन में कई-कई बार कागज पर
उल्टा सीधा नंबर लिख कर लाता
और फोन लगाने के लिये रिरियाता रहता
लोगों ने बताया कि उसका बाप उसकी माँ को
अस्पताल में भर्ती करा कर भाग गया
और छोड़ गया माँ के पास उसे भी

अस्पताल के ठीक नीचे लगे इस टेलीफोन ने
मरीजों के सहयोगियों के साथ-साथ
जादू सा कर दिया है मुझ पर भी
घर वाले कहते है क्या रखा है वहाँ उस अस्पताल में
कोई और अच्छी सीट ढूँढो अपने लिये
वहाँ कुछ मिलता-जुलता भी नहीं
लेकिन मैं उनकी बातों पर ध्यान नहीं देता मैं अब यहीं रहना चाहता हूँ
चाहता हूँ अब यहीं से हो मेरा रिटायरमेंट
वैसे भी अब दिन ही कितने बचे हैं नौकरी के
और चाहता हूँ आशीर्वादों से नवाजे जाते
इस टेलीफोन में कभी कोई खराबी न आये
कभी गायब न हो इससे डायल टोन
पता नहीं कब, कौन दुखियारा इसके सामने
सुबकता हुआ खड़ा हो जाये आकर।

## गेहूँ

फसल कटने के कोई डेढ़ माह बाद
बोरियों में भरकर गेहूँ आया घर
हर साल का बंधा हुआ किसान है
पिता ने इस बार भी बोल दिया उसे ही
उसने एक सुबह अपनी ट्रॉली
लाकर खड़ी कर दी घर के दरवाजे पर

सुबह का समय था पूरा मोहल्ला
अपनी-अपनी तरह से देखने लगा गेहूँओं का उतरना
बगल वाले तो अपने घर से निकलकर आये
और अपनी हथेलियों पर गेहूँ रखकर टटोलते हुए बोले
गेहूँ तो अच्छे लग रहे हैं क्या भाव लिये

एक घर में पत्नी ने पति को टोका
क्यों अपने घर गेहूँ कब आयेंगे

क्या उनका भाव बढ़ जायेगा तब
अभी सस्ते चल रहे हैं, ले क्यों नहीं लेते
घर में भी एक दो कनस्तर ही बचे हैं

एक और घर के मालिक ने गेहूँ उतरते देख
अपने किरायेदार से कहा
हमारे पास तो पिछली साल के ही रखे हैं
हमें इस बार नहीं लेना पड़ेगें
हमारा काम तो उन्हीं से चल जायेगा

एक ने गेहूँ उतरते देख अपने बेटे से कहा
चल चल क्या देख रहा है पानी भर
गेहूँ उतर रहे हैं न
पिछले दिनों जब अपने यहाँ उतरे थे तब नहीं देखे थे क्या

और एक घर इस बार भी रह गया मन मसोसकर
उसे याद नहीं कि पिछली बार कब
उसके यहाँ पूरा एक बोरी गेहूँ उतरे
वह आज उसी स्थिति में है
जैसे कुछ साल पहले एक साथ
एक बोरी गेहूँ खरीद पाने में असमर्थ हमारा घर

साल भर के लिए भले ही गेहूँ हमारे यहाँ उतरे
लेकिन उसके दाने देखते देखते
मौहल्ले के घर-घर में बिखर गये।

## दूल्हे के दोस्त

घेर ली है उन्होंने बस के भीतर
अपनी-अपनी पसंद की सीटें

पहले ही उनके बीच तय हो चुका है
वे नहीं सुनेंगे किसी की

दूल्हा तो खैर उनसे कहेगा क्या
नहीं मानेंगे वे उसके पिता की भी
रास्ते भर शोर मचाते, नाचते, हँसते गाते
उड़ाते हुए सबकी हँसी करेंगे यात्रा
काँच के गिलास पानी की कैन
और 'इंतजाम' रख लिया है उन्होंने पहले ही
बस के शुरू होते ही हो जायेंगे वे भी शुरू
ऐसे में बारातियों को छोड़कर उनसे कोई भिड़ गया
तो समझो खैर नहीं उसकी
ऐसा मानना है उनका

वे पहुँचते ही लड़की वाले के घर
जनवासे में घेर लेंगे सबसे अच्छा कमरा
भले ही वह दूल्हे के लिये हो तय
कमरे में घुसकर भीतर से लगा लेंगे कुंडी
अब कोई कितना ही खटखटा ले
करता फिरे किसी और कमरे का इंतजाम

पॉलिस वाले के सामने लगा देंगे
वे अपने अपने धूल भरे जूतों के ढेर
इस्त्री की छाती पर कर देंगे
अपने-अपने कपड़ों को सवार

वे लापरवाही से होते हुए बारात के लिये तैयार
करेंगे जल्दी-जल्दी आधा अधूरा नाश्ता

बैंड की पहली ही धुन पर जो शुरू करेंगे वे थिरकना
तो सीधे लड़की वाले के दरवाजे पर ही रुकेंगे जाकर
'मुझे दुनिया वालों शराबी न समझो' गीत पर
देखने लायक होगा उनका डांस
भांगड़ा और नागिन डांस पर तो वे
जगह-जगह कर देंगे ट्रेफिक जाम .

स्टेज पर वे दूल्हे से बैठ जायेंगे चिपककर
हाथ में बरमाला लिये दुल्हन के आने से पहले
तो एक-दो दोस्त दुल्हन की कुर्सी पर ही जा बैठेंगे
बरमाला शुरू होने से पहले ही वे दुल्हन को
शुरु कर देंगे भाभीजी, भाभीजी कहना
वे दुल्हन की सहेलियों को आँखें फाड़-फाड़ कर
इस तरह देखेंगे जैसे चाँद पहुँचकर चीन की दीवार
वे उनकी सुंदरता पर लगातार कसेंगे छींटे

जनवासे में वे रात भर करेंगे ऊधम
वे खुद तो सोयेंगे ही नहीं
दूसरों को भी नहीं देंगे सोने
वे खेंलेगे ताश और आपस में ही
हार जायेंगे कुछ रुपये
वे गहरी नींद में सोते सबसे बुजुर्ग बाराती की
चादर ले जायेंगे खींचकर

दुल्हन की विदा के समय उनमें से भी
कुछ की आँखें हो जायेंगी नम
वे दुल्हन की सहेलियों को रोता देख उनसे कहेंगे
अरे भई इसमें रोने की क्या बात है
आप हम लोगों के साथ चलिये

अपनी शरारतें दोहराते हुए बस में
दूल्हे के दोस्त लौटेंगे घर

मित्रों, भले ही बिखर गया हो सोवियत संघ
किरच किरच हो गये हों स्वप्न
घर-घर में घुस आया हो बाजार
नग्नता नोंच-नोंच कर खा रही हो शर्म
और कम्प्यूटर खदेड़ते जा रहे हों हाथों को,
दुनिया कितनी भी गयी हो बदल,
इस बीच जो चीजें नहीं बदलीं उनमें.दूल्हे के दोस्त भी हैं।

# कविताएँ
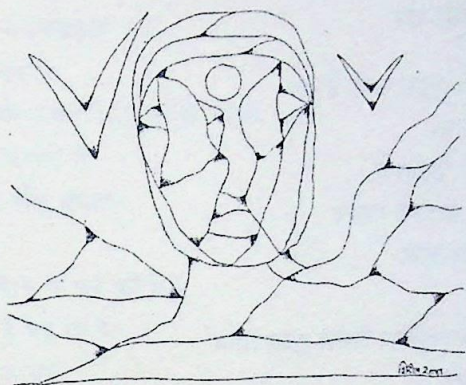
शिवशंकर मिश्र

जड़ों से
पेड़ टूटता नहीं
उखड़ता है

उखड़ आती है
ढेर सारी मिट्टी
जड़ों के साथ

धरती में
एक गढ़ा बनाती
जैसे कोई कब्र
खुलकर नंगी हो गयी हो

और सालों पहले दफ्न
कोई मुर्दा
पेड़ की शक्ल में
अपनी ही परछाईं की सीध में

लेट गया हो
धरती पर

## अपार्टमेंट में एक घर

ठीक-ठाक पहुँच जाता है वह
लिखे पते पर
सामने जो देखता है
उठती ही जाती है गरदन
ऊपर, और ऊपर

उस की कनपट्टी पर गिरता हुआ साया
उसे लाँघकर
दूर चला जाता है
जहाँ उस का रंग वही होता है
जो धूप का होता है
और जहाँ
सारे आकार मिलकर एक हो जाते हैं

एक के बाद एक छत
छत के ऊपर छत
ऊपर-ऊपर छत
सब से ऊपर

जहाँ कोई आता-जाता नहीं
बोलता-बतियाता नहीं
खाता-खेलता नहीं
न सुबह कभी आवाज देती है
न शाम ही कभी मिलने आती है

न लड़के-लड़कियाँ
न औरतें न उन के मर्द
न वह प्यासी थकान

न पानी की वह मिठास
न ओस न बतास

न मिलना न बिछड़ना
न रूठना-मनाना
न कोई नयी कसम न पुराना ही जखम
न गहराते सन्नाटे में
छपछपाती कोई धड़कन

यह छत किस के घर की है?
किस का है यह घर?
कैसा है यह घर?
न कौआ न कूकर?

वापस जब पहुँचा था गाँव
पाँव के नीचे तभी फिर जमीन मिली
आँख
देख सकी फिर बराबर

## कौन जाने

कौन जाने
दौड़ती-भागती चिनगारियाँ
दाखिल हो जाएँ कब
घरों में

फुँक जाए शहर कब
देखते-देखते
जाने किस बात पर

रात की खोपड़ी में
झनझना उठें

दरवाजे और खिड़कियाँ
एक-एक धमाके पर

कुत्तों को सूँघ जाए
साँप
कब
कोओं पर बर्फ पड़ जाए

एकदम
दिल खड़खड़ा जाए
देह थरथरा जाए
फोन बजे जैसे ही
भरी दोपहर में

दिन अब चुनाव के
दूर नहीं भाई

आलेख
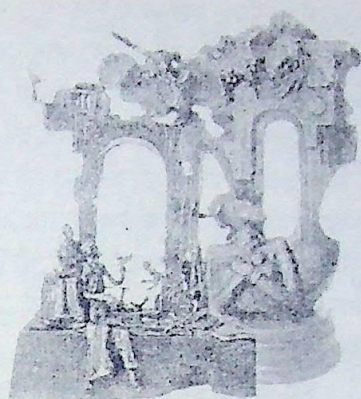
# भूमंडलीकरण का वर्तमान स्वरूप और उसका वैचारिक आधार

गिरीश मिश्र

भूमंडलीकरण कोई नई अवधारणा नहीं है। न ही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अकस्मात् आ धमकी है। हाँ, वह कब आरंभ हुई, इसको लेकर काफी विवाद चल रहा है।

कुछ लोगों का मानना है कि किसी न किसी रूप में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया मानव इतिहास के आरंभ से ही चल रही है और वह समय के साथ त्वरित होती गई है। उदाहरण के लिए प्रतिष्ठित फार ईस्टर्न इकॉनामिक रिव्यू के पूर्व संपादक नयन चन्दा के अनुसार बोरोबुदूर मंदिर का निर्माण भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के 840 ई. में होने का प्रमाण है। सुदूर भारत से लाकर बौद्ध धर्म के प्रवर्तक की शिक्षाओं को हजारों जावा वासी कलाकारों और मजदूरों ने मंदिर की दीवारों पर उकेरा।

विद्वानों के दूसरे समूह का मानना है कि भूमंडलीकरण पूंजीवाद के साथ जुड़ा रहा है। इस दृष्टि से उसका आधुनिकीकरण से गहरा रिश्ता रहा है। इसके विपरीत ऐसे भी लोग हैं जो मानते हैं कि भूमंडलीकरण उत्तर-औद्योगीकरण और उत्तर आधुनिकता का ही एक हिस्सा है और इस प्रकार वह एक नई घटना है।

अगर हम जरा गहराई में जाकर देखें तो पाएँगे कि उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों के बीच कोई बुनियादी अंतर नहीं है। सतही तौर पर फर्क भूमंडलीकरण के एक या दूसरे पहलू को अपेक्षाकृत उजागर करने से नजर आता है। वस्तुतः भूमंडलीकरण की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में हमेशा ही रही है। हाँ, वर्तमान भूमंडलीकरण की प्रक्रिया पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों के दौरान अंकुरित होने लगी थी। यहाँ हम इसमें विस्तार से नहीं जाएँगे कि भूमंडलीकरण की यह

प्रक्रिया अपनी पूर्ववर्ती प्रक्रिया से कैसे भिन्न थी। हम यहाँ रेखांकित करना चाहेंगे कि 15वीं-16 वीं शताब्दी से आरंभ हुई प्रक्रिया आधुनिकीकरण और पूंजीवाद से जुड़ी रही है। इसलिए चारित्रिक दृष्टि से वह अपनी पूर्ववर्ती प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न रही है।

सिकन्दर महान से लेकर चंगेज खाँ और नेपालियन ने भूमंडलीकरण की दिशा में प्रयास किए। इनमें से प्रत्येक की कोशिश रही कि समस्त विश्व को एक ही सर्वोच्च शासक के अधीन लाया जाय तथा उसी के देश की राजधानी सभी निर्णयों का केंद्र हो। ध्यान देने की बात है कि सिकन्दर से चंगेज खाँ तक किसी ने भी विजित क्षेत्र की उत्पादन-पद्धति को नहीं बदला। नेपोलियन की स्थिति भिन्न रही, उसने सामंती उत्पादन-पद्धति को खत्म कर पूंजीवाद के विकास का रास्ता साफ करने की कोशिश की।

मोटे तौर पर इन विजेताओं का उद्देश्य पराजित क्षेत्रों की संपदा को लूटना था। उनके जमाने में संपदा को पूंजी में रूपान्तरित करना संभव नहीं था यानी लूट की दौलत से श्रम शक्ति, कच्चे माल और श्रम के औजार जुटाकर बाजार में बेचकर मुनाफा कमाने के उद्देश्य से पण्य वस्तुओं का उत्पादन करना संभव नहीं था। इसलिए लूटी गई दौलत को उपभोग पर खर्च किया जाता, इमारतों और स्मारकों का निर्माण कर अपनी शोहरत फैलाने की कोशिश होती थी या उसे तहखाने में रख दिया जाता था।

पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति के उदय के साथ स्थिति में आमूल परिवर्तन हो गया। फलतः युद्ध के स्वरूप और उद्देश्य में भारी बदलाव आया। हम आसानी से अठारहवीं शताब्दी के मध्य के पहले भारत पर आक्रमण करने वालों तथा ईस्ट इंडिया कंपनी की लूटखसोट के बीच गुणात्मक अंतर देख सकते हैं। नादिर शाह जैसा हमलावर अपनी लूट को पूँजी में नहीं बदल सका जबकि ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके कर्मचारियों ने उसे काफी हद तक पूँजी के रूप में बदल दिया।

उन्नीसवीं सदी के मध्य से पूंजीवाद एक विश्वव्यापी व्यवस्था बन गया और संसार के सब देश अपनी घरेलू उत्पादन-पद्धतियों में अंतर के बावजूद विश्व पूंजीवाद से कमो-बेश जुड़ गए। इसके पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंध मुख्यतया विश्व व्यापार या देशों के बीच मालों के परस्पर विनिमय के रूप में देखे जा सकते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूंजी-निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की एक मुख्य विशेषता बन गया यद्यपि विश्व व्यापार के परिमाण में भी तेजी से वृद्धि हुई। पूँजी-निर्यातक देशों की जरूरतों के अनुकूल औपनिवेशीकरण के स्वरूप में बदलाव लाया गया।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभ तक काफी त्वरित रही। मालों, पूंजी और लोगों का अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह लगातार बढ़ता गया। इसके पीछे मुख्य कारण थेः मुक्त व्यापार के सिद्धांत के बढ़ते प्रभाव के परिणामस्वरूप व्यापारिक अवरोधों का खात्मा ओर रेल मार्गों के निर्माण तथा वाष्पचालित जहाजों के आने से परिवहन लागत में कमी। किंतु 1914 और 1991 के बीच भूमंडलीकरण की प्रक्रिया धीमी हो

गई। दो विश्व युद्धों, बोल्शेविक क्रांति, सोवियत खेमे के उदय, उपनिवेशवाद की समाप्ति और भारत जैसे अनेक नवस्वतंत्र देशों द्वारा अपने बाजार और संसाधनों को अपने स्वतंत्र आर्थिक विकास के लिए आरक्षित करने तथा शीतयुद्ध में तेजी आने से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया बाधित हुई। इस दौरान व्यापारिक अवरोध और पूंजी-प्रवाह पर नियंत्रण फिर लगा दिए गए। 1930 के दशक की महामंदी का इस दिशा में काफी योगदान रहा।

1970 के दशक से ही कतिपय ऐसे परिवर्तन हुए जिन्होंने भूमंडलीकरण के स्वरूप और दिशा में भारी बदलाव ला दिया। ब्रेटन उड्स प्रणाली का अवसान हो गया क्योंकि अमरीका अपनी मुद्रा डालर का मूल्य स्थिर बनाए रखने के वादे से हट गया। न केवल डालर बल्कि अन्य परिर्वतनीय मुद्राओं को अपनी परस्पर विनिमय-दर बाजार की शक्तियों द्वारा निर्धारित होने के लिए छोड़ दिया गया। इसके साथ ही भूमंडलीय पूँजी बाजार का जन्म हुआ। विश्व व्यापार संगठन (और उसकी पूर्ववर्ती संस्था गाट) जैस संगठनों ने उसके लिए न सिर्फ एक ढाँचा दिया बल्कि उसके संचालन के लिए कायदे-कानून बनाए। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई क्रांति ने वस्तुओं और पूँजी के प्रवाह को तेज करने में भारी भूमिका अदा की। संचार की लागत में अभूतपूर्व गिरावट से इस प्रक्रिया को काफी बल मिला।

दूसरी ओर 1989-90 में सोवियत संघ और समाजवादी खेमे के अवसान के बाद दुनिया में अमरीका ही एकमात्र महाशक्ति रह गया। गुट निरपेक्ष आन्दोलन और आत्मनिर्भर स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के निर्माण की बात पीछे चली गई। पूँजी, बाजार, प्रौद्योगिकी आदि के लिए नवस्वतंत्र देशों की अमरीका, उसके सहयोगी देशों और उसके द्वारा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित संगठनों पर निर्भरता बढ़ गई। वही उनका मार्गदर्शक बन गया। कहना न होगा कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया त्वरित ही नहीं हुई बल्कि उसका स्वरूप भी बदल गया।

अब आइए, देखें कि भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में उसका वैचारिक आधार क्या है।

### (2)

भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर के वैचारिक आधार को वाशिंगटन आमराय (जिसे कई लोग ''नव उदारवाद'' या ''बाजार रूढ़िवाद'' के नाम से भी पुकारते हैं) के रूप में जाना जाता है। इस पद (term) का सृजन जॉन विलियम्सन ने 1990 में किया था। इससे नीतियों के उस न्यूनतम समूह को इंगित किया गया जो वाशिंगटन-स्थित संस्थाएँ 1989 में लैटिन अमरीकी देशों को अपनाने के लिए कह चुकी थीं। वाशिंगटन आम राय अमरीकी सरकार (अमरीकी ट्रेजरी, फेडरल रिजर्व और वाणिज्य विभाग) और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और इंटर-अमरीकन डेवलपमेंट बैंक (बाद में गाट और उसके स्थान पर बने विश्व व्यापार संगठन) के समान दृष्टिकोण का सूचक थी। यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इस आम राय से लैटिन अमरीकी और बाद में तीसरी दुनिया के देशों से कोई लेना-देना था जिन पर वह लादी गई।

नोबेल पुरुस्कार से सम्मानित अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिग्लिट्ज (Joseph Stigliz) के शब्दों में "यह आम राय वाशिंगटन की 15वीं और 19वीं सड़क के बीच बनी थी।" जैसा कि हम जानते हैं, 15वीं सड़क पर अमरीकी ट्रेजरी विभाग और 19वीं सड़क पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी संस्थाएँ स्थित हैं।

तीसरी दुनिया के जिन देशों के लिए वाशिंगटन आम राय प्रतिपादित की गई उनकी न परिस्थितियों का ध्यान रखा गया और न उनकी भागीदारी आमराय बनाते समय जरूरी समझी गई। वाशिंगटन आम राय राज्य की सक्रिय भूमिका को अस्वीकार करती है। उसका मानना है कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य कम से कम दखल दे। उसकी धारणा है कि राज्य संरक्षणवाद, सबसीडी और अपने स्वामित्व में उद्यमों को स्थापित कर अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव डालता है। राज्य को आर्थिक उदारता, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के निजीकरण और समष्टिगत स्थिरता (मैक्रोस्टेबिलिटी) को बढ़ावा देना चाहिए।

वाशिंगटन आम राय में दस बातें हैं :

1. राजकोषीय अनुशासन : बजटीय घाटे को सीमित रखने के लिए कठोर कदम, 2. सार्वजनिक व्यय संबंधी प्राथमिकताओं में परिवर्तन : सबसीडी में कटौती और गरीबी निवारण के कार्यक्रमों की लगभग समाप्ति, 3. कर संबंधी सुधार : कराधान के आधार का विस्तार और कर की सीमांत दर में कमी, 4. वित्तीय उदारीकरण : ब्याज की दरों का बाजार द्वारा निर्धारण, 5. विनिमय दर: इसका निर्धारण ऐसे हो कि गैर परम्परागत निर्यात बढ़े, 6. व्यापार का उदारीकरण : कोटा समाप्त हो और दस वर्षों में सीमा शुल्क को कम कर 10 प्रतिशत के आसपास किया जाय, 7. विदेशी प्रत्यक्ष निवेश : उसके प्रवेश में कोई बाधा न हो तथा देशी निवेश के साथ पूरी समानता दी जाय, 8. निजीकरण : राजकीय उपक्रमों का निजीकरण हो, 9. विनियमनों को हटाना : नई देशी-विदेशी फर्मों के प्रवेश पर रोक या किसी तरह का प्रतिबंध न हो, और 10. संपत्ति संबंधी अधिकार : संपत्ति संबंधी अधिकारों को प्राप्त करने, इस्तेमाल में लाने और हस्तान्तरण में कोई रुकावट न हो।

इस आम राय को कई लोगों ने "एलपीजी" यानी उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के अंतर्गत रखा है।

## (3)

वाशिंगटन आम राय से जुड़े आर्थिक कार्यक्रम के लैटिन अमरीकी देशों द्वारा अंगीकार किए जाने के पीछे अनेक कारण थे : राज्य द्वारा निर्देशित उनकी अर्थव्यवस्थाएँ 1980 के दशक में काफी बुरी स्थिति में पहुँच गई थीं, कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्थाएँ भी सफल नहीं हो पा रही थीं, वाशिंगटन आम राय को अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं तथा अमरीकी सरकार

का पुरजोर समर्थन था और लैटिन अमरीकी नेताओं का ख्याल था कि निजी विदेशी पूँजी को भरपूर मात्रा में आकर्षित करने का आधार मिल गया है।

वाशिंगटन आम राय के जनक जॉन विलियम्सन ने दस साल बाद 2000 ई. में रेखांकित किया कि द्रुत आर्थिक विकास की कुंजी न तो देश के प्राकृतिक संसाधनों में निहित है और न ही प्राकृतिक या मानवीय पूँजी के परिमाण और गुणवत्ता में। वस्तुतः उसके लिए आर्थिक नीतियों का एक सही सेट या समूह चाहिए। यद्यपि वाशिंगटन आम राय के जरिए जिन नीतियों को प्रस्तुत किया गया वे लैटिन अमरीकी संदर्भ में थे फिर भी उन्हें स्थान और काल से निरपेक्ष मानकर कहीं भी लागू किया जा सकता था।

जैसा कि हम शुरू में ही कह चुके हैं, वाशिंगटन आम राय को बाजार रूढ़िवाद या नव उदारवाद भी कहा जाता है। इसको समझने के लिए हमें थोड़ा इतिहास में जाना पड़ेगा। बाजार अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद के साथ दबदबे वाली स्थिति में आया। उसके वैचारिक पिता एडम स्मिथ ने अपनी प्रमुख पुस्तक वेल्थ ऑफ नेशन्स में लिखा कि राज्य को अपने कार्य तीन क्षेत्रों, यथा बाहरी दुश्मनों से सुरक्षा, आंतरिक कानून और व्यवस्था बनाए रखने और सड़क, नहर, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं आदि प्रदान करने, तक सीमित रखना चाहिए जिनका उपभोग सब करते हैं मगर कोई भी एक व्यक्ति या समूह उन्हें पूर्णतया प्रदान नहीं कर सकता। सिर्फ इन्हीं तीन कार्यों को पूरा करने के लिए अपेक्षित राजस्व जुटाने के उद्देश्य से कर लगाने चाहिए। उसे अपने तीसरे कार्य की परिधि से बाहर जाकर न तो अर्थव्यवस्था को विनियमित करना चाहिए और न ही उसमें हस्तक्षेप करना चाहिए। उसे वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन तो कतई नहीं करना चाहिए। वस्तुतः बाजार की शक्तियाँ उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग से जुड़े प्रश्नों और समस्याओं के संतोषपद्र हल में सक्षम हैं। व्यक्तियों के आत्महित और बाजार की अदृश्य सत्ता अर्थव्यवस्था को सही रास्ते पर ले जाने में पूरी तरह सक्षम हैं।

एडम स्मिथ के अनुसार अगर बाजार तंत्र को बेरोकटोक अपना काम करने दिया जाय तो बिना कोई गड़बड़ी या उतार-चढ़ाव के अर्थव्यवस्था चलती रहेगी। इसलिए गरीब के हित, मजदूर के अधिकारों की रक्षा या सामाजिक न्याय के नाम पर अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करने से राज्य को बचना चाहिए।

कार्ल मार्क्स ने उन्नीसवीं सदी में एडम स्मिथ की प्रस्थापनाओं को गलत बतलाया और अपने विश्लेषण के आधार पर सिद्ध कर दिया कि पूँजीवाद एक अराजक उत्पादन प्रणाली है इसलिए अर्थव्यवस्था उसके चौखटे में संकटविहीन होकर सुचारु रूप से आगे नहीं बढ़ सकती। किंतु फिर भी एडम स्मिथ द्वारा लाई गई रूढ़िवादिता चलती रही।

उसको सबसे बड़ा धक्का 1929-33 की महामंदी के दौरान लगा। केंस ने उसमें अंतर्निहित तार्किक विसंगतियों को उजागर कर दिया। फलतः उनके द्वारा प्रस्तुत विकल्प-केंसवाद-प्रबल हो गया। उसने रेखांकित किया कि राज्य की सक्रिय भूमिका के बिना पूँजीवादी

अर्थव्यवस्था संकटमुक्त होकर आगे नहीं बढ़ सकती। इसलिए 1930 के दशक और फिर द्वितीय विश्वयद्ध के बाद कई दशकों तक पश्चिमी देशों में केंसवाद का ही बोलबाला रहा। उस समय वहाँ कोई व्यक्ति केंसवादी, सोशल डेमोक्रेट, सोशल-क्रिश्चियन डेमोक्रेट या किसी न किसी किस्म का मार्क्सवादी हो सकता था परंतु आपको शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति मिलता जो कहे कि राज्य को अपनी भूमिका न्यूनतम कर सारे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक निर्णय बाजार की शक्तियों पर छोड़ देने चाहिए। उदाहरण के लिए बालश्रम का प्रश्न बाजार की शक्तियों यानी माँग और पूर्ति पर छोड़ देना चाहिए। यह वही समय था जब कार्ल पोलान्यी ने कहा था : ''मानव प्राणियों और उनके प्राकृतिक पर्यावरण की किस्मत का एकमात्र निर्देशक बाजार के तंत्र को बना देने तथा क्रयशक्ति की मात्रा और इस्तेमाल का निर्धारण उसके ऊपर छोड़ देने का मतलब होगा समाज को ध्वस्त करना।''

अब प्रश्न उठता है कि नवउदारवाद जो इतने वर्षों तक एक कोने में दुबका हुआ था वह कैसे न सिर्फ रंगमंच पर धूम धड़ाके से आ गया, बल्कि आज दुनिया का एक प्रबल सिद्धान्त या मतवाद बन गया है। यह कैसे संभव हो सका है कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन और अमरीकी सरकार के विभिन्न आर्थिक विभाग विकासशील देशों को नवउदारवाद या वाशिंगटन आम राय के आधार पर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत करने के लिए मजबूर कर रहे हैं। साथ ही यह भी देखना होगा कि राज्य की स्थिति और उसके कल्याणकारी क्रियाकलापों का क्षय क्यों होता जा रहा है।

## (4)

सुप्रसिद्ध फ्रांसिसी चिंतक सुजन जार्ज ने इन सब प्रश्नों के तर्कपूर्ण उत्तर अपने प्रकाशित भाषण ''ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ न्यू लिबरलिज्म : ट्वेंटी इयर्स ऑफ एलिट इकॉनामिक्स एंड एमर्जिंग ऑपरचुनिटीज़ फॉर स्ट्रक्चरल चेंज'' में दिए हैं। उनके ही शब्दों में ''नवउदारवाद और उससे जुड़ी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं पर्यावरण संबंधी महाविपदाओं की विजय की कैफियत यह है कि नवउदारवादियों ने उनके लिए कीमत चुकाई है .... प्रगतिशील लोगों के विपरीत उन्होंने समझा है कि विचारों के परिणाम होते हैं।'' किसी जमाने में शिकागो विश्वविद्यालय में फ्रेडरिक फॉन हायक और मिल्टन फ्रिडमैन जैसे उनके शिष्यों के इर्द गिर्द नवउदारवादियों का एक छोटा सा समूह इकट्ठा हुआ, किंतु आज इन नवउदारवादियों ने अपने वित्त पोषकों की सहायता से सारी दुनिया में संस्थानों, प्रतिष्ठानों, शोध केंद्रों, प्रकाशनों, जनसंपर्क, लेखकों, पत्रकारों आदि का जाल बिछा दिया है जो उनके विचारों और सिद्धांतों को आकर्षक रूप में स्थानीय एवं राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में प्रसारित करते हैं। वे अंतोनियो ग्राम्सी के ''कल्चरल हेजीमोनी'' (सांस्कृतिक प्राधान्य) की अवधारणा का मतलब भली भाँति समझते हैं। अगर आप लोगों के दिमाग पर काबिज हो जाएँ तो दिल और हाथ आपका अनुसरण करने लगेंगे।

कुछ समय से यह प्रचारित किया जा रहा है कि नवउदारवाद मानव जाति की स्वाभाविक और सामान्य अवस्था है और वही मानव विकास की एकमात्र संभव दिशा है। समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं के धाराशायी होने और सोवियत संघ के विघटन को नवउदारवाद की चिरंतता के प्रमाण के रूप में पेश किया जाता है।

1980 के दशक के अंतिम वर्षों के दौरान सोवियत संघ के विघटन के बाद वाशिंगटन आम राय या नवउदारवाद को वैचारिक शून्यता को भरने के लिए प्रस्तुत किया गया। याद रहे कि 1950 के दशक से 1980 के दशक तक सोवियत खेमे के अस्तित्व ने पश्चिमी देशों के विकासशील विश्व के प्रति अमैत्रीपूर्ण व्यवहार को नियंत्रित ही नहीं किया बल्कि बेहतर शर्तों पर आर्थिक सहायता और व्यापार की सुविधाएँ देने के लिए भी मजबूर किया। सोवियत आर्थिक संवृद्धि मॉडल ने विकासशील विश्व को प्रोत्साहित किया और अपने पिछड़ेपन को दूर करने के लिए आत्मनिर्भर स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के निर्माण की ओर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों ने व्यापार और आर्थिक एवं प्रौद्योगिक सहयोग के द्वारा उसकी मदद की। जैसा कि हम कह चुके हैं, राजकीय औद्योगिक क्षेत्र और नियोजन समाजवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण ही पनपे।

सन 1989 के बाद अधिकतर विकासशील देशों के सामने पश्चिम, विशेषकर अमरीका, की ओर रुख करने के सिवाय कोई चारा नहीं रहा। वे अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष एवं विश्वबैंक से पथप्रदर्शन और सहायता की आस लगा बैठे।

सगीर अमीन के अनुसार द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद तीन दशकों तक पूँजीवादी जगत्, समाजवादी देशों और विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक संवृद्धि और निवेश की दरें काफी ऊँची रहीं क्योंकि बाजार विनिमयमित थे। पूँजी और श्रमजीवी वर्गों के बीच संतुलन रहा। फासीवाद पर जनतंत्र और उपनिवेशवाद पर एशिया और अफ्रीका के जनगण की विजय ने पूँजी को श्रमजीवी लोगों के प्रति नरम रुख अपनाने के लिए मजबूर कर दिया था। पूँजी अपना येन केन प्रकारेण अधिकतम मुनाफा का निरंकुशवाद लादने में अक्षम थी।

किंतु 1980 के दशक के समाप्त होते-होते ऐसी घटनाएँ हुई कि शक्ति संतुलन पूँजी के पक्ष में हो गया। रीगन और थैचर के उदय ने इसकी दुंदभि बजाने का काम किया। विकासशील देशों में ऐसी सरकारें आई जिन्होंने गुट निरपेक्ष आन्दोलन को दफना दिया।

इस घटनाक्रम के अनुसार पूँजीवाद का पुराना सपना कि सारे विश्व को बाजार के रूप में देखा और संचालित किया जाय फिर साकार होता दिखने लगा। यही कारण था कि वाशिंगटन आम राय को बड़े धूम धड़ाके से प्रतिष्ठित किया गया।

विकासशील देशों और पूर्वी यूरोप के भूतपूर्व समाजवादी राष्ट्रों के मन में यह बात बिठाई गई कि घरेलू बचत बढ़ाने के लिए सख्ती करने की कोई जरूरत नहीं है। वाशिंगटन आम राय को मानने के साथ ही विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की बाढ़ सी आ जाएगी। टनों डालर आएँगे। विदेशी पूँजी विकासशील देशों को स्वर्ग बना देगी।

## (5)

इस प्रकार एक छोटे से अलोकप्रिय संप्रदाय की विचारधारा से नवउदारवाद एक शक्तिशाली मतवाद बन गया। वह विकासशील देशों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक चिंतन का मार्गदर्शक बन गया। नवउदारवाद का प्रभाव 1979 से बढ़ने लगा जब मारग्रेट थैचर सत्ता में आईं। उन्होंने कहा कि नवउदारवाद राजकीय हस्तक्षेप और विनियमन के बदले प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देगा। इससे न ही राज्य का और न ही इजारेदारों का दबदबा बढ़ेगा। प्रतिस्पर्धा के जरिए संसाधनों का युक्तियुक्त आवंटन विभिन्न क्षेत्रों और वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन के बीच हो पाएगा जिससे कार्यकुशलता और उत्पादन में अधिकतम संभव वृद्धि हो पाएगी।

किंतु व्यवहार में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। भारत को ही लें। अधिकतर देशी-विदेशी निवेश दक्षिण और पश्चिम भारत के राज्यों में जा रहा है जिससे क्षेत्रीय असंतुलन बढ़ रहा है। इससे देश की अखंडता और एकता को खतरा पैदा हो सकता है।

फिर, बहुराष्ट्रीय निगम अधिग्रहण एवं विलयन के जरिए बाजार और वस्तु या सेवा विशेष के उत्पादन पर एकाधिकार कायम करने में लगे हैं। सुजन जॉर्ज के अध्ययन के अनुसार विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का 66 से 75 प्रतिशत अधिग्रहण और विलयन की दिशा में उन्मुख है। परिणामस्वरूप उससे रोजगार के नए जरिए पैदा होने के बदले रोजगार के उपलब्ध अवसर कम हो रहे हैं।

नवउदारवादी आर्थिक विकास का मार्ग अपनाने से समाज के अंदर और देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच असमानता बढ़ रही है। इतना ही नहीं, बढ़ती विषमता को महिमामंडित किया जा रहा है। थैचर ने कभी स्पष्ट शब्दों में कहा था कि हमें विषमता के कारण शर्म नहीं बल्कि गर्व महसूस करना चाहिए क्योंकि इसके कारण, ''सब धान बाईस पसेरी'' के बदले प्रतिभा और योग्यताओं को कोटिक्रम से मान्यता दी जाती है। विकास की प्रक्रिया में समाज के जो लोग और देश के जो क्षेत्र पिछड़ रहे हैं उनकी किस्मत पर रोना या फिर उन्हें ऊपर लाने के लिए विशेष प्रयत्न करना निरर्थक है। जब थैचर शासन में आईं तब केवल 10 प्रतिशत ब्रिटिश जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे थी परंतु जब 1990 के दशक का अवसान हुआ तब यह बढ़कर 25 प्रतिशत हो गया।

निजीकरण वाशिंगटन आम राय का एक अभिन्न अंग है। निजीकरण या विनिवेश के कई परिणाम होते हैं। पहला, राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप और निजी क्षेत्र को विनियमित करने की क्षमता काफी कम हो जाती है। दूसरा, राज्य अकुशल एवं घाटा करने वाली इकाइयों के भार से मुक्त हो जाता है। तीसरा, विनिवेश के जरिए राज्य को वित्तीय संसाधन प्राप्त होते हैं, जिससे बजटीय घाटा कम किया जा सकता है। चौथा, ट्रेड यूनियनों की ताकत घट जाती है। अंत में, रोजगार के अवसर भारी संख्या में कम हो जाते हैं।

कहना न होगा कि निजीकरण के परिणामस्वरूप पूँजी की ताकत और निरंकुशता में भारी वृद्धि होती है और आम जनता, विशेषकर श्रमजीवी लोगों की स्थिति कमजोर हो जाती है। वे राज्य के सामने भी कोई गुहार नहीं लगा सकते क्योंकि राज्य स्वयं नपुंसक हो जाता है। ऐसी स्थिति में अगर आतंकवाद, धार्मिक कट्टरता और अपराध पनपें तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जब युवक-युवतियों को अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार अर्थव्यवस्था में योगदान करने और जीविकोपार्जन करने का अवसर नहीं दिया जाएगा तो वे क्या करेंगे? अभी हाल में वर्षों से प्रकाशित ब्रिटिश प्रवासी पाकिस्तानी चिंतक तारिक अली ने अपनी पुस्तक 'द क्लैश ऑफ फंडामेंटलिज्म्स : क्रुसेड्स, जिहाद एंड मौडर्निटी' में नवउदारवाद के अपनाए जाने से संप्रदायवाद और धार्मिक उन्माद के बढ़ने की बात को रेखांकित किया है।

किसी जमाने में अल्फ्रेड मार्शल ने कहा थाः ''संक्षिप्त शब्द आमतौर से घटिया अर्थशास्त्र को जन्म देते हैं।'' यह बात नवउदारवादी वाशिंगटन आम राय के लिए बिल्कुल सही बैठती है। 1990 के दशक के प्रारंभ में हमारे देश में वाशिंगटन आम राय को स्वीकार कर उसका कार्यान्वयन शुरू हुआ तब से रोजगार के अवसर घटे हैं, बेरोजगार युवक-युवतियों की संख्या बढ़ी है, तमाम दावों के बावजूद आर्थिक संवृद्धि की दर घटी है। माफिया पूँजीवाद का दबदबा बढ़ा है। क्षेत्रीय विषमता और सामाजिक असमानता में बढ़ोत्तरी हुई है। मंडल आयोग की सिफारिशें निरर्थक हो गई हैं। गरीबी निवारण के कार्यक्रम ठंडे बस्ते में चले गए हैं। छोटे और घरेलू उद्योग बन्द हो रहे हैं। अनेकानेक भारतीय स्वामित्व वाली औद्योगिक इकाइयों में ताला लग चुका है। भ्रष्टाचार हावी होता जा रहा है। शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ आम आदमी की पहुँच के बाहर जा रही हैं। परंपरागत शिक्षा अर्थकारी नहीं रही है और नए कौशल देने वाली शिक्षा निम्न मध्यमवर्गीय परिवार के बच्चों के बूते से बाहर है।

अनेक शोधकर्त्ताओं ने यह तथ्य उजागर किया है कि जो व्यक्ति या वर्ग सामाजिक सीढ़ी पर जितना ही ऊँचा है वाशिंगटन आम राय या नव उदारवाद से उतना ही अधिक फायदा होता है। कभी निक्सन के सलाहकार रहे केविन फिलिप्स ने अपनी पुस्तक 'द पॉलिटिक्स ऑफ रिच एंड पुअर' में अमरीकी संदर्भ में इसे आँकड़ों द्वारा दिखलाया है।

लंदन स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स के प्रो. रॉबर्ट हंटर वेड ने दिसंबर 2001 में प्रकाशित अपने शोध पत्र '' द राइजिंग इनिक्वालिटी ऑफ वर्ल्ड इंकम डिस्ट्रिब्यूशन'' में भी यही बात कही है। उन्होंने लिखा है : '' परिणामस्वरूप बेरोजगार और क्रुद्ध युवा लोगों (जिनमें अधिकतर पुरुष हैं) का एक बड़ा समूह बन गया है, जिन्हें नई सूचना प्रौद्योगिकी ने ऐसे साधन उपलब्ध करा दिए हैं जिनसे वे समृद्ध भूभाग में स्थित देशों की सामाजिक स्थिरता के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं। इन देशों में आर्थिक संवृद्धि बहुधा प्राकृतिक पूँजी में कमी लाती है और इसलिए भावी संवृद्धि क्षमता को घटाती है। अधिकाधिक लोग समृद्ध भूभाग में प्रवास को अपनी मुक्ति का एकमात्र मार्ग समझते हैं, और उनमें से थोड़े से लोग शक्तिशाली राष्ट्रों के प्रतीकात्मक केंद्रों को निशाना बनाने वाले मुक्तिदायी आतंकवाद से प्रेरित होते हैं।''

वेड ने वाशिंगटन आम राय यानी नवउदारवाद को ठुकराने की वकालत की है । उन्होंने उसकी आधारभूत मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाए हैं और उसके भयावह परिणामों की ओर ध्यान दिलाया है।

नोबेल पुरस्कार से सम्मानित अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिग्लिट्ज इस धारणा को नहीं मानते कि वाशिंगटन आम राय या नवउदारवादी रणनीति ही अर्थिक विकास का एकमात्र रास्ता है। उन्होंने चीन का उदाहरण देकर बतलाया है कि उसने वाशिंगटन आम राय को अपनाए बिना ही तेज गति से प्रगति की है। उसने निजीकरण और उदारीकरण को ग्रहण नहीं किया है। इसी प्रकार पूर्वी एशिया की आर्थिक संवृद्धि नवउदारवादी रणनीति अपनाए बिना ही हुई है।

उन्होंने पूँजी बाजार के उदारीकरण के बारे में कहा है कि इससे द्रुत आर्थिक संवृद्धि हो या न हो विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था अस्थिरता का शिकार जरूर हो जाएगी। इसलिए पूँजी प्रवाह पर सदा ध्यान रखते हुए उसे नियंत्रित करना चाहिए। जिस प्रकार बाँध के अभाव में बाढ़ का पानी मौत और विनाश लाता है उसी प्रकार विदेशी पूँजी का प्रवाह नियंत्रणविहीन होने पर अर्थव्यवस्था को बहा ले जाएगा। इसलिए जैसे बाँध के जरिए बाढ़ को रोकने के साथ ही पानी का लाभदायी इस्तेमाल किया जाता है उसी प्रकार विदेशी पूँजी निवेश को नियंत्रित ढंग से उत्पादक कार्यों में निर्देशित किया जाय और उस पर हमेशा नजर रखी जाए।

इस तरह वाशिंगटन आम राय द्वारा विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को बेरोकटोक आने देने की बात तर्कहीन और खतरनाक है।

वाशिंगटन आम राय श्रम के लचीलेपन और श्रम की गतिशीलता पर जो देती है। उसके अनुसार कंपनियों को मजदूरों की भर्ती और उनको निकालने की पूरी छूट होनी चाहिए। वे अपनी मर्जी के अनुसार काम की शर्तों और स्थितियों को सरकार की ओर से बिना किसी रुकावट बदल सकें। कहना न होगा कि यहाँ श्रम को उत्पादन के अन्य कारकों के समान मान कर चला जा रहा है। एक मजदूर और मशीन के एक पुर्जे में कोई फर्क नहीं किया जा रहा। यह मान्यता है कि बाजार कुशलतापूर्वक काम करेगा और मजदूरों के हितों की रक्षा करेगा। किंतु लैटिन अमरीका के देशों के अनुभव इस दावे के विपरीत हैं।

कहना न होगा कि वाशिंगटन आम राय मजदूरों को अब तक प्राप्त कानूनी संरक्षण और सुरक्षा से वंचित कर उनके अनेक दशकों के संघर्ष और बलिदान की उपलब्धियों को नकारना चाहती है। अनेक तिकड़मों से उनकी मजदूरी को घटाने की कोशिश की जा रही है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक इन मजदूर विरोधी कदमों को अपनी सहायता की शर्तों में रखकर विकासशील देशों पर थोपने में लगे हैं। इतना ही नहीं, सेवा निवृत्ति के लाभ मजदूरों को न मिलें इसलिए दैनिक या ठेके पर उन्हें रखा जा रहा है। स्थायी मजदूरों की संख्या घटाई जा रही है। सरकारी विभागों और सेवाओं में कटौती कर मजदूरों की संख्या कम की जा रही है। साथ ही भविष्य निधि और पेंशन स्कीम में परिवर्तन कर कर्मचारियों को सेवा निवृत्ति के बाद मिलने वाले फायदों को कम या समाप्त किया जा रहा है। शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं, मार्गों, हवाई

अड्डों, डाक सेवाओं आदि का निजीकरण भी हो रहा है। परिणामस्वरूप अब सरकार रोजगार का महत्वपूर्ण स्त्रोत नहीं रहेगी।

## (6)

एक विख्यात विद्वान् दानी रोड्रिक ने वाशिंगटन आम राय की सबसे बड़ी कमी उसकी यह मान्यता बतलाई है कि एक ही नुस्खा सब देशों पर उनकी परिस्थितियों पर ध्यान दिए बिना लागू किया जा रहा है।

हम भूमंडलीकरण के विरुद्ध नहीं हैं। हमारा विरोध भूमंडलीकरण के वर्तमान स्वरूप से है। भूमंडलीकरण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बाजार के विनियमित विस्तार के रूप में हो। समीर अमीन से मल्टीनेशनल मोनिटर के अप्रैल 2000 के अंक में प्रकाशित अपने साक्षात्कार और माइकल हार्ट और अंतोनियो नेग्री ने हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित अपनी पुस्तक एंपायर में अपनी अवधारणा के भूमंडलीकरण की रूप रेखा प्रस्तुत की है। वे नवउदारवादी भूमंडलीकरण के विपरीत जनतांत्रिक भूमंडलीकरण चाहते हैं।

# यहाँ कोई नहीं जानता समुद्र का ठिकाना

डॉ. रश्मिरेखा

हिमाचल प्रदेश के कवियों में अनूप सेठी एक ऐसे कवि है, जिनमें प्रकृति के बाहर निकलकर मानवीय यथार्थ की एक नई काव्यात्मक भंगिमा मिलती है। एक ओर छूट गया पहाड़ी लोक जीवन है, तो दूसरी ओर आपाधापी से भरा महानगरीय माहौल - इन दोनों की कशमकश के बीच ही इनकी कविता जन्म लेती है। जगत में मेला अनूप सेठी का पहला और ताजा संग्रह है जो आधार प्रकाशन से 2002 में छपकर आया है। इसमें 83 से 2001 के बीच लिखी 63 छोटी-बड़ी कविताएँ हैं। यह समय राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक तीनों ही दृष्टियों से उथल-पुथल और संक्रमण का काल है। राजनैतिक दृष्टि से जहाँ अस्थिर सरकार, साम्प्रदायिकता के उभार और राजनीति के अपराधीकरण का है, तो विदेशों में समाजवादी ताकतों के टूटने और भूमण्डलीकरण के नाम पर अमरीकी प्रभुत्व के वर्चस्व का है। सामाजिक दृष्टि से संचार माध्यम के जरिए अपसंस्कृति के फैलाव और पुराने मूल्यों के जड़ों से टूटने का है। साहित्यिक दृष्टि से एक ओर जड़ों की ओर लौटने और बचाने की चिंता है तो दूसरी ओर सभी चीजों के अंत की घोषणा। इस नजरिए से हम देखते है कि हमारा समय इस संग्रह की कविताओं की अंतर्वस्तु में कवि की संवेदना और चीजों को देखने की नजर के हिसाब से सीमाओं के साथ अपनी जगह बनाती है। इस संग्रह में बड़ी संख्या में ऐसी कविताएँ हैं, जो गाँव और शहर के अलगाव से दूर जिन्दगी की जद्दोजहद में शामिल लोगों की खबर देती है। इस संग्रह में 'धौलाधार' और 'पहाड़ पर धूप' जैसी कविताएँ तो हैं ही, हिमाचल प्रदेश से एक रिपोर्ट जैसी कविताएँ भी हैं। स्मृति की झील में पहाड़, आसमान, चीड़ के पेड़ और पहाड़ी अंचल तैरते

तो है लेकिन इनमें रमणीय दृश्यों की खोज करने वालों को नाउम्मीदी ही हाथ लगेगी। अनूप सेठी 'ज्वालाजी', 'चामुण्डा माता' और 'धर्मशाला में चुरान का फूल' जैसी एक नई भंगिमा पेश करते हैं। किन्तु उनकी कविता का मिजाज यथार्थवादी है, इसमें कल्पना की उड़ान कम है, भाषा गद्य के दृश्यों के विवरण की तरह आती है। पहाड़ी संवेदना की वजह से महानगरीय तनावों और दिक्कतों को वे दूसरे की तुलना में अधिक गहराई और उसके कंट्रास्ट में महसूस कर पाते हैं। तभी तो वे सांस्कृतिक केन्द्र की कैंटीन में काम करते पहाड़ी बालक की उस संवेदना से रु-ब-रु हो पाते हैं - जो औरों के लिए मुमकिन नहीं है। पत्तागोभी का कचर कचर छल्लों के पहाड़ में बदलते देखना, बालक के लिए जादू है। गिलास उठाने, धोने और चाय ले के जाने के पहले वह एक और गेंद का पहाड़ बनते देख लेना चाहता है। यहाँ गेंद उसके उस बचपन को इशारा करती है, जो उससे छीन लिया गया है और पहाड़ उसके उस घर-परिवार की बात करता है, जहाँ से उसे विस्थापित होना पड़ा है। आगे कवि बताता है वही बालक सांस्कृतिक केन्द्र में अपने पहाड़ की गान मंडली देख किस तरह सुध-बुध खो बैठता है। उसके वर्तमान के अंधकार में ''जगर-मगर परीलोक'' जगमगाने लगता है। जाने कहाँ से इतनी स्फूर्ति, उत्साह और उमंग आ जाती है कि ''चेहरे पर विजयी मुस्कान'' के साथ गजब फूर्ती में धुल गए गिलास / और नहीं टूटा एक भी पहली बार'' - यहाँ पर 'एक भी पहली बार' पंक्ति कविता में अलग से ध्यान से खींचने वाली है। और फिर उसके बाद का दृश्य - ''रोज-रोज के रतजगे के बाद थकी हुई सुबह है / पहाड़ी बालक के पहाड़ से आई / गान मंडली का सामान बँध चुका है / बालक भाग-भाग कर नाश्ता दे चुका है / टैक्सी ला चुका है .... इक हूक उठे जा रही है जैसे जब माँ चली जाती थी।'' भावनाओं के ''उपले सुलग रहे हैं'' उसकी रोजमर्रा की जिन्दगी की आपाधापी और उसके मन को बेचैन करते हुए।

अपनी जड़ों से, अपनी जमीन से कट जाने का दर्द, विस्थापित हो महानगर में अजनबी बन जीने की मजबूरी। इस चक्कर में आदमी न तो महानगर का बन पाता है और न अपने अंचल का रह पाता है। पर ये तनाव, असुविधाएँ और अनुभव कवि को रचनात्मक ऊर्जा देते रहते हैं। पहाड़ी कस्बा जिसे कवि छोड़ना नहीं चाहता था, पर जीविका की तलाश में वह छूट चुका है, पर वहाँ की आत्मीय बातें, लोकरंग और स्मृतियों की गिरफ्त से वह चाहकर भी छूट नहीं पाता और दूसरी ओर महानगर की संस्कृति, जिसे वशीरबद्र के शब्दों में कहें तो - ''कोई हाथ भी न मिलायेगा तो गले मिलोगे तपाक से / ये नये मिजाज का शहर है, जरा फासले से मिला करो।'' वाली मतलबी महानगर की संस्कृति जिसमें घुलमिल न पाने के बावजूद रहने की बेबसी और तनाव इस संग्रह की कई कविताओं में उभर कर आया है। ''धौलाधार'' एक ऐसी ही कविता है - अपनी जड़ों के प्रति गहरी रागात्मक संवेदना से भरी हुई। महानगर की आपाधापी, रोजमर्रा की कशमकश से भी जिन्दगी जहाँ - ''दो-दो मिनट में लोगों का रेला आता है / दनदनाता / धकियाता / छूता आसपास / गुजर जाता है''। (चर्चगेट का प्लेटफार्म)। वहाँ समुद्र का ठिकाना और आकाश का पता भला कोई कैसे जान सकता है।

यहाँ की जिन्दगी में इसकी कोई जगह नहीं है। पर धौलाधार कवि की शिराओं में रक्त की तरह प्रवाहित है। उसे भूलना अपने वजूद से इंकार करना है। वह इस कदर उसके जज्बातों का हिस्सा है कि कभी सोच भी नहीं सकता कि उसे वह अपने कस्बे में छोड़ आया है। कवि कहता है उसके और धौलाधार के बीच आज भले सैकड़ों मील का फासला हो पर ''फिर भी हम घूमेंगे, सागर, तट पर साथ-साथ।'' एक प्रवासी के दर्द को उसकी सुदूर जड़ों से जुड़ी संवेदनाएँ ही मलहम लगाती हैं, सहलाती हैं। महानगर जिसे कवि आदमखोर जंगल की संज्ञा देता है, वह आदमी को आदमी नहीं रहने देता है, उसकी सारी आदमीयता का शिकार कर आदमी को एक मशीनी पुर्जा में बदल देता है। यही वजह है कि महानगर में रहने के बावजूद कवि जानता है कि वह इस महानगर की जंगली और मतलबी संस्कृति से कभी दोस्ती नहीं कर पायेगा लाख कोशिश और चाहने के बाद भी।

अनूप सेठी की कविताओं की अपनी सरहदें हैं, पर इनकी कविताओं की सबसे खास बात है चुपचाप खामोशी से गुजर जाने वाली छोटी-छोटी चीजें, ब्योरे, घटनायें और बातें, जो दृश्यों के जरिए कविता में अपनी जगह बनाती हैं। कवि अपनी तरफ से लंबी टिप्पणी या प्रतिक्रिया प्रायः व्यक्त नहीं करता और न अपने ज्ञान-विज्ञान तथा सूचनाओं के जखीरे ही खोलने की कोशिश करता है, जो अधिकांश समकालीन कविता की प्रवृत्ति बनती जा रही है। इनकी अधिकतर कविताएँ सम्बोधनात्मक और बातचीत की बुनावट में लिखी गई हैं जिसमें शिकायतें हैं, उलाहने हैं। कथाओं में जिस तरह जीता जागता मानव संसार अपनी तमाम हलचलों और दृश्यों के साथ आते हैं, उसी तरह अनूप सेठी की कविताओं में वह परिवेश अनेक कोणों से देखे गए दृश्यों का बारीक और यथार्थवादी अवलोकन के साथ आते हैं। ''विजय कुमार'' ने ब्लर्ब में कहा भी है ''स्थानीयता और समय अनूप सेठी की कविताओं में विशेष चरित्रों की तरह उभरते हैं और आपस में गुंथकर अनुभव के नए आर्गेनिक रूपों को बनाते हैं।'' कवि दृश्यों का अंतर्विरोध और विरोधाभासों के बीच उकेर कर नए अर्थ भरने की कोशिश करता है। व्यंग्य का इस्तेमाल वे संदर्भों को अनेक अर्थ देने के लिए करते हैं। इस तरह उनकी कविता दृश्यों और विवरणों की भाषा में बातचीत करती नजर आती है। 'मनीआर्डर' एक इसी तरह की कविता है। इसमें कवि अपनी तरफ से कुछ नहीं कहता, बस एक के बाद एक कुछ दृश्य खींचता है और कविता स्थिति खुद ब खुद मुमकिन होने लगती है। जीविका की तलाश में परदेस गए मजदूर और उसके परिवार को जोड़ने वाली चीजें मनीआर्डर ही तो है। कवि कहता है ''मनीआर्डर पर है आखर मुड़े-तुड़े / डाकखाने में जमा करायें जो नोट / वे और भी मुड़े तुड़े / जोड़-तोड़ कर लिखा नाम पता / जोड़ जोड़ कर भेजे नोट / पसीने में भींगे नोट गए डाकखाने के गल्ले में / बच रहा पसीना मनीआर्डर फार्म ने सोखा / जिन हाथों में पहुँचेगी मनीआर्डर फार्म की पर्ची दस दिन बाद / उनके पसीने में घुलमिल जायेंगे / पर्ची में रचा हुआ पसीना / नाम पते के जुड़े तुड़े आखर बोलेगें कम / घर भर में चहक मरेंगे नोट कुछ ज्यादा।''

मुड़े-तुड़े, जोड़-जोड़ कर, पसीने में भींगे नोट, पसीने में इस पसीने का मिल जाना - शब्दों में लम्बी कहानी को अपने भीतर समेटे है। ये पंक्तियाँ एक मेहनतकश परिवार की पूरी मुकम्मल तस्वीर हमारे सामने खड़ा कर देती है। उनके तमाम संघर्षों और मुसीबतों से मुलाकात कराती हुई एक मार्मिक संवेदना से भर देती है।

उपभोक्ता और बाजार संस्कृति किस तरह सब्ज बाग दिखाकर आदमी और उसके जीने के मायने को अपने कहने में कर रही है और किस तरह मनुष्य की भीतरी दुनिया और मानवीय धरातल को बदल रही है - की छानबीन कई कविताओं में की गई है। ''गाँव की हट्टी में लोकगीत'' में बताया गया है कि किस तरह वहाँ पहाड़ी लोकगीतों के धमाकेदार कैसेट बज रहे हैं। उसमें वह आत्मीयता और संवेदना कहाँ जो लोगों की रोजमर्रा की दिनचर्या में हिस्सेदारी कर सके। इस कविता में कवि बताता है कि किस तरह बाजार कस्बों की लोक संस्कृति तक में अपसंस्कृति अपनी जगह बना रही है। महत्वाकांक्षा और सपनों के मकड़जाल किस तरह आदमी को अपना घर छोड़कर बाहर रहने पर मजबूर करते हैं। आखिरकार उसे हासिल क्या होता है? एक मृगतृष्णा की तलाश में अपनी पहचान, छोटी-छोटी खुशियाँ, परिचित माहौल, अपना वजूद सब खो जाता है। पंख, नए फैशन के मकान में लोग, 'भूमण्डलीकरण', 'कमरे की लोरी' इसी तरह की कविता है। एक कविता दर्जिन पर भी है। इसकी अंतिम पंक्तियाँ हैं - ''दस मुहल्लों की चार पुश्तों का / छींटदार पैबंदों वाला ऐसा चुन्नरदार बखन करेगी / ठगे रह जायेंगे आप।'' जिसे पढ़कर अरुण कमल की केवल अपनी धार की दर्जिन कविता की याद ताजा हो जाती है। दर्जिन के अलावा एक कविता 'कपड़े' पर भी है। कपास, किसान, बुनकर, दर्जी और धोबी की मदद से दुनिया भर की दरिंदगी कौशल से ढकी जाती है। कवि व्यंग्य करता है शायद यही वजह है कि कपड़े पारदर्शी हो गए हैं।

अनूपसेठी की कविताओं में कथ्य के बरअक्स विषय में विविधता और नयापन है। इस संग्रह में कई कविताएँ ऐसी हैं, जो अपने कथ्य को सही तरह से संप्रेशित नहीं कर पाती हैं, कई कविताओं में अस्पष्टता या शुद्ध कविता की तरह बातें हैं तो कुछ को फिर से लिखे जाने की जरूरत थी। 'बड़े भाई के नाम खत' कविता में पुराने पड़ गए स्कूटर की खराबियों के बहाने बढ़ती उम्र की बदलती संवेदना, शारीरिक मुश्किलों की चर्चा बहुत खूबसूरती से की गई है। इसी तरह 'अलविदा टेपरिर्काडर' अच्छी कविता है। परिवार का हिस्सा बन चुके टेपरिकार्डर की ''बंजर हो चुकी देह'' कवि की संवेदना को आहत करती है। कवि याद करता है ''प्रेम में डूबे दिनों में गजलें सुनी इतनी बार / मेंहदीहसन का गला बैठ गया / नींद उन दिनों उड़ी रहती थी / तुम रोमानी लोरियाँ बन बजते थे''। ऐसे को किस तरह कबाड़ की तरह फेंका जा सकता है चुक जाने के बाद भी।

हमारी मध्यवर्गीय चेतना और सौन्दर्य बोध चाहकर भी सर्वहारा के श्रम से भरे थके हारे सौन्दर्य को मानवीय सहारा कभी-कभी नहीं दे पाते हैं। चाहे हम मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की कितनी ही बात क्यों न करें। हमारी मध्यवर्गीय नफासत इनके बीच दीवार बनकर खड़ी हो

जाती है। समकालीन कविता में मार्क्सवादी जीवन दर्शन के एवज में नकली संवेदना की कविताओं की भीड़ में अनुभव की ईमानदारी एक अलग तरह की सच्चाई बयान करती है। बावजूद इसके कि अनूपसेठी की कविताओं में विचारधारा लादी हुई चीज नहीं बल्कि उसकी अंतर्वस्तु में है। दीवारें कविता एक अलग तरह की स्त्री विमर्श की चर्चा करती है। प्लेटफार्म पर परफ्यूम की सुगंध से लेकर सब्जी और पकवान की गंध वाली स्त्रियों के बीच बेहद थकी स्त्री की गोद के बच्चे का सिर अचानक टकराने से बचाने के लिए जैसे ही कवि उसे थामने को बढ़ता है कि - ''बीच में दीवार बन खड़ी हो गई / उस देह की भभकती दुर्गन्ध / और तब जैसा अक्सर होता है पैर सरपट भागे / आँख चेहरे से बाहर निकल ढूँढ़ने लगीं / पहचाने हुए चेहरे /''

बच्चों को जैसी दुनिया के हवाले हम करने जा रहे हैं, आने वाला समय हमें कभी माफ नहीं करेगा। भले हम शर्म के कवच को धारण करें, पर हम इसकी जिम्मेदारी से बरी नहीं हो सकते हैं। आने वाली पीढ़ी को यह विरासत देने में हम भी शामिल हैं। इस तरह उन्हें ''निहत्था और असहाय करने की/ सजा कौन देगा हमें।''

बावजूद इसके कि एक अमानवीय और कविता विरोधी समय में हम जी रहे हैं। इतिहास गवाह है कि अच्छी रचनाएँ रचना विरोधी माहौल में लिखी गई हैं। कागज के परिन्दे पर कवि की गहरी आस्था है। क्योंकि ''इसकी उड़ाने बहुत ऊँची हैं। एक उम्मीद ही तो बची रहती है, जिस पर यह दुनिया टिकी है। सड़कें भी जिन्होंने बनवाई हैं नहीं है सड़क की लगाम उनके हाथ भी।'' इसलिए कवि निराश नहीं है, भविष्य पर नजर रखता वह कहता है - ''इस खिड़की को खुला रहने दो / झमाझम बारिश है / बेखबर लहराती / समुद्री हवा अनायास ।''

*जगत में मेला / अनूप सेठी / 2002 / आधार प्रकाशन प्रा. लि. पंचकूला (हरियाणा) / मू : 120 रु.*
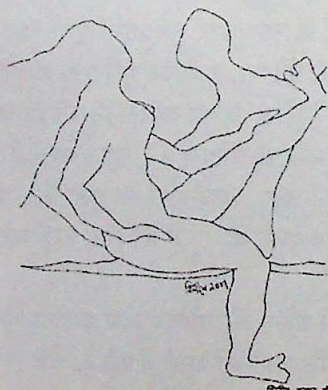
# कविता में समय की शिनाख्त

डॉ. रश्मिरेखा

नए दौर के युवा प्रगतिशील कवियों में ओमभारती की पहचान पूँजीवादी साम्राज्य की विसंगतियों के एक समर्थ आलोचक के रूप में बनी है। उनकी कविताएँ भी उनके आलोचनात्मक विवेक का एक हिस्सा हैं। ऐसा नहीं कि ओम भारती हमेशा राजनीतिक कविताएँ ही लिखते हैं। उन्होंने घर, परिवार, समाज को भी संजीदगी से कविता का विषय बनाया है। उनके निजी सुख-दुःख से भी उनकी कविताएँ पूरी तरह बची हुई नहीं हैं। मध्यवर्गीय जीवन की अनेक कहानियाँ उसमें लिपटी हुई हैं। जगह-जगह मानवीय संबंधों की गरमाहट और उसका रागतत्व भी मिलता है। किंतु नई दुनिया का नक्शा उनके लिए इतना साफ है कि रचना और प्रतिरचना दोनों ही स्थितियाँ 'आईनों की दुकान की तरह सजी दिखाई पड़ती हैं। मुक्तिबोध ने कभी यह सवाल किया था - पार्टनर तुम्हारी राजनीति क्या है? यह सवाल मुझे लगता है ओम भारती को अपना पक्ष रखने के लिए विवश करता रहा है। यह और बात है कि उनकी कविताओं में प्रकृति के तत्त्व भी पूरे मानवीय राग के साथ हैं। पशु-पक्षियों का एक आत्मीय संसार इसमें ढूँढने पर मिल सकता है। इस नजर से उन्हें हम शील और नागार्जुन की परम्परा से भी जोड़ सकते हैं। ओम भारती बजाप्ता छंद में भी लिख सकते हैं। उनकी कोशिश तो रहती है कि कविता में ज़ज्बात पर उनके विचार हावी न होने पाए। वे संतुलन के हिमायती तो नहीं हैं किंतु भावुकता और विचार का, संवेदना और बौद्धिकता का गहरा रिश्ता उनकी कई कविताओं की बुनावट में है। फिर भी कुछ जगहें ऐसी हैं, जहाँ उनकी मानवीय संवेदना सहजता काव्यमय होकर असर करती है।

ओम भारती की अब तक तीन कविता पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कविता की आँख (89), इस तरह गाती है जुलाई (96), और जोखिम से कम नहीं (99)। उन्होंने कहानियाँ भी लिखी हैं और समय-समय पर एक अनुवादक के रूप में भी अपनी क्षमता का परिचय दिया है। आलोचना में भी उनकी पहचान प्रखर आलोचक के रूप में रही है। ओम भारती के पिछले संग्रहों की कविताएँ पढ़ने के बाद उनका यह नया संग्रह पढ़ना किसी 'जोखिम से कम नहीं'। अपनी ही पुरानी गूँजों अनुगूँजों की पुनरावृत्ति पुनः अभ्यास इसमें साफ दिखाई पड़ता है। नई सभ्यता का आतंक और इसके असर में हमारी जीवनचर्या और राग-बोध में मिलावट। इसके साथ ही नकली कवियों की लगातार वृद्धि। ये सभी कवि की चिंता के विषय हैं उनकी कविताओं में।

इस संग्रह की एक कविता का शीर्षक ही है 'प्रकाशनार्थ नहीं'। औसत से थोड़ी ज्यादा लंबी कविता है यह। इसे पढ़ने में, कहानी पढ़ने का सा मजा मिलता है। कविता की भाषा पूरी तरह गद्यात्मक, चुस्त फिकरेबाजी, और व्यंग्य मानो ओम भारती की भाषा की तहज़ीब है। विवरण के विस्तार में जो चीज कविता का स्पर्श कराती है, वह है आत्म-परकता। साफ दिखता है पूरा माहौल और परिवेश एक भूल-भुलैया है। जिसमें सीधे-सरल अपने विश्वासों और लक्ष्य को लेकर घिरा हुआ कवि है। जो कवि केवल यश का प्रार्थी है, जैसे भी बने अपनी कवि की छवि को निखारने में लगे हैं – ओम भारती की दिलचस्पी उनमें नहीं है या ओम भारती उनकी रुचि में नहीं आते। तभी तो वे कहते हैं :

'जबकि मैं था सरलता की साध में, बताने वाले मगर बताते थे / जो सरल होगा, कविता थोरे हुं होगा / रचना तो कठिन ही क्लिष्ट नहीं, विशिष्ट नहीं / रचना तो असाध्य वीणा है / बजना अज्ञेय है / करोगे चमत्कृत तो होओगे पुरस्कृत ' इत्यादि।

उधर स्कूल के मास्टर जी जो किसी जमाने में समस्यापूर्ति करने के लिए उन्हें इनाम वगैरह दिया करते थे, ताज्जुब करते है कि कैसे वे भटक गए और कम्युनिस्ट पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ छपने लगीं। एक बात साफ है कि ओम भारती यदि जिद पकड़ लें तो शुद्ध कविता जैसी चीज भी लिख सकते हैं। बच बचाकर कलावादियों के बीच अपनी कला के हुनर का सिक्का भी जमा ले जा सकते हैं। किंतु उन्हें कोई महान कवि कहे इसकी न उनमें कोई चाहत है और न कोशिश। इसीलिए इस सलाह पर कि 'अमूर्त पर अनंत पर लिखोगे तो गहन होगी रचना और सहन भी / पहचान बनेगी को यह कहकर साफ-साफ इंकार कर देते हैं कि क्षमा करे यशःप्राथी नहीं लिखने दे। आप मुझे। वे अपने आदर्शों के अनुरूप व्यवस्था चाहते हैं। यथास्थितिवाद से मुठभेड़ का इरादा उनका इसी वजह से है। उनकी संरचना उखड़ी सी, उदास सी दिखती है तो उसका बड़ा कारण यही है। अपने सिद्धांतों से हटकर समझौता करना उन्हें किसी कीमत पर बर्दाश्त नहीं।

ओम भारती के इस संग्रह में अपने समय की शिनाख्त की गई है। आज के समय में मानवीय सहजता किसी जोखिम से कम नहीं। 'हँसी खेल नहीं' कविता में हँसी के अनेक

पहलू के माध्यम से जीवन और समाज की अनेक सच्चाइयों को परिचित कराया गया। आज खिलखिला कर हँसना भी कोई आसान काम नहीं। हो सकता है बच्चे खुलकर हँस लेते हों। हँसी-खेल शीर्षक कविता की महत्वपूर्ण पंक्तियाँ हैं :

'बिसर-बिगड़ गई असंख्य चेहरों की बेलाग हँसी / असंख्य अधरों पर नहीं कोई उसका निशाँ / अनगिनत आँखों में बाकी नहीं रही उसकी पहचान तक / हँसी खेल नहीं रहा इन दिनों पाठकों / हँसने का मन भी पछाड़ खा बिलखता है'

''सातत्व'' कविता में समय के बदलते परिदृश्य को पीढ़ियों के अंतराल, बाजार और संचार क्रांति के बीच पकड़ने की कोशिश की गई है। आज कविताएँ भी असहज हो गई हैं तो इसकी वजह आसानी से तलाश की जा सकती है। आज जीवन में ही कहाँ बची है सहजता। वे दिन भी अब नहीं रहे, जब कविताएँ कंठस्थ हो जाती थीं। अधरों पर अपने आप कोई सुनी हुई धुन आ जाती थी। आसपास ऐसी आवाजें भी होती थी, जिन्हें हम दम साधकर सुन सकते थे। किताबों में वे सफे, जिन्हें कभी चूमने का मन करता था, ऐसी गोद और कंधे हमें नसीब थे, जिनपर चढ़ने का मजा था, अब नहीं रहे। ओम भारती की बर्हिमुखता उनकी कविता में जिद की तरह फैली हुई दिखाई पड़ती है। इस जिद से जहाँ कहीं भी वे बेखबर हुए हैं, उनकी शब्द-योजना तुरंत हमें एक ऐसे स्मृति लोक में ले जाती है जहाँ सिर से पाँव तक कविता ही कविता है। 'सातव्य' कविता इस नजर से पढ़ी जा सकती है। कविता के अंत में कवि कहता है -

'कठिन हुआ कितना कुछ कितना आसान हुआ / महानताएँ म्लान और तुच्छतम् महान हुए / पिता भी नहीं हैं अब, हम आये उनकी जगह / उनसे कुछ ज्यादा ही खफा अपने वक्त से'

ओम भारती थोड़ा ''लाउड'' कवि हैं। इस बारे में 'कृति ओर'' में दिए अपने साक्षात्कार में उन्होंने कहा भी है कि ''जब शोर ज्यादा हो, तब आपको भी कुछ ज्यादा जोर से बोलना पड़ता है।'' उनके मुख्य वैचारिक भाव स्पष्ट हैं। इनकी भाषा कबीर की तरह चोट करने वाली है। मुद्राबाजार, भूमंडलीकरण और संचार क्रांति में छिपे संकट को सबसे पहले इन्होंने ही अपनी कविता की अंतर्वस्तु बनाया और पाठकों को आगाह किया। अपने दूसरे संग्रह 'इस तरह गाती है जुलाई'' की कविताओं में ओम भारती विस्तार से नई बाजार व्यवस्था के व्यापक परिदृश्य से मुलाकात कराते हैं - पर संवेदना के स्तर पर सीमाएँ भी दिखती हैं। यहाँ परिदृश्य का बचा हुआ अंश है, जिसमें उनकी मान्यताएँ और आदर्श साफ-साफ दिखते हैं।

'मैं कविता में गिरने से उठने वाले धंधे में नहीं हूँ / कविता में आने के पच्चीस साल बाद भी अर्थ विदों / नहीं है मेरे पास इन प्रतिरचना प्रश्नों के प्रत्युत्तर / जीवन, इस पृथ्वी पर जीवन ही जमापूँजी कुल मेरी / अपने जमीन और जड़ों का ऋण मुझ पर अकूत है / पूर्वज कवि पीढ़ियाँ और कृतियाँ हैं मेरी देनदारियाँ / वंचितों और वंचितों के सपनों में अभी भी मेरा बैंक / दुनिया बदलने में शहादत ही स्वप्न मेरा छोटा सा / महाजनों नहीं है कविता के लिए ही / रचना

नहीं है कोई व्यापार / होने देगें हम नहीं कविता को धंधे की कला-कली / हालाँकि सक्रिय है कविता में कविता के बैरी कई / है अनेक असमर्थों, गृहारंभे, समर्थों गृह भंजने / हम शायद असुरक्षित बचाएँ / तोड़ते रहेंगे वे और हम यथा-शक्य / बनाते रहेंगे फिर तिनकों से नए नीड़ तिगुनी तत्परता से / सुरक्षित हो आगामी सदियों की बेमौसम बारिशों में पीढ़ियाँ'

यहाँ पर ओम भारती अपनी रचना का और रचने का तर्क देते हैं बिना लाग-लपेट के साफ-साफ भाषा में। 'आइनों की दुकान' कविता का आरंभ इन पंक्तियों से होता है :

'जिस जमाने में जोखिम से कम नहीं / आईना दिखाना किसी को भी / आइनों की दुकान यही कर रही है बेझिझक' ।

इस कविता में आईने की दुकान का पूरा परिदृश्य बारीकी से प्रस्तुत किया गया है। यह भी कहा गया है कि कुछ आईने तो खरीदार आदमी के हाथ चले जायेंगे। लेकिन नहीं गए आईने जहाँ के तहाँ रह जायेंगे। यह एक शुद्ध किस्म की कविता है। इसमें कवि क्या कहना चाहता है, समझ में नहीं आता।

इस कविता पुस्तक की दो कविताएँ मुझे अलग वजहों से अच्छी लगती हैं। पहली 'सिंगरौली से कुछ कविताएँ' और दूसरी 'पशुओं के बाड़े में चंद कविताएँ।' सिंगरौली वाली कविता ग्यारह खण्डों में पूरी हुई है जबकि पशुओं के बाड़े में छः खण्डों में। कोयले की खदान का लोक कविता में कम ही चित्रण हुआ है। ओम भारती केवल खदान का ही महीन निरीक्षण नहीं करते बल्कि कोयले के महत्त्व और कोयला निकालने वाले खदान मजदूरों के श्रम और संघर्ष को भी अपनी सौन्दर्य दृष्टि में जगह देते हैं। कोयला खदान की सच्चाईयों का वर्णन करते हुए हुए कवि कहता है कि 'यहाँ ऊर्जा के लिए / राख होता है कोयला / कोयले के लिए / राख होता है जीवन' पशुओं के बाड़े में प्रवेश कर वे हमें एक ऐसी दुनिया में ले जाते है जिससे हमारा कम ही परिचय है। यह पूरी कविता श्रृंखला एक रोचक कथात्मक शैली में पेश की गई है।

ओम भारती की इस कविता पुस्तक में कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें पढ़ने के ढंग पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। ओम भारती एक बहुत अच्छे वक्ता भी हैं। उनकी भाषण कला में विचारों की सफाई के साथ-साथ व्यंग्य विनोद की क्षमता भी प्रभावित है। उनकी इस वक्तृत्व कला से एक सीमा तक उनकी कविताएँ उदाहरण के लिए 'ऊँचे कद को लेकर एक कविता' और 'स्वर्ण वृत्त' का पाठ किया जा सकता है जो कविता में वक्तृत्व कला के अनोखे उदाहरण हैं।

'जोखिम से कम नहीं' संग्रह की अधिकतर कविताओं में साधारण और मरणशील की तरफदारी में प्रसिद्धि चाहने वाले को कोसा गया है। अमरता में कवि का विश्वास नहीं है। जो खास हैं उनके लिए ओम भारती के मन में आलोचना और हिकारत का भाव है। सर्वहारा संस्कृति के तर्क से आक्रांत होकर भी व्यंग्य शैली उनकी कविताओं की खासियत है। ऐसी कविताएँ इस संग्रह में बड़ी संख्या में हैं। इस कविता पुस्तक की अंतिम कविता का शीर्षक है 'आरंभ'। इसका अंत इन पंक्तियों से होता है :

'पाठकों जरा ठहरो / कविता की आखिरी पंक्ति पर / शायद वही हो आरंभ'।

हो सकता है जिस कविता का शीर्षक ओम भारती 'आरंभ' देते हैं। उसमें आरंभ जैसी कोई बात न हो पर हम उम्मीद करते हैं कि उनका अगला नया संग्रह निश्चित रूप से नया आरंभ होगा।

*जोखिम से कम नहीं / ओम भारती / मूल्य : 75 रुपए / प्रथम संस्करण : 1999*
*किताबघर प्रकाशन, 24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।*
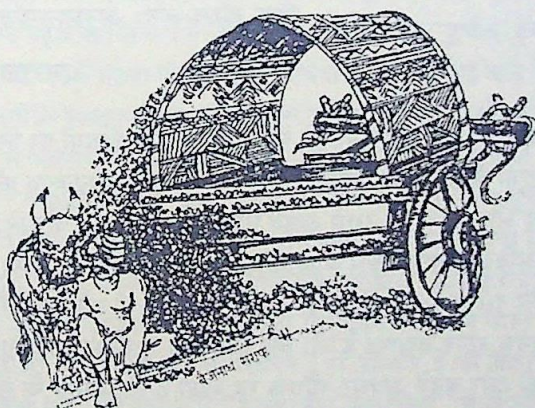
# उलझा विषय : सुलझा प्रयास

*दिक् काल अंतः अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य*

**धनराज चौधरी**

परस्पर आश्रित और एक दूसरे को पोषित करने वाले विषयों पर लिखा गया गंभीर साहित्य कुछ ही पाठकों के लिए प्राथमिकता लिया हुआ होता है। वस्तुजगत की व्याख्याओं में पाये जाने वाले शब्द और संदर्भ का उससे अछूते प्रसंगों में प्रयोग जरा चौंकाने वाला हो, मगर वह व्यापकता उन्हें अधिक उपयोगी और व्यावहारिक बनाती है। खण्ड से लेकर असीम विस्तृत की व्याख्या एक ओर इस तरह भी की गई है - अखण्ड साहेब जी को नाम और सब खण्ड है जी, खण्डित मेरू सुमेरू खण्ड ब्रह्माण्ड है जी। वहीं विवेक से सुसज्जित ज्ञानी अपनी जिज्ञासा में अति सूक्ष्म खण्ड की ओर बढ़ते अक्सर भौंचक रह जाता है तो विस्तृत के छोर की कल्पना करते करते अभिव्यक्ति हेतु प्रचलित भाषा और अपनी समझ को बचकानी ठहरा चुप रह जाता है। हताश-सा, ऐसे में किसी अचीन्ही संभावना का स्फूर्ण वह गहराई तक महसूस कर रोमांचित हो उठता है। दिक्, काल; दिक् और काल; दिक्-काल कितना कुछ बदल गया है, हमारी सूझ, सोच, समझ में कुछ कालान्तर पर ही। पूर्वज ऋषियों को जो विषय प्रिय था आधुनिक मनीषियों के लिए भी वह चिंता उतनी ही सम्मान लिए है। अतः, हर बार अनूठा कहने वाले डॉ. वीरेन्द्र सिंह यदि ऐसे विषय पर अपने तरीके से सबसे हट कर कहने को उद्यत् हों तो भला क्या आश्चर्य! दरअसल, इस समय भी कहीं प्रयोगशाला में बैठा कोई भौतिक विज्ञानी चतुर्आयामी विस्तार के बारे में (या ग्यारह आयामी विस्तार के बारे में) कुछ न कुछ उद्घाटित करने में जुटा है, तो कहीं कोई कवि दिक् और काल के अंश पर मुग्ध हो समानांतर सृष्टि के सृजन के प्रति उद्यत लगता है। युग बदल गये दर्शनशास्त्री को काल-आकाश से कहाँ अवकाश प्राप्त हुआ है

और उधर राजनीतिज्ञ तथा इतिहासकार भी स्थान और समय के आधार पर अपनी व्याख्या को अधिक स्पष्ट और पहले से ठीक-ठाक बनाने में कार्यरत हैं। दिक्-काल से परे जाने का लक्ष्य ही ध्यान में तल्लीन हुआ कोई योगी लिये है।

अरसे से अंतः अनुशासन की कसौटी लिए कृति के मर्म को पहचानने में लगे डॉ. सिंह आलोच्य पुस्तक में छपी आत्मस्वीकृति में कहते हैं - ''दिक्-काल का अंतः अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य इस काल को स्पष्ट करता है कि मानवीय चिंतन के विभिन्न क्षेत्रों में (अनुशासनों में) दिक्-काल की निहिति उसके व्यापक परिदृश्य को संकेतित करती है और इस बात को प्रमाणित करती है कि दिक्-काल के मानवीय, मनोवैज्ञानिक, जागतिक एवं ब्रह्माण्डीय सरोकार हैं जो अमूर्त होकर भी मूर्त रूपाकारों, प्रतीकों तथा बिम्बों के द्वारा ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अपने अस्तित्व को दर्ज करते हैं।'' इस विषय पर एक व्यवस्थित कार्य करने का प्रेरणा स्त्रोत वे जयपुर की अंतः अनुशासनीय संस्था ''संदर्भ'' की बैठकों के दौरान अलग-अलग ज्ञान क्षेत्रों के अध्येताओं द्वारा पढ़े गये आलेख मानते हैं। इस विषय की गूढ़ पहुँच की कोशिशों के मध्य वे कदाच् हड़बड़ाते भी जान पड़ते हैं - हाँ व्यक्ति उस 'पूर्णता' तक पहुँचने की कोशिश करता है, पर वह शायद पहुंच नहीं सकता है, क्योंकि वह जितना उस 'पूर्णता' (या यूटोपिया भी) के निकट पहुँचेगा वह उससे उतना ही दूर होती जायेगी (पृ.10)। यह बात कुछ कुछ ढुल मुल प्रतीत होती है क्योंकि स्पष्टतया यह भी कहा जा सकता है - इस विषय पर यह मेरा आरंभिक प्रयास है और संभावनाएँ पर्याप्त शेष भी हैं। ''ज्ञान एक सतत प्रक्रिया है जिससे ज्ञान का विकास होता है'' किसी उपदेशक द्वारा ऐसा कहा जाना उचित हो मगर मुझे लगता है अंत तक पहुँच पाण्डुलिपि से कहा जाना चाहिए - मैंने तो अपना सारा उडेल दिया है, बस ....

पुस्तक ''दिक्-काल अन्तः अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य'' डॉ. वीरेन्द्र सिंह की लगभग दो दर्जन प्रकाशित कृतियों में सबसे नई है। कविता से विशेष प्रेम रखने वाले डॉक्टर साहब कभी ''शब्दों के गवाक्ष'' से ''अस्मिता के संवेदन'' में झाँकते हैं तो कहीं वे ''साहित्य और साहित्येतर : संवाद सूत्र'' की तलाश में ''समकालीन आलोचना'' में अपनी मौलिकता स्थापित करते नजर आते हैं। निश्चय ही 32 वर्षों से एक अंतः अनुशासनीय संस्था को चलाये रखना इनके जैसे भीष्म प्रतिज्ञ के बस की बात है। वे कदाच् विद्यमान आलोचकों में से एक अकेले हैं जो कोई खास झण्डा लिये अपनी मण्डली की स्थापना में नहीं लगे हैं। कोई भी लेखक हार्दिक इच्छा रखता है कि उसकी कृति डॉ. सिंह की नजरों से गुजरे, वे उस पर लिखने के लिए कलम उठायें। किसी गोष्ठी का संयोजक उन्हें आमंत्रित कर तब तक चैन से नहीं बैठ पाता जब तक कि वीरेन्द्र सिंह विषय पर विस्तार से कह न लें। एक समीक्षक की तौर पर वे किसी के अपने नहीं होते हुए भी व्यक्ति के तौर पर वह सबके चहेते हैं। बोधि प्रकाशन, जयपुर से मुद्रित यह पुस्तक प्रस्तुति के तौर पर भी आकर्षक बनी है। 'आत्मस्वीकृति' में लेखक का कहना, ''यह बात मैं इसलिए नहीं लिख रहा हूँ कि उन्होंने मेरी पुस्तक छापी है, पर मैं तहेदिल से अनुभव करता हूँ। मैं प्रकाशक और लेखक के मध्य स्वस्थ एवं मानवीय संवाद चाहता हूँ न कि

विरोध और संघर्ष।'' डॉ. वीरेन्द्र सिंह की इस भाँति की भोली और सदैच्छा ली अदाएँ, जो भी उनके समीप हैं वे जानते हैं गो कि यह, अंर्ततम से कही गई सच्ची बातें हैं। वह कदाच् ऐसे समीक्षक हैं जिनका कोई शत्रु नहीं बना। प्रकाशक इनसे अति प्रसन्न - कुछ दें तो भी चलेगा, न दें तो भी कोई बात नहीं।

पुस्तक दिक्-काल का कलेवर दस अध्यायों में समाया हुआ है। भिन्न ज्ञानानुशासन और विवेचन-वर्गीकरण को ध्यान में रख कर लेखक प्रत्येक अध्याय में मुख्य स्थापना पर बल देते हुए अन्य से संबंध का जिक्र भी प्रायः करते हैं। धार्मिक अनुभव में दिक्-काल बोध, साहित्य में दिक्-काल सर्जना तथा दिक्-काल का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य गंभीर चिंतन के निचोड़ हैं। जागतिक और पराजागतिक क्षेत्र को वे इस अर्थ में कहीं भी नहीं लेते कि वे निरपेक्ष हैं। ''वरन मैं यह मानता हूँ कि ये दोनों क्षेत्र सापेक्ष एवं द्वंद्वात्मक हैं।'' जहाँ कहीं वे अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हैं तो उनके तर्क सापेक्षता और द्वंद्वात्मकता का बख्तर पहने होते हैं। कदाच् द्वंद्व और परस्पराश्रित कोई नई उपज तो नहीं, हाँ वे विवेक और विज्ञान का समर्थन पा नई चौंध के साथ आये हैं। इस नई रोशनी में दिक्-काल नया अर्थ और प्रयोजन लिए प्रकट होता है। ''विज्ञान-चिंतन में दिक्-काल'' एवं ''प्राणि-शास्त्र : दिक्-काल'' क्रमशः अध्याय 7 एवं 8 में लगभग 20 पृष्ठ लिये हैं। सवा सौ पृष्ठों की पुस्तक में विज्ञान से संबंधित बहु संख्य पृष्ठ और एक पूरा अध्याय - दिक्-काल मनोवैज्ञानिक संदर्भ इंगित करते हैं कि लेखक का पलड़ा किस ओर झुका है, यद्यपि पदार्थ विज्ञान की वय तीन-चार सौ वर्ष है और धर्म-विज्ञान कहीं अधिक वयस्क और परिपक्व है। वस्तुतः इस नई प्रयोग आधारित पद्धति ने दिक् और काल को फीता तथा घड़ी से अलगकर नई दृष्टि और कलात्मकता प्रदान की है। समय का शुरुआती छोर हमें उस तथ्य से जोड़ता है कि जब पदार्थ था ही नहीं, दिक् का अंतिम छोर अभी वैज्ञानिक पकड़ में है नहीं। बढ़ा जा रहा है ब्रह्माण्ड और व्यक्ति की चेतना का विस्तार! किस गति से बढ़ रही है जानकारियाँ उसका आकलन कदाच् इस से किया जा सकता है कि दुनिया में विज्ञान का द्विगुन दो वर्ष है। जितना आज उपलब्ध है उसमें उतना ही दो वर्षों में और जुड़ जाता है नया-अनजाना। मनुष्य सचमुच चकित है - इतना वृहद् होते हुए भी मैं उससे नितांत अपरिचित नहीं हूँ। पाँच तत्व से एकीकृत सिद्धांत की यात्रा का जिक्र हो या सब कुछ स्पष्टतया निर्धारित (चिरसम्मत धारणा) से सब कहीं ढुलमुल और संभावित होने की नई दृष्टि (क्वाण्टम धारणा) से विद्यमान सृष्टि को अधिक ज्ञेय बनाने के विविध प्रयासों का स्पष्ट वर्णन हो हर कहीं लेखक ने आधुनिकतम प्रस्तुत करने में कोई कोर कसर बाकी नहीं छोड़ी है। सौ सवा-सौ साल पूर्व सारा जागतिक प्रपंच मशीनी करामात (न्यूटनीय चिंतन) समझा जाता था, वह सब अब झटक गया है। मनुष्य की चेतना की पदार्थ में पैठ और वसुधैव कुटंबकं की नव वैश्विक चेतना ने हमारे अस्तित्व को जो आयाम प्रदान किए हैं, उन्हें जानकर हम न केवल अभिमान से फूल उठते हैं बल्कि रहस्यों के प्रति आनंदित हो उठते हैं। आशा के प्रति नई आस्था इधर जो विज्ञान-तकनीकी ने उजागर की है वह समझदार के चेहरे पर अचीन्ही मुस्कान लाती है। दिक्-काल की

यात्रा में गैलिलियो, न्यूटन, डार्विन, युंग, आइंस्टाइन, हाइजैनबर्ग, हाकिंस इत्यादि के सहयोग और आगे का देखने का कर्म हममें सर्वथा नई प्रकार की श्रद्धा जगाता है। विश्वास, संदेह की कसौटी पर खरा उतर कर जो बनता है, इसका प्रकटन कहीं अधिक विश्वसनीय कहीं अधिक अपना है। पृष्ठ 92 पर डॉ. सिंह कहते हैं - ''यह सृजन और विलय की गति निरंतर है जिसमें सृजन और विलय का चक्र भी चलता रहता है।'' ऐसे ढीले और अधूरे कथन भी पुस्तक में कहीं कहीं हैं। विज्ञान मूलतः यूनानी दर्शन की कोख में पनपा - वहाँ बहिर्गमन रैखिल है। लौटकर आने जैसा वहाँ संभव नहीं है। सृजन और विलय का चक्र पुनर्जन्म या पुनरावृत्ति जैसी संभावनाएँ वहाँ नहीं हैं। व्याख्याओं में ऐसे संकेत भी हैं जैसे क्वाण्टम यांत्रिकी और सापेक्षवाद सममेल के हैं। ऐसा बिल्कुल नहीं है क्योंकि पहला सूक्ष्म की व्याख्या के लिए है दूसरा अत्यधिक के लिए। हाँ, अभी कुछ कोशिशें जारी हैं एकीकृत सिद्धांत के जरिये। सापेक्षतावादी आइंस्टाइन अनिश्चित होना बिल्कुल ही नहीं चाहते हैं। इधर एकीकृत सिद्धांत में तो कण स्वरूप ही खो गया सब कुछ एब्सट्रेक्ट है, कुछ मनस चित्र हैं जैसे एक विमीय डोर है और उस पर उठी लहर कोई मूलभूत कण (फण्डामेण्टल पार्टिकल) है। ऐसी कुछ मामूली बातें कोई छाँट निकाले, वरना तो यह कृति एक अच्छे श्रम और सूझ की उपज है जिसका हिंदी क्षेत्र में स्वागत होना ही चाहिए। वैसे, चाहने वालों के लिये कहाँ तो ऐसी पुस्तकें उपलब्ध हैं और कौन प्रकाशक ऐसे दुरूह कृत्य के लिए जोखिम उठाने को तैयार है।

*दिक्-काल : अन्तः अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य, डॉ. वीरेन्द्र सिंह, बोधि प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 120 , मूल्य 175.00 रु., 2001 संस्करण।*

क़िताब
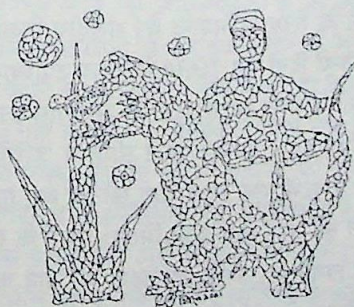
# सूखे नारियल में पानी की तरह बचा रहेगा जीवन

जितेन्द्र कुमार

निलय उपाध्याय ने विधिवत् काव्य लेखन नवें दशक के उत्तरार्द्ध में आरंभ किया था। तब पंजाब में अलगाववादी आग बुझ रही थी, कश्मीर में अलगाववादी आग तत्कालीन गृहमंत्री मुफ्ती मोहम्मद सईद की पुत्री के अपहरण और नाटकीय मुक्ति की घटना के साथ सुलग रही थी, बिहार में मंडलवाद के घोड़े पर सवार होकर पिछड़ी जातियों की नई राजनीतिक शक्ति उभर रही थी। ग्लासनोस्ट और पेरोस्त्रोइका की आँधी में सोवियत संघ बिखर रहा था, केन्द्र सरकार प्रतिदिन नई आर्थिक नीतियों की घोषणा के बहाने विदेशी पूँजी निवेश के लिए उदार होती जा रही थी, मशीनीकरण द्वारा शिक्षित युवकों में बेरोजगारी बढ़ रही थी, वे निराशा का प्रेत बने सड़कों पर भटकने के लिए अभिशप्त थे। संसदीय निकायों में अपराधी एवं गुंडे बाहुबल द्वारा प्रवेश पा रहे थे। उन्हीं दिनों सन् 1994 में निलय उपाध्याय का पहला काव्य-संग्रह ''अकेला घर हुसैन का'' पाठकों के बीच आया। उसी के आसपास उनके मित्र बद्रीनारायण का कविता संग्रह ''सच सुने कई दिन हुए'' आया। पहले संग्रह मे 'हरिकिसुना'' जैसे बचपन के मित्र की स्मृतियाँ थीं, जो खेतों में कभी एक साथ साग खोंटता था, गुल्ली डंडा, कबड्डी खेलता था। अब नीम तले मरे हुए कुत्ते की तरह पड़ा हुआ मिला। मकई के खेत में दाने पक चुके थे और किसान को देखकर हँसने लगते थे। उसके खलिहान को जाने का स्वयं बेताब रहते थे। तब 'हरिकिसुना' तीस साल की उम्र में बूढ़ा हो गया था और इस बीच कवि शहर आ गया। अब सदी के अंतिम वर्ष में निलय का दूसरा काव्य-संग्रह आया है। अब कवि गाँव के पास जाकर घर नहीं जाता और बहनें भी उसे राखी नहीं भेजतीं। दीवाली और छठ के बीच अगर

गाँव के लड़के नाटक खेलेंगे तो कवि गाँव जायेगा। हालाँकि ऐसा कुछ करना वह नहीं चाहता पर ''क्या करोगे - समय ही कुछ ऐसा है ''...... पिता से कहता है कवि : '' किसी पर अधिक भरोसा मत करना'' .... दरअसल ''ठीक से नहीं कह पाता अपनी बात'' कवि (मैं गाँव आऊँगा) नवें दशक के उत्तरार्द्ध में कवि की कविताओं की अंतर्वस्तु में, उसके रूप और कथ्य में विचलन आया है। छठे दशक के बाद गाँव से शहर आई पीढ़ी की गाँव से दूरी बढ़ी है। कवि ने समकालीन यथार्थ को व्यक्तिगत ढंग से अभिव्यंजित किया है। यह एक ईमानदार अभिव्यक्ति है।

दूसरे कविता संग्रह 'कटौती' में पचपन कविताएँ संग्रहित हैं। संग्रह की कविताओं को तीन भागों में रखा गया है। प्रथम भाग में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की मदद से प्रकृति के निर्मम दोहन द्वारा मानवजीवन के अस्तित्व के लिए उत्पन्न खतरे से चिन्तित है कवि का मन। पृथ्वी के गर्भ में पीने के पानी का अकूत भंडार है, लेकिन उसका जल स्तर नीचे गिर रहा है। पृथ्वी को घेरे हुए ओजोन परत में छिद्र हो गया है। रिहायसी इलाकों में उद्योग-धंधे फैलते जा रहे हैं। औद्योगिक मल और कर्कश आवाज से वायु प्रदूषित होती जा रही है। इस भयावह स्थिति का चित्रण करने वाली मनबोध बापू के नाम पत्र, मकड़ी, डीजल-पंप, घड़ी गोभी के फूल, कोई फर्क नहीं होता, एक बार फिर, अगला-पाठ मुझे नहीं चाहिए, सबक, जैसी कई कविताएँ हैं जहाँ विज्ञान, बाज़ार, प्रौद्योगिकी, उपभोक्तावाद द्वारा उत्पन्न खतरे का जिक्र है। ''ध्वनि/प्रकाश और चमत्कारों के खेल चाहे / जितने रोमांचक हों / चाहे जितनी मनभावन हो / इत्र के फाहों की हवा / चाहे जितने गहरे धँसे हों बनिज के खंभे / इन तमाम ऊँचाइयों के बाद भी जस की तस हैं / आदमी की बुनियादी जरूरतें'' (अगला पाठ) जिसे विज्ञान विकास मानता है, गलत है। दरअसल आधुनिकतावादी विकास के नाम पर ''धरती को ले जा रहे हैं। मौत और यातना के अंधेरे में।'' क्योंकि यह दुनिया ''नैतिकता और प्यार का कारोबार है। नैतिकता और प्यार की संतान हैं / हम।'' अभी भी उम्मीद है कि हम प्यार और नैतिकता की मानवीय दुनिया को बचा सकें। उस रास्ते की पड़ताल करने की आवश्यकता है जो आगे बढ़ने की होड़ में कहीं छूट गया। उपभोक्तावाद और बाजारवाद से असहयोग कर ही मनुष्य को बचाया जा सकता है। बाजार जो दूध की नदी बहाने का आश्वासन देता है वह दरअसल ''मगरमच्छों से भरी दूध की शातिर नदी'' है। ''मुझे नहीं चाहिए'', ''सबक'', एक बार फिर, 'कोई फर्क नहीं पड़ता में निलय उपाध्याय ने कलात्मक ढंग से आम आदमी की इच्छाओं को सुलझे हुए ढंग से अभिव्यंजित किया है। निलय में स्मृतिमोह नहीं स्मृतिबोध है। बल्कि इतिहास-चेतना है। वे अपने देश की पौराणिक परम्पराओं और संस्कृति को पूर्णतः खारिज कर पश्चिम की उत्तर आधुनिकता के चकाचौंध में पड़ना नहीं चाहते। स्मृतियों से कल्पनालोक तक विकास यात्रा के लिए सड़क हो जिसमें नैतिक शिक्षा की गुंजाइश हो। आनन फानन में रातों रात कुबेर बनने का ख्वाब छोड़ना होगा। बाजारवाद से असहयोग कर आम आदमी को बचाया जा सकता है। ''वे बनाएँगे महँगे सामान/ हम नहीं खरीदेंगे / मोहक विज्ञापनों का असर नहीं होगा हम पर /

विरोध के सारे हथियार चूक जाएँगे / फिर भी बचा रहेगा हमारा असहयोग।'' (सबक)

निलय सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। जो भी पुराना है सब त्याज्य है, अनुपयोगी है, ऐसा वे नहीं मानते। हमारी सांस्कृतिक विरासत में बहुत कुछ है जिसे बचाने और सीखने की आवश्यकता है। उसी से हम साम्राज्यवादी अपसांस्कृतिक हमले से अपने को बचा सकते हैं। ''सुदूर जंगलों पहाड़ों से बचाकर लाई गई / तेज पत्ते-सी / जीवन की यह अनोखी वन - गंध / लोक कथा नायकों और लोरियों की छाँव में बचे / इस जीवन में /'' (अगला पाठ)

संग्रह के दूसरे भाग में नौ कविताएँ हैं। इन कविताओं में कवि की राजनीतिक चेतना मुखरित है। राजनीति का अपराधीकरण हुआ है। संसदीय जनतंत्र के किले के अंदर अपराधी चरित्र के लोग पहुँच चुके हैं। राजनैतिक स्थितियाँ बदलेंगी। लेकिन पिछली फ़सल और अगली फ़सल के बीच का यह परती समय है। इस परती समय में बेहया जैसे अनुपयोगी पौधे उग आये हैं। वर्तमान संसदीय जनतंत्र की तस्वीर पेश करती पत्थर के पेड़, तीन जन, स्वस्तिक जैसी अच्छी कविताएँ हैं। एक ओर नक्सलवादी कहते हैं कि संसद सुअर बाड़ा है, दूसरी ओर निलय उपाध्याय का कथ्य है कि संसदीय निकाय अपराधी एवं दागी लोगों का अखाड़ा है। चालीस उम्मीदवारों वाले मतपत्र में आम मतदाता को कोई भी नाम बेदाग नहीं मिलता, जिस पर मतदान का स्वस्तिक चिह्न वह रोप सके। ''चालीस प्रत्याशियों, चालीस प्रतीक चिह्नों से लदे। इस मतपत्र में खाली है वह जगह / जहाँ रोप सकूँ मैं अपना पवित्र / स्वस्तिक (स्वस्तिक)।'' संसद की तस्वीर इन शब्दों : ''संसद की दहलीज पर खड़े हैं / तीन जन ..... एक नंगा खड़ा है / दूसरा जिद पर अड़ा है / तीसरे को शर्म नहीं आती / एक का चेहरा थूक की पीक से भरा है / दूसरे की देह पर टँगी हैं गालियाँ / ..... काला पड़ गया है तीसरे का अतीत ... खड़ खड़ा रहे हैं संविधान के पन्ने ..... बोलो ..... सबसे खतरनाक कौन है तीनों में (तीन जन)''

संग्रह के तीसरे भाग में सर्वाधिक सत्ताईस कविताएँ हैं। आरंभ में ही एक सूत्र वाक्य है : ''पाँक से नहीं डरते पृथ्वी पर पकड़ रखने वाले।'' मुझे लगा इस सूत्र वाक्य में पृथ्वी की जगह अगर जमीन होता तो ज्यादा शालीन होता। इस भाग में पिछड़े, सड़क-1, सड़क-2, जड़ों की ओर, ठोरा, लखन उस्ताद, एक सर्द रात की कथा, शबरी के पिता, दियारे की लड़की।

पहले भाग में संकलित कुछ कविताओं का भाव-बोध तीसरे भाग की कविता सड़क-2, गाँठें, आहटें और जड़ों की ओर में भी है। जब कवि अपनी सांस्कृतिक विरासत और परम्पराओं को बचाने की बात कहता है, तेज पत्ते की तेज वन गंध को बचाने की बात कहता है तो विकासवादी कहीं ऐसा न समझें कि उसे जड़तावादी समझ लिया जाये। ''जड़ों में लौटने के अपने नियम हैं / जड़ होने के अपने / सामने से आती रोशनी की चकाचौंध में / जिन्हें बंदर दिखाई देते हैं अपने / पुरखे / उन्हें, कुछ अधिक नजर आता है / खतरा जड़ होने का (जड़ों की ओर)।'' कवि का कहना है कि अपनी पुरानी संस्कृति को याद करना धनुष पर बाण-चढ़ाकर उसकी डोर को पीछे खींचने के समान है। जब तक धनुष की डोर पीछे नहीं खींची जायेगी, तीर आगे को प्रक्षेपित नहीं किया जा सकता। अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों को याद करने से हम

मध्य युग की ओर नहीं लौट जायेंगे। ''जैसे पीछे खिंचती है प्रत्यंचा की डोर / खिंचेगी / मध्य-युग की ओर नहीं लौटेगी यह दुनिया।'' लेकिन विकासवाद के स्थापित सत्य का विरोध करने से लोग शंका तो करेंगे ही। शंका और बढ़ती है जब इस संग्रह की सबसे लम्बी कविता ''अगला पाठ'' में अस्तित्ववादी अवधारणा की वकालत कवि करते हैं। विश्व में मनुष्य की भूमिका को गौण बताते हैं। यहाँ तक पीछे जाते हैं कि भाववादी रहस्यवादी कवि विद्यापति की अवधारणा को पुष्ट करते हुए यह स्थापित करने की चेष्टा करते प्रतीत होते हैं कि मनुष्य की नियति विशाल समुद्र की जलराशि के ऊपर तैरते रंगहीन खर और जड़हीन दरख्त के समान है। बल्कि समुद्र में उठती लहरों के सदृश है जो बावेलपन में बार-बार समुद्र का तट पार कर जाने का प्रयास करती है, पर अंततः समुद्र की विशालता में विलीन हो जाना ही लहरों की नियति है। इस तरह अस्तित्ववादी अवधारणा का बिम्ब पेश करते हैं निलय।

''रंगहीन खर। जड़हीन दरख्त, लहरों की उठा पठक / मछलियों की गतिशीलता और हलचलों में / कहीं नहीं दीखता समुद्र / वह भासता है अपने तलों की अभेद्य शांति में ..... लहरें भंवराती हैं। बिल्कुल हमारी तरह भर उठती हैं खीझ से / और बावलेपन में / अपनी पूरी ताकत / और बदली हुई मुद्राओं के साथ / निकल जाना चाहती हैं तट के बाहर / किन्तु समुद्र की मर्यादा से बाहर निकल पाना / कभी संभव नहीं होता (अगला पाठ)।''

''अगला पाठ'' लम्बी कविता है। भाववादी प्रश्नों से जूझती यह एकाएक भारतीय अतीत का गौरवगान करने लगती है। व्यापार, बाजार के खिलाफ बोलते बोलते विज्ञान और विकासवाद के खिलाफ़ बोलने लगती है। फिर पुनरुत्थानवादी नारे के साथ पीछे लौट चलने की अपील करते हुए समाप्त हो जाती है : ''चलो, चलो पोंछ लें पाँवों के निशान और लौट चलें/ग्रहों, नक्षत्रों और जीवन के महान आकर्षण के बीच / चलो पड़ताल करें वह रास्ता / जो आगे बढ़ने की होड़ में कहीं छूट गया है।'' 'घड़ी' कविता का भावबोध भी यही है / इतिहास के अंत की घोषणा के साथ एक और स्वर मिल जाता है : ''हम दीवार पर जमें सारे कैलेंडर (इतिहास) उतार दें।''

संग्रह की अंतिम कविता है 'दियारे की लड़की'। इसमें सघन ऐन्द्रिकता है। ग्रामीण परिवेश से लिए गये कुछ अनूठे बिम्ब हैं। पीपल के नवजात पत्ते सी कोमल गात वाली, लंबे काले घने बालों वाली, गाय के दूध भरे थन सी गदराई कुँवारी लड़की को देखकर कवि स्मृतियों में कुछ ढूँढने लगता है। वहाँ छह साल की मातृहीन अपंग वृद्ध पिता की साग खोंटती गोबर चुनती बालिका दीखती है। विवरणों में अंतराल के बावजूद लड़की का इतिवृत्तात्मक दृश्य उपस्थित हो जाता है। अरे यह तो ''गंगा के तटवर्ती उन गाँवों की लड़की है (हो) / जो छह साल की उम्र से, खेतों में साग खोंटकर / विनिया कर / घर चलाती है और पेट के बल / पार कर जाती है धार की चौड़ी नदी। .... तुम गंगा के तटवर्ती उन गाँवों की लड़की हो / जहाँ पाँव खजूर हो जाते हैं / हाथ बबूल/'' किसी के दुःख और त्रासदी के वर्णन मात्र से उसके प्रति सहज सहानुभूति एवं रागात्मक लगाव नहीं हो जाता। दियारे की लड़की में काव्य उपादान के रूप में

सामने दीखती है जो लड़की, स्मृतियों वाली वह लड़की नहीं है। कामगार स्त्रियों के बाल कल्पना में ही लंबे घने और सघन हो सकते हैं। खटते खटते जिनके पाँव खजूर और हाथ बबूल हो जाते हैं, उनका तन एकाएक पीपल के नवजात पत्ते सा कोमल हो जाता है। दरअसल भोजपुर के देहातों में अभी भी सामंत और उनके अवशेष हैं जो निर्धन कामगार लड़कियों के फटे आँचलों से उनके गुप्त अंगों को झाँकते हैं। किसी लड़की से प्रेम हो तो उसे निरखना अपराध नहीं है, लेकिन उसके फटे से चोरी चोरी झाँकना तो अनैतिक है।'' जब धूप / तुम्हारे आँचल के फटे छोर से / चोरी चोरी झाँक रही थी / हवा ने चुपके से तुम्हारा आँचल खींच लिया था / सच कहता हूँ / साँप लोट गये थे अमराइयों के सीने पर /'' इस तरह निलय ने मध्य बिहार के सामंती अवशेषों के चरित्र के यथार्थ को ही उकेरा है।

निलय उपाध्याय में लोक संस्कृति के प्रति गहरा अनुराग है। लोक भाषा का माधुर्य है, जो उनकी काव्य भाषा को कलात्मक सौंदर्य प्रदान करता है। उनके पास अनूठे काव्य-बिम्ब हैं : सूखे नारियल में पानी की तरह जीवन, मधु छत्ते के नर, छत्तीसों बंधन खोलकर खड़ी प्रकृति, नींबू में रस की तरह पकना, मगरमच्छों से भरी दूध की शातिर नदी, पत्थर के पेड़ इत्यादि। लोकभाषा के शब्दों के प्रयोग में निलय माहिर हैं। दिराखे, ढिबरी, जोरन, खिच्चा, फूहियों, ऊजबुजाहट, बँसवार, कोंपड़, पुनगी, हरियर, टूसा, बतास, भीत इत्यादि लुप्त होने से बचे रहेंगे। अपने पिछले संग्रह में वे नवरोमान के करीब थे। इस बार अस्तित्ववाद की ओर विचलन थोड़ा अधिक है। फिर भी, गेहूँ में घुन की तरह नहीं है मानव, बल्कि सूखे नारियल में पानी की तरह बचा रहेगा जीवन।

*समीक्ष्य कृति : ''कटौती'' (कविता संग्रह)*
*कवि - निलय उपाध्याय*
*प्रकाशक - राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि.*
*2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज*
*नई दिल्ली - 110002*
*मूल्य -125 रुपये*

## कार्यशाला / रपट
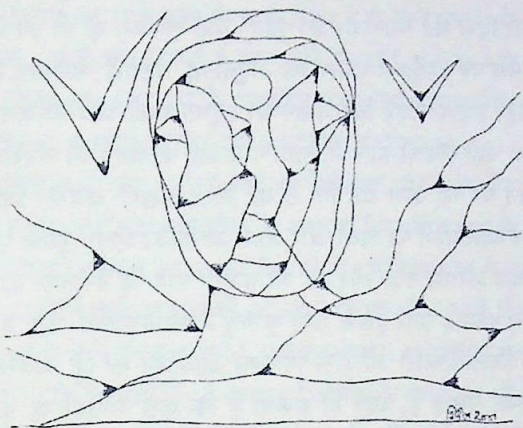
संजय कुमार गुप्त

**महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा नैनीताल (दिनांक 11 जून से 1 जुलाई 2002) में ''हिन्दी उपन्यास एवं कथा साहित्य'' पर आयोजित पुनश्चर्या (कार्यशाला) की एक समीक्षात्मक रिपोर्ट**

जब हिन्दी पट्टी का विशाल भू-भाग भीषण गर्मी और लू से पिघल रहा था, मेरे लिए अवसर था नये उत्तराखंड राज्य के पर्वतीय शहर नैनीताल में महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा हिंदी उपन्यास एवं कथा साहित्य पर आयोजित पुनश्चर्या कार्यक्रम (कार्यशाला) में सम्मिलित होने का जिसमें मेरे साथ विभिन्न प्रांतों में स्थित विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों से आये 25-30 व्याख्याता एवं प्राध्यापक भाग ले रहे थे। अधिकारिक तौर पर इक्कीस दिनों के लिए आयोजित होने वाली ऐसी पुनश्चर्या का महत्व हम प्राध्यापकों के लिए इतना ही होता है कि इनके अभाव में हमारी पदोन्नति प्रभावित होती है।

9 जून को भोपाल से चलकर दिल्ली होता हुआ 11 जून की सुबह 9 बजे नैनीताल पहुँचा था। नैनीताल शहर में जाना चौथी बार हो रहा था इसलिए उस शहर से अपरिचय जैसी कोई बात नहीं थी। 10 बजे मैं केनफील्ड हॉस्टल में था जहाँ हम लोगों के ठहरने की व्यवस्था थी। सूचना मिली कि 11 बजे तक वहीं केनफील्ड से कुछ कदम की दूरी पर भूगर्भ शास्त्र विभाग है जहाँ पुनश्चर्या का आयोजन हो रहा है और वहाँ अविलंब पहुँचना है। मैं नियत समय पर कुमायूँ विश्वविद्यालय के भूगर्भ-शास्त्र विभाग के आधुनिक सुरम्य प्रांगण में था। जैसा कि

अक्सर होता है, पुनश्चर्या का उद्घाटन कार्यक्रम 12 बजे दोपहर से ही प्रारंभ हो पाया। भूगर्भ शास्त्र विभाग के जिस लेक्चर कम-थियेटरनुमा हाल में हम लोगों की पुनश्चर्या पूरे 18 दिन चली (अवकाश के 3 दिनों को मिलाकर 21 दिन) वहाँ लगभग दो सौ लोगों के बैठने की व्यवस्था थी। सामने मंच पर कार्यक्रम समन्वयक अपूर्वानंद, बटरोही, नैनीताल विश्वविद्यालय के कुलपति और मनोहर श्याम जोशी विराजमान थे। उद्घाटन की औपचारिकता 1 घंटे में पूरी हुई। हम लोगों को पुनः वहीं लेक्चर हाल में लाया गया जहाँ कार्यक्रम की रूपरेखा बतायी गयी जिसमें बल अनुशासन पर था और यह कि 6 घंटे नित्य कक्षायें चलेंगी। विशेषज्ञ आयेंगे, व्याख्यान देंगे और उन व्याख्यानों पर चर्चा और बहस आयोजित होगी। इसके पूर्व सभी लोगों का एक-दूसरे से परिचय कराया गया और यह भी बताया गया कि नैनीताल का यह कार्यक्रम बहुत जल्दबाजी में तय हुआ है और इसके लिए कुमायूँ विश्वविद्यालय, वहाँ हिंदी विभाग के अध्यक्ष बटरोही तथा जिलाधिकारी आदि से मिलकर आयोजन की जो व्यवस्था की गयी है जिसमें आवास व्यवस्था प्रमुख है, वहाँ हो सकता है कि कुछ कमियाँ रह गई हों या कुछ कठिनाईयाँ आयें तो उसे अन्यथा न लें, मिल जुलकर परस्पर सहयोग की भावना के साथ कार्य करें तथा इक्कीस दिनों तक यह मानकर चलें कि आप पुनः विद्यार्थी जीवन के छात्रावासों में आ गये हैं।

उद्घाटन वाले दिन से ही प्रतिदिन रजिस्टर में उपस्थिति भरना अनिवार्य कर दिया गया था। ऐसे आयोजनों में अनुशासन का सख्ती से पालन होता है। अत्यधिक आवश्यक होने पर ही छुट्टियाँ मिलती हैं। उन 21 दिनों में अवकाश वाले दिनों को छोड़कर मात्र दो प्रतिभागियों को अवकाश स्वीकृत किया गया जिन्हें उसी दरम्यान दिल्ली विश्वविद्यालय में व्याख्याता पद पर साक्षात्कार देने जाना था। मैंने भी उसी दौरान 1 दिन के लिए दिल्ली जाने की छुट्टी माँगी थी जहाँ 19 जून को मेरे कनाडा स्थित भाई की सगाई का कार्यक्रम होने वाला था और जिसे छोड़कर मुझे एकाएक नैनीताल आना पड़ा था। सब कुछ अपूर्वानंद की मर्जी पर था। मुझे छुट्टी नहीं मिली। शांत, गंभीर, मृदु-भाषी अपूर्वानंद जानते है कि किस वक्त मुस्कुराना है, कितनी देर तक मुस्कुराना है, कहाँ खामोश रहना है, कहाँ मीठी और कहाँ तथा किसके साथ कैसी झिड़की लगानी है। उन्होंने सफलतापूर्वक 21 दिनों तक प्रत्येक सत्र का संचालन किया। सुधीरचंद्रा की उपस्थिति में गुजरात और साम्प्रदायिकता पर हुई कटु बहस को छोड़ दिया जाय जहाँ अपूर्वानंद स्वयं प्रतिभागी हो गये थे, उन्होंने अधिकांश बहसों में तटस्थता बरती। बहस और चर्चा के अलावा किसे repertoire बनना है, किन लोगों को विशेषज्ञों से प्रश्न पूछने को उत्साहित करना है, किन प्रतिभागियों को हतोत्साहित करना है वहाँ उन्होंने जबरदस्त चतुराई, वाक्‌पटुता तथा अनुशासन बनाये रखने की अपनी शक्ति एवं सत्ता का भरपूर इस्तेमाल किया। लोग उनसे नाराज भी हुए, आरोप भी लगाया लेकिन किया उन्होंने वही जो उन्हें उचित लगा। बिहार और पटना से पधारे कुछ प्रतिभागियों पर उनकी विशेष कृपा थी। उन्हें प्रश्न पूछने, एक के बाद दूसरा फिर तीसरा प्रश्न पूछने की पूरी छूट थी, वे विशेषज्ञों के समक्ष असुविधा उत्पन्न करने

वाले प्रश्न नहीं पूछते थे, वे जो भी पूछते थे वह उन्हीं के मंतव्यों का विस्तार होता था। उनका कुल मकसद था उपन्यास के विमर्श को एक मनचाही दिशा देना तथा उसे उस दिशा से न भटकने देना। विमर्श को उनके द्वारा मनचाही दिशा में ले जाने वालों को, उसे आगे बढ़ाने वालों को आगे लाना, दूसरों को विमर्श में भाग लेने के कम अवसर देना, पीछे ढकेलना उनकी रणनीति का हिस्सा था। पुनश्चर्या के उद्‌घाटन वाले दिन लोकतांत्रिक होने की घोषणा करने वाले अपूर्वानंद का व्यवहार अक्सर एक तानाशाह का होता था।

अपूर्वानंद के साथ उनकी पत्नी भी नैनीताल आयी थीं और उनकी छोटी और प्यारी छः साल की नटखट बेटी भी। अपूर्वानंद के अलावा विश्वविद्यालय के दूसरे कर्मचारी, कमल कुमार जो कार्यालयों व अन्य व्यवस्थायें देख रहे थे, भी सपत्नीक थे। बाकी लोगों को अर्थात् पुनश्चर्या में भाग लेने वाले प्राध्यापकों को पहले ही सपत्नीक आने से मना कर दिया गया था क्योंकि नैनीताल में वैसी व्यवस्था करना संभव नहीं था। अपूर्वानंद की पत्नी का नाम पूर्वा है। उन्हें साहित्य में गहरी दिलचस्पी है। वे अक्सर विशेषज्ञों के व्याख्यान और चर्चा विमर्श के दौरान सबसे पीछे बैठकर बहुत ध्यान से सभी बातें सुनती थीं। उन्हें उपन्यास व कथा साहित्य के अलावा कविता में भी अच्छी रुचि थी। 'तद्‌भव' के नये अंक में प्रकाशित मेरी कविता 'घंटियाँ' उन्हें पसंद आईं थी। पूर्वा जी के विपरीत कमल की पत्नी जिनका मैं नाम नहीं जानता कभी कभार और वह भी बहुत अल्प समय के लिए लेक्चर हॉल में देखी जातीं। अक्सर चुप और अकेली रहने वाली वे केनफील्ड के सामने किसी वृक्ष के नीचे बैठना या फिर कमरे में नींद लेते रहना अधिक पसंद करती थीं। कमल के पास भी ढेर सारी जिम्मेदारियाँ थी। हम लोगों की छोटी-मोटी आवश्यकताओं जैसे दवा, आरक्षण के अलावा उन्हें हर दो दिन बाद बाहर से आने वाले विशेषज्ञों को रिसीव करना एवं उनकी अन्य व्यवस्थाओं का काम उनके ही जिम्मे था।

पुनश्चर्या में भाग लेने वाल व्याख्याताओं में अधिकतर बिहार के थे या उ.प्र. के, जो लोग राजस्थान से आये थे वे भी मूलतः उ.प्र. या बिहार के थे तथा राजस्थान में पदस्थ थे। हरियाणा और दिल्ली से एक-एक सज्जन थे। म.प्र. से अकेला मैं था। जे.एन.यू. से शिक्षा प्राप्त लोगों का बहुमत था, वे काफी मुखर थे, उनका अध्ययन ठीक-ठाक था और गंभीर विमर्श की संस्कृति से परिचित और अभ्यस्त थे। जहाँ तक बहुपठित और सपुठित होने की बात थी, जिस पर वहाँ पुनश्चर्या में काफी बल दिया जाता था, मुझे वहाँ गोरखपुर विश्वविद्यालय से आये अनिल राय एवं शाहजहाँपुर से पधारे गोपाल प्रधान को छोड़कर कोई भी बहुपठित नहीं लगा।

महिला प्रतिभागियों में एकमात्र पटना से पढ़ी और राजस्थान में पदस्थ श्रीमती मंगला रानी थीं उनके अलावा पाँच-छः दूसरी महिला व्याख्याताएँ वहीं नैनीताल के कुमाऊँ विश्वविद्यालय या किसी महाविद्यालय में पदस्थ थीं। तथा अपने घरों से रोज पुनश्चर्या में भाग लेकर शाम को वापिस लौट जाती थीं। मंगला रानी ने चर्चा और बहसों में जबरदस्त तरीके से अपनी उपस्थिति दर्ज करायी और गुजरात वाले विवाद में उनका हिन्दूवादी रवैया बहस को काफी गर्मागरम बना

गया। प्रतिदिन विशेषज्ञों द्वारा व्याख्यान होता था फिर उस पर चर्चा आयोजित होती थी और प्रश्न पूछे जाते थे। प्रश्न पूछने और चर्चा में भाग लेने वालों में कानपुर के पंकज चतुर्वेदी और पटना के मनोज कुमार अग्रणीय थे, दो अन्य लोग थे बिहार के ही संजय कुमार और दिल्ली के बजरंग बिहारी तिवारी। इन सभी व्याख्याताओं के लेख 'बहुवचन' के अंकों में प्रकाशित हो चुके थे। बजरंग की विशेषज्ञता दलित विमर्श में थी और संजय कुमार के सोच की दिशा अज्ञेय और निर्मल वर्मा की दिशा थी। लेकिन इन सभी लोगों में अपनी योग्यता, ज्ञान और वाक्क्षमता से सर्वाधिक प्रभावित करने वाले यों कहें कि पुनश्चर्या में अपनी अमिट छाप छोड़ने वालों में शीर्षस्थ थे अनिल राय, तत्पश्चात् गोपाल प्रधान। ये लोग बहुत ही कम अवसरों पर मंच पर चर्चा के लिए आगे आये लेकिन जब भी बोला भरपूर बोला। इनका स्तर किसी भी विशेषज्ञ से कम का नहीं था बल्कि पुनश्चर्या में अपनी अमिट छाप छोड़ने वालों में शीर्षस्थ थे अनिल राय, तत्पश्चात् गोपाल प्रधान। ये लोग बहुत ही कम अवसरों पर मंच पर चर्चा के लिए आगे आये लेकिन जब भी बोला भरपूर बोला। इनका स्तर किसी भी विशेषज्ञ से कम का नहीं था बल्कि पुनश्चर्या में आये कुछ विशेषज्ञों मसलन ध्रुव शुक्ल, प्रभात रंजन एवं स्वयं समन्वयक अपूर्वानंद इन दोनों ही व्यक्तियों के ज्ञान और वाक्क्षमता के आगे बौने थे। सुप्रसिद्ध उपन्यास समीक्षक वीरेन्द्र यादव के नहीं आने पर एक दिन का पूरा सत्र अकेले गोपाल प्रधान द्वारा प्रेमचंद के ऊपर व्याख्यान एवं उनके द्वारा संचालित चर्चा से कटा। अनिल राय ने 'तमस' पर धारा प्रवाह लगभग एक घंटे का व्याख्यान दिया था और बाद में अपूर्वानंद द्वारा की गयी 'तमस' की व्याख्या की मार्क्सवाद के आधार पर धज्जियाँ उड़ा डालीं।

जे.एन.यू. से पढ़े लोगों का एक बौद्धिक आतंक था जो हफ्ता-दस दिन बीतते-बीतते पूरी तरह से छँट गया क्योंकि जे.एन.यू. के अलावा इलाहाबाद से पढ़े लोगों सूर्यनारायण सिंह, भूरेलाल, इन्दुप्रकाश सिंह (राजस्थान), कुमायूँ के सिद्धेश्वर सिंह, दिल्ली युनिवर्सिटी के मनोज कुमार और स्वयं मैंने वहाँ चर्चा में अपनी जहाँ तहाँ उपस्थिति दर्ज करायी। इलाहाबाद से पढ़े लोगों की विट और इंटेलिजेंस देखने लायक थी और जैसा कि मैंने कहा बहुपठित और सुपठित तो वहाँ कोई नहीं था। इसका एक प्रमाण यह कि 'कलिकथा-वाया बाईपास' पर हुई Y Y15-20 मिनट में समाप्त हो गई। प्रभात रंजन, अपूर्वानंद्व और मनोज कुमार को छोड़कर किसी ने उस उपन्यास को नहीं पढ़ा था और ये लोग भी उस उपन्यास पर 2-4 मिनट से ज्यादा बोलने में असमर्थ थे। हाल के प्रकाशित और चर्चित उपन्यासों, कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान', सुरेंद्र वर्मा के 'मुझे चाँद चाहिए' की बात तो दूर आधा गाँव, राग दरबारी और कृष्णा सोबती के उपन्यासों पर कोई विमर्श नहीं हुआ। इससे स्पष्ट था कि पुनश्चर्या में भाग लेने वाले तैयारी के साथ नहीं आये थे और हिन्दी उपन्यास के नवीनतम परिदृश्य की सतही जानकारी ही वहाँ, उपस्थित लोगों में थी। प्रतिभागियों में एक अन्य चेहरा था डॉ. अरुण कुमार का जिनको आसानी से भुलाया नहीं जा सकता। अरुण कुमार बहुत ही सहज और स्पष्ट बोलने वाले थे और अपने ज्ञान की सीमा में उनकी चमक का कोई जवाब नहीं था। वे और

इन्दुप्रकाश सिंह लीक से हटकर सोचने वाले लोग थे इसलिए संभवतः विमर्श के एक सुनिश्चित और पूर्वनिर्धारित पैटर्न में बहुत फिट नहीं बैठते थे। सर्वाधिक बोल्ड और मार्क्सवाद के प्रति पूर्णतया प्रतिबद्ध व्यक्ति थे, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के व्याख्याता सूर्य नारायण सिंह। अरूण कुमार गजलों के शौकीन थे और एक रात उन्होंने हम सभी लोगों को हारमोनियम पर ढेर सारी गजलें सुनायीं। गीत और ग़ज़ल के एक दूसरे प्रेमी थे कृष्णमोहन झा। बाथरूम गायन में उनका जवाब नहीं था। कवियों में पंकज चतुर्वेदी, कृष्णमोहन झा के अलावा एक तीसरे युवा कवि थे जितेन्द्र श्रीवास्तव। वे अपनी ढेर सारी कविताओं को लेकर आये थे और उन्होंने अनेक प्रतिभागियों को अपनी कविता के रस और आनंद से सराबोर किया। जितेन्द्र ने एक सत्र में प्रेमचंद के सेवासदन पर एक संक्षिप्त किंतु बहुत ही मूल्यवान व्याख्यान दिया जो उनके द्वारा प्रेमचंद पर की गयी पी.एच.डी. से संबंधित था। नैनीताल के स्थानीय रंग-कर्मियों 'युग-मंच' के कलाकारों के द्वारा हम लोगों के मनोरंजन के लिए कुछ आयोजन भी किये गये थे। 'युगमंच' मल्लीताल में रहने वाले जहूर भाई चलाते हैं जिनकी एक कपड़े की दुकान है। प्रसिद्ध रंगकर्मी व फिल्म अभिनेता निर्मल पांडे भी इस संस्था से जुड़े हैं। जिन दिनों हम नैनीताल में थे, उन्हीं दिनों निर्मल पांडे भी वहाँ थे। निर्मल ने असगर वजाहत का 'जिन लाहौर नहीं देख्या' की भी प्रस्तुति की थी। कार्यक्रम बना और असगर साहब की उपिस्थति में युगमंच और उसके कलाकारों ने शाम को सत्र समाप्त हो जाने पर प्रेमचंद की कहानी 'बड़े भाई साहब' और निर्मल वर्मा की एक कहानी 'दूसरी दुनिया' का मंचन किया तथा ढेर सारे कुमायूँ गीत और जनगीत भी सुनाये जिनमें कुमाऊँ के सप्रसिद्ध जनकवि बल्ली सिंह चीमा के गीत भी थे। उन गीतों में पहाड़ी जीवन की कठिनाईयों एवं वहाँ केजीवन की करूण कथा तथा एक अलग राज्य के संघर्ष एवं उससे जुड़ी उम्मीदों की कथा थी। एक दिन हम लोगों ने वहीं कुमायूँ विश्वविद्यालय में इतिहास के प्राध्यापक, 'पहाड़' के संपादक एवं साहित्यिक संस्कारों से लैस शेखर पाठक द्वारा निर्मित उत्तराखंड पर बनी एक फिल्म प्रोजेक्टर पर देखी। उस फिल्म के साथ-साथ शेखर दा की उसके साथ चलने वाली कमेंटरी लाजवाब थी। उस प्रस्तुतीकरण में उत्तराखंड के इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, वहाँ का लोक जीवन, लोक कलाएँ, स्थापत्य, पहाड़ी एवं जनजातीय जीवन की बहुरंगी झांकियाँ, उनके सपने, संघर्ष, आशा और विशाद् सबकुछ शामिल थे। समापन सत्र के एक दिन पूर्व अर्थात् 30 जून की संध्या को युगमंच के कलाकारों द्वारा पुनः उदय प्रकाश की कहानी 'राम सजीवन की प्रेमकथा' का मंचन किया। चूँकि यह कहानी दिवंगत कवि गोरख पाण्डे की जीवनी पर आधारित थी अतः सूर्य नारायण सिंह ने इस प्रस्तुति का लिखित विरोध किया एवं गोपाल प्रधान के साथ वे उसे दखने नहीं आये।

## व्याख्यान श्रृंखला

महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय द्वारा कुमायूँ विश्वविद्यालय के सहयोग से 'हिन्दी उपन्यास एवं कथा साहित्य' पर आयोजित होने वाली इस पुनश्चर्या (कार्यशाला) के

उद्‌घाटन कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे मनोहर श्याम जोशी। जाहिर था कि व्याख्यानों की शुरूआत उन्हीं से होने वाली थी। आयोजन के प्रथम दिन ही अर्थात् 11 जून को हमें बताया गया कि आने वाले विशेषज्ञों की एक सूची सभी लोगों को उपलब्ध करा दी जायेगी और सभी प्रतिभागियों के नाम, पते तथा नैनीताल के कुछ फोन नं. भी जिन पर हमारे घरों के लोग हमसे संपर्क कर सकते हैं। ऐसा अंत तक नहीं हो सका। हॉस्टल नैनीताल की झील के पार्श्व वाली पहाड़ी पर दक्षिण दिशा में लगभग पाँच-छह सौ फीट की ऊँचाई पर स्थित है। वहाँ स्थित पी.सी.ओ. अक्सर ठप्प पड़ जाता था, तब हमें नीचे शहर जाने पर फोन की सेवा उपलब्ध हो पाती थी। फोन के अलावा हमें रोजमर्रा की दूसरी जरूरतों के लिए भी शहर जाना पड़ता था। जिसके लिए हम रात के अँधेरे में एक शार्टकट पहाड़ी रास्ते का इस्तेमाल करते जो घने जंगलों और पगडंडियों से होकर गुजरता था। उस रास्ते से नीचे उतरना तो सरल होता था किंतु ऊपर चढ़ते समय करीब आधे घण्टे की चढ़ाई में हालत खराब हो जाती थी।

जहाँ तक विशेषज्ञों की बात है अनौपचारिक रूप से यह ज्ञात हुआ कि राजेन्द्र यादव, वीरेंद्र यादव, श्रीलाल शुक्ल, उर्वशी बुटालिया, गणेश देवी भी आमंत्रित किए गए हैं जो बाद में किसी न किसी कारणवश नहीं आ सके। यह भी पता चला कि राजेन्द्र यादव ने आने से साफ तौर से मना कर दिया था। इन विशेषज्ञों की अनुपस्थिति में, इनके लिए सुरिक्षत तिथियों के दौरान गबन (गोपाल प्रधान), सेवा सदन (जितेन्द्र श्रीवास्तव), तमस (अपूर्वानंद एवं अनिल राय) तथा कलिकथा वाया बाई पास आदि उपन्यासों पर प्रस्तुति एवं चर्चा संपन्न हुई। इसके अलावा दो सत्र अपने प्रिय औपन्यासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण पर, एक सत्र उपन्यास के अध्यापन में होने वाली कठिनाईयों पर चर्चा करके, एक सत्र अपनी पसंद के बीस उपन्यासों की सूची (जिसे प्रतिभागी चाहते हों कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखे जायें) पर चर्चा कराके, एक सत्र शोध समवाय की योजना पर चर्चा करके एवं दो सत्र 'बहुवचन' के संपादक प्रभात रंजन की विशेषज्ञता में गुलशन नंदा, सुरेंद्र मोहन पाठक, वेदप्रकाश शर्मा आदि द्वारा लिखित लोकप्रिय उपन्यासों की चर्चा के माध्यम से खपाये गए। ये सत्र बेहद उबाऊ और तकलीफदेह थे। लेकिन उन्हें बर्दाश्त करने के सिवा हमारे पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था।

## मनोहर श्याम जोशी और उत्तर आधुनिकता

मनोहर श्याम जोशी एक ऐसा नाम है जिससे साहित्य के पाठक की ही नहीं, अपितु इससे इतर एक व्यापक हिंदी समाज में जिसकी अच्छी पहचान है। टी.वी. सिनेमा, प्रिंट मीडिया, सर्वत्र अपने लेखन का जादू बिखेरने वाले श्री जोशी एक सरल, हँसमुँख, जिंदादिल एवं चालाक व्यक्ति हैं। पहाड़ी स्वभाव की सारी जातिगत खूबियाँ उनमें मौजूद हैं। वे निर्भीक और स्पष्टवादी है। हम लोगों के सामने व्याख्यान देना उन्हें थोड़ा अटपटा लग रहा है। वे मूलतः कथाकार हैं तथा अकादमिक व्याख्यान और विमर्श का कोई गहरा अनुभव उनके पास नहीं है। खिला हुआ गोरा रंग, ऊँचा कद, सुनहरे रंग का चश्मा, कुर्ता पैजामा और नेहरू जैकेट, यही

उनकी पोशाक है। उन्हें बोलते हुए सुनना हमारे लिए एक अनोखा अनुभव होगा। जोशी जी अपनी बात के प्रारंभ में ही स्पष्ट कर देते हैं कि वे आधुनिकता और उत्तरआधुनिकता पर बात-चीत करेंगे। उनके व्याख्यान में हँसी-मजाक, किस्सा, चुटकुले ज्यादा होंगे, तथ्यात्मक जानकारियाँ भी तथा यह कि वे हमारी बात-चीत में शरीक होने आये हैं और अपने अनुभवों को हमारे साथ बाँटना चाहते हैं। उन्होंने अपनी बात किस्से से ही प्रारंभ की। 11 तारीख को शराब से शुरू हुआ उनका वक्तव्य 12 तारीख को शराब से ही समाप्त हुआ। गप्प (गल्प) और सच का अद्‌भुत सम्मिश्रण उनके व्याख्यान में था। सबसे बड़ी बात उन्होंने कई अवसरों पर यह स्वीकार किया वे सब कुछ नहीं जानते। एक पहाड़ी, पहाड़ियों में भी कुमाँयूनी ब्राह्मण होने के सिवा उनके अंदर और किसी बात का अहम् नहीं था। पहाड़ का होना उनके लिए गौरव की बात थी। शराब, पहाड़ के लोगों की संस्कृति का अभिन्न अंग है, सो जोशी जी ने व्याख्यान की शुरूआत एक किस्से से की जिसमें वे हिन्दी आलोचना के जाने-माने स्तंभ नामवर सिंह को एक शाम अपने घर पर ड्रिंक्स के लिए बुलाते हैं। उन्हें कोई रूसी शराब हाथ लग गयी थी, शायद वोदका या दूसरी कोई चीज। उस शराब के बॉटल की यह विशेषता थी कि उसमें उस प्लांट की टहनी भी बतौर सबूत मौजूद थी, जिस प्लांट या पौधे से वह शराब बनी थी। उस शाम नामवर सिंह ने उनसे जो बात की वहीं से अपनी बात प्रारंभ करते हुए अर्थात् नामवर जी को उद्‌धृत करते हुए कहा कि ''भारतीय मनीषा साहित्य को न्यूनतम महत्व देती है, साहित्य में भी उपन्यास को और भी न्यूनतम महत्व देती है। आलोचक उपन्यासों पर उस तरह से ध्यान नहीं देते जिस तरह से कविता या कहानियों पर। उपन्यास एक उपेक्षित विधा है। ''नामवर जी की बातों में यदि सार है तो इसका कुछ न कुछ कारण तो होगा। जोशी जी इन कारणों की तह में जाते हैं: -

पहला कारण : - उपन्यास की भारतीय परंपरा का विकास हिन्दी में नहीं हो सका जिस तरह से कि बांग्ला व मलयालम में हुआ।

दूसरा कारण : शिवानी के लोकप्रिय यथार्थवादी उपन्यास की परंपरा जैसी कोई बात भी हिन्दी में विकसित नहीं हो सकी।

तीसरा कारण : हिन्दी उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से आगे नहीं बढ़ पाया, यथार्थवाद तो आया ही नहीं, हम सही ढंग से आधुनिक भी नहीं हुए, उस तरह से जिस तरह से बंगाल या केरल के लोग। इस संदर्भ में उनका यह भी कहना था कि उपन्यास की भारतीय परंपरा को विकसित करने की बात तो दूर हम पश्चिमी ढंग के आधुनिक उपन्यास भी नहीं लिख सके।

व्याख्यान के प्रथम दिन मैंने उनका प्रतिवाद करते हुए कहा कि प्रेमचंद 'गोदान' में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से आगे यथार्थवाद तक जाते हैं तथा प्रेमचंद के बाद यथार्थवाद की यह परंपरा यशपाल, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, राही मासूम रजा (आधा गाँव), श्रीलाल शुक्ल (रागदरबारी), भीष्म साहनी (तमस) तक जाती है।

मनोहर जोशी ने उपन्यास की भारतीय और पाश्चात्य परंपरा का अलगाव तो किया लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया कि इन दोनों परम्पराओं में मूल रूप से अंतर क्या है? भारतीय उपन्यास किस तरह का होगा और पश्चिमी ढंग का यथार्थवादी उपन्यास किस तरह का होगा और दोनों में क्या अंतर होगा?

12 जून को जोशी जी कुछ गंभीर दिखे। उनका कहना था कि 11 जून के व्याख्यान और उसके बाद हम लोगों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों ने उन्हें गंभीर बना दिया है और आज उत्तर आधुनिकता पर बोलने के लिए पूरी तैयारी से हैं, इसके लिए रात को उन्होंने शराब भी नहीं पी।

उत्तर आधुनिकता से पूर्व आधुनिकता की चर्चा करते हुए जोशी जी ने कहा कि आधुनिकता से पहले अतीत पूजा का दौर था याने नॉस्टेलजिया, आधुनिकता के आगमन से भविष्य पूजक दौर की शुरुआत होती है। सन् 60 के बाद बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद Late Capital-ism और बुद्धि केन्द्रित पूँजीवाद के बाद जो मनःस्थिति निर्मित हुई, वही उत्तर आधुनिकता है। इसके अनुसार कुछ भी नया नहीं है New is no longer Newl यूरोपीय आधुनिकता की दावेदारी थी, मानव मुक्ति। उदार मानवतावाद का सर्वश्रेष्ठ नमूना था मार्क्सवाद। मार्क्सवाद का कहना था कि Classical Art जन-जन का होगा Lumpen नहीं, संघर्षरत लोग चाहिए। यूरोप केंद्रित आधुनिकता नया मानव बनाना, प्रकृति पर विजय पाना और मानव की दशा सुधारना चाहती थी लेकिन यूरोप केंद्रित शताब्दियों में अमानवीयता व अत्याचार का बोलबाला रहा, सर्वहारा की तानाशाही नहीं अपितु एकपार्टी और ब्यूरोक्रेसी की तानाशाही रही। आधुनिकता कहती थी कि विचारों की मंडी में सर्वश्रेष्ठ विचार जीतता है। उत्तर आधुनिकता का कहना था कि यह मंडी Manipulated है, Modern Mission is total failure, इस स्थिति में उत्तर आधुनिकता का जन्म हुआ। यहाँ Utopia नहीं है, नॉस्टेलजिया नहीं है। उत्तर आधुनिकता अर्थात् जिनकी आधुनिकता में आस्था समाप्त हो चुकी है। उत्तर आधुनिक साहित्य का अन्यतम लक्षण है, किस्सागोई की वापसी। गल्प या गप्प वाला तत्व आधुनिक उपन्यास में नहीं था। उत्तर आधुनिकता फ्रांस के दार्शनिकों से प्रारंभ हुई तथा सबसे पहले वह भाषा विज्ञान, समाज शास्त्र, नृशास्त्र तथा आर्किटेक्चर में आयी। लेखकों को तो पता भी नहीं था कि उत्तर आधुनिकता क्या है? अर्जेंटिना के बोर्खेज ऐसे ही लेखक थे जिनके उपन्यास में अनजाने ही उत्तर आधुनिकता प्रविष्ट कर गयी थी। बाद में उन्हें उसका पता चला। जर्मनी के गुंटर ग्रास एक दूसरे उत्तर आधुनिक उपन्यासकार हैं जो Comic या पैरोडी को उत्तर आधुनिक किस्म के साहित्य का पहला लक्षण मानते हैं। वैसे उत्तर आधुनिक रचनाओं में व्याख्या भेद भी है। जैसे बोर्खेज मानते हैं कि साहित्य में कुछ नया नहीं है। साहित्य, साहित्य का कच्चा माल है। यहाँ बहुत कुछ पैरोडी है। ग्रास व बोर्खेज से प्रभावित मार्खेज ने One Hundred Years of solitued नामक मशहूर औपन्यासिक कृति की रचना की। मार्खेज के अनुसार उपन्यास में कुछ हँसी, कुछ मजाक, कुछ अद्‌भुत अर्थात् सब कुछ होना चाहिए। जोशी का कहना था कि भारतीय अंग्रेजी

उपन्यासकार सलमान रूशदी ने इन सबको पढ़ा और उत्तर आधुनिक उपन्यासों की रचना की। उत्तर आधुनिक उपन्यासों में भविष्य की ओर ले जाने वाला एकरेखीय आख्यान नहीं होता। अंत में श्री जोशी का कहना था कि जेक्सन उत्तर आधुनिकता का विरोध कर रहे हैं, यह high art भी नहीं है और उत्तर आधुनिकता की यही अनास्था, आस्था को जन्म देगी, आधुनिकता वापिस आयेगी।

## असगर वजाहत और महाकाव्यत्व

मध्यम कद, गठा हुआ शरीर, गेहुँआ रंग, गंजा सिर तथा तरतीब के साथ सँवारी गयी सफेद दाढ़ी, एक टिपिकल बुद्धिजीवी का व्यक्तित्व। असगर वजाहत कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार होने के अलावा जामिया मिलिया में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। एक प्रोफेसर के व्यक्तित्व में जो गुरुता और गंभीरता होती है वह उनके व्यक्तित्व ही नहीं अपितु उनकी चाल, ढाल, वाणी और मुख मुद्रा में भी देखी जा सकती है। धीर, गंभीर, मृदु-भाषी, असगर हमेशा कुछ सोचते से लगते हैं।

असगर वजाहत ने अपना व्याख्यान शुरू करते हुए कहा कि हिन्दी में उपन्यासकार की विचारधारा और उसके जीवन मूल्यों की तो चर्चा होती है लेकिन इस बात की नहीं होती कि उसका निरूपण उपन्यास में किस प्रकार हुआ है। विचारधारा मायने नहीं रखती महत्वपूर्ण यह है कि वह विचारधारा भाषा, पात्र एवं कथा में किस प्रकार आत्मसात की गयी है। विचारधारा का आरोपण ठीक नहीं है। उन्होंने कहा कि उपन्यास में महत्वपूर्ण यह भी होता है कि उसमें गद्येतर विधाओं मसलन कविता, संगीत, पेंटिंग का संयोजन हुआ है कि नहीं। उपन्यास एक गद्य विद्या है और हर उपन्यासकार भाषा के स्तर पर अपने गद्य को कविता की ऊँचाई देना चाहता है। निर्मल वर्मा पेंटिंग (Visual) संगीत व कविता को मिलाकर गद्य लिखते हैं, यहाँ भी वे कविता से ज्यादा पेंटिंग या Visual Sensibility का इस्तेमाल करते हैं। विडंबना यह है और अफसोस भी कि आज का हिन्दी उपन्यासकार गद्येतर विद्याओं में कम जाता है।

असगर वजाहत ने उपन्यास के महाकाव्यत्व की अवधारणा पर जोर देते हुए कहा कि हिन्दी में महाकाव्यात्मक उपन्यास नहीं लिखे गये। महाकाव्यात्मक उपन्यास में जीवन की विशद् व्याख्या होती है, वहाँ वर्तमान, भविष्य और अतीत से जुड़ता है, उसमें मनोविज्ञान, दर्शन एवं कला के अनेक रूप समाहित होते हैं, और एक जीवन दृष्टि भी होती है। प्रेमचंद के पूर्व उपन्यास का फलक सीमित था। प्रेमचंद अपने युग को समग्रता में समझना और व्यक्त करना चाहते थे। 'गोदान' कृषक जीवन की गाथा है वहाँ प्रेमचंद वर्तमान को अतीत से जोड़ते हुए, भविष्य को दिखलाते हैं। किंतु प्रेमचंद के बाद लेखकों के सरोकार सीमित हो जाते हैं।

महाकाव्यात्मक चेतना से सम्पन्न उपन्यासकार पूरे समय व समाज को उसकी समग्रता में देखता है। उन्होंने 'आग का दरिया' का उल्लेख करते हुए कहा कि कुर्तुलेन हैदर का यह उपन्यास महाकाव्यात्मक चेतना से सम्पन्न है।

## रमेश चंद्र शाह और यूरोपीय उपन्यास परंपरा

रमेश चंद्र शाह कवि, कथाकार, समीक्षक तथा भोपाल में अंग्रेजी के अवकाश प्राप्त प्राध्यापक हैं। बाह्य व्यक्तित्व की भिन्नता को छोड़ दिया जाये तो उनके व्यक्तित्व का आंतरिक ढाँचा बहुत कुछ असगर वजाहत से मिलता जुलता, अंतर केवल इतना कि असगर मुस्कुराते तक नहीं है, रमशे चंद्र शाह मुस्कुरा भी लेते हैं। व्याख्यान के दूसरे दिन बाकायदे ब्लैक बोर्ड का सहारा लेते हैं और उस पर एक चार्ट बनाकर पाश्चात्य उपन्यास परंपरा और भारतीय उपन्यास परंपरा का विकास दर्शाते हैं। उनके पूर्व असगर वजाहत ने भी उर्दू उपन्यास 'मिरातुल उरूस' की कथा को चार्ट के माध्यम से संक्षेप में बताया था। असगर वजाहत और रमेशचंद्र शाह के बाद आने वाले किसी दूसरे विशेषज्ञ ने फिर शायद ही उस ब्लैक बोर्ड का इस्तेमाल किया हो।

रमेश चंद्र याह ने यूरोपियन उपन्यासों की विकास परंपरा पर प्रकाश डालते हुए लुकाच और स्टाइनर के हवाले कहा कि यूरोप में उपन्यास के उद्‌भव के पीछे राजनैतिक-आर्थिक व सांस्कृतिक कारण थे। पूँजीवाद व औद्योगिक सभ्यता के आगमन से पश्चिम में व्यक्तिवाद का उदय हुआ। सांस्कृतिक कारण था - सभ्यताओं का संघर्ष। व्यक्तिवाद के उदय और सभ्यताओं के संघर्ष ने उपन्यास की विधा को जन्म दिया। उन्होंने मिलान कुंदेरा का उल्लेख करते हुए कहा कि उपन्यास ऐसे ज्ञान का स्रोत होता है, जो हमें और कहीं से नहीं मिलता। उपन्यास का विषय है - मनुष्य क्या है? मैं कौन हूँ? उपन्यास में आत्मज्ञान की यह खोज, धर्म व दर्शन के आत्मज्ञान की खोज से अलग है। उन्होंने अंग्रेजी उपन्यासों की परंपरा पर चर्चा करते हुए कहा कि फ्रांसीसी उपन्यास, अंग्रेजी उपन्यासों से ज्यादा सशक्त है। गुस्ताव फलाबेयर के फ्रांसीसी उपन्यास ''मादाम बावेरी'' के हवाले से उन्होंने कहा कि यहाँ उपन्यास के तल पर मैं कौन हूँ? मनुष्य क्या है? आदि मानवीय अस्तित्व से जूझने वाले मूलभूत प्रश्नों को उठाया गया है। रूसी उपन्यासों के संदर्भ में उन्होंने कहा कि यूरोप के आक्रमण से रूसी अस्मिता को बचाने के लिए रूस में उपन्यास लिखे गये। रूसी उपन्यासों में रूसी अंतःकरण के जानलेवा अंर्तद्वंद्व सभ्याताओं की टकराहट और उनके बरक्स मनुष्य की नियति की खोज का जो उपक्रम है वह हिन्दी के उपन्यासों में नहीं दिखाई देता। 19वीं व 20 वीं सदी के हिन्दी उपन्यास अपनी जनता से उस तरह से नहीं जुड़ सके, जिस तरह से कि रूसी उपन्यास। हिन्दी उपन्यासों में मनुष्य और भारतीय जाति के नियति केप्रश्नों को नहीं उठाया गया।

## निर्मल वर्मा और उपन्यास की वैयक्तिक चेतना

निर्मल वर्मा का देखकर मुझे अपने चार साल की बिटिया मीनल के उस गुड्डे की याद आ जाती है जिसे पतलून और कोट पहना दिया हो। 72 वर्ष की आयु में भी निर्मल के चेहरे पर एक नवजात शिशु की सी सरलता, तरलता एवं चमक मौजूद है। एक बाल सुलभ

मुस्कान और उत्सुकता का भाव उनके होठों और चेहरे पर तैरता रहता है। निर्मल वर्मा ने अपने व्याख्यान की शुरुआत करते हुए कहा - ''भाषा के आधार पर जातीय अस्मिता को परिपुष्ट करने का दायित्व हिन्दी प्राध्यापकों पर है।'' इसके बाद उन्होंने बताया कि उपन्यास हिन्दी की युवतम विद्या है। उनके अनुसार, दूसरी विधाओं से उपन्यास की विलक्षणता निम्न बातों में परिलक्षित होती है।

- उपन्यास सभी विधाओं की सम्पदा को अपने में समाहित करता है।

- काव्यात्मक ओज, चित्रात्मकता, प्राकृतिक परिवेश के प्रति संवेदनशीलता, मनुष्य व सौरमंडल के बीच जितनी क्रिया व प्रतिक्रियायें हैं सभी उपन्यास में समाहित होती हैं।

- उपन्यास पढ़ना मनुष्य के अंतर्मन के कोटरों को खंगालना है।

निर्मल वर्मा ने हीगल का उद्‌धृत करते हुए आगे कहा कि उपन्यास मध्यमवर्ग का महाकाव्य है। नामवर सिंह उपन्यास को किसानों का महाकाव्य मानते हैं। नामवरजी के अनुसार उपन्यास मनुष्य के भीतर की जटिलताओं को चित्रित करने की विधा है। निर्मल का कहना था कि यहाँ मनुष्य से तात्पर्य Individual से है, उपन्यास व्यक्ति की चेतना मुक्ति से जुड़ता है, ऐसा व्यक्ति जो सभी संबंधों से मुक्ति पा चुका है, तथा यह कि व्यक्ति व समाज दोनों स्वायत्त संस्थायें हैं तथा व्यक्ति चेतना का जन्म बहुत बड़ी प्रसव पीड़ा के साथ होता है, यहाँ मनुष्य पूर्णतया अकेला होता है, अपने निर्णयों के लिए स्वयं जिम्मेदार। दूसरी बात उपन्यास secular society की विधा है, लौकिक विधा है तथा जिसका जन्म धर्म और ईश्वर को हटाकर हुआ है। यह लोकतांत्रिक विधा है, सबसे अधिक लोकतांत्रिक विधा। उपन्यास की यह लोकतांत्रिक चेतना, व्यक्ति चेतना के साथ ही विकसित हुई है। तीसरी बात उपन्यास अनिश्चय, आशंका, अनिर्णय की स्थितियों को लेकर चलता है, यदि वहाँ समाधान या उत्तर है तो इतिवृत्तात्मकता आ जायेगी और वह कलाकृति नहीं होगा। निर्मल के अनुसार Democratic age के महानतम उपन्यासकार फ्लावेयर उपन्यास को आम आदमी या जन से दूर रखना चाहते थे। फ्रांसीसी उपन्यासकार फ्लावेयर का कहना था ordinary man vulgarizes art। यह वही वक्त था जब 'कला कला के लिए' नामक सिद्धांत एक क्रांतिकारी नारे के रूप में सामने आया था। निर्मल वर्मा का मानना था कि जनता का कला के साथ संबंध, जर्मन उपन्यासकारों की भी एक बहुत बड़ी समस्या थी जिसका आभास हमें टॉमस मान के उपन्यासों एवं कहानियों में मिलता है। इस विडंबना को कलाकार आज तक नहीं सुलझा पाया है।

निर्मल वर्मा के अनुसार रूस की औपन्यासिक परंपरा फ्रांस व जर्मनी की यूरोपीय परंपरा से अलग हटकर है। उन्होंने वर्जीनिया वुल्फ को उद्‌धृत करते हुए कहा कि जब अंग्रेजी और यूरोपियन उपन्यासकार ईश्वर का नाम लेने से संकोच करते हैं, रूसी उपन्यासकार मनुष्य को ईश्वर व उसकी आत्मा से अलग करके नहीं देखते। रूस की औपन्यासिक चेतना में ईश्वर, टॉलस्टॉय व दोस्तोव्यस्की के यहाँ बार-बार आता है। रशियन 'सोल' (soul) रूसी उपन्यासों का आधार है। लेकिन यह सोल आत्मा नहीं है, यह शरीर से अलग कोई वस्तु है जो शरीर में

ही वास करती है लेकिन उसका हिन्दुओं की आत्मा की तरह ईश्वर से कोई संबंध नहीं होता, वह ईश्वर का अंश या उसकी छाया न होकर एक अजनबी चीज होती है। उपन्यास उसी आत्मा की खोज है।

## हिन्दी उपन्यासों की परंपरा

व्याख्यान के दूसरे दिन अर्थात् 19 जून को निर्मल वर्मा ने हिन्दी उपन्यासों पर चर्चा की शुरुआत इस कथन के साथ की - 'प्रेमचंद, जैनेंद्र व अज्ञेय तीनों में मुक्ति की कामना है।' उन्होंने प्रेमचंद की कहानियों 'पूस की रात' और 'कफन' का हवाला देते हुए कहा कि इन दोनों ही कहानियों में यातना और गरीबी के छोर पर पहुँचकर पात्रों को लगता है कि वे कहीं भी जा सकते हैं, कुछ भी कर सकते हैं। निर्मल का यह भी मानना था कि प्रेमचंद secular होने के बावजूद भी परंपरागत मान्यताओं एवं आस्थाओं में गहरा विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार प्रेमचंद धन के शत्रु हैं व जैनेंद्र बुद्धि के। निर्मल वर्मा के अनुसार अज्ञेय के 'शेखर' में पहली बार वैयक्तिक चेतना अपने चरम पर है। 'परिवार' और समाज में रहते हुए भी वह अपने विवेक, अपनी बुद्धि, अपनी चेतना एवं अपने अनुभव के आधार पर निर्णय लेने वाला व्यक्ति है। शेखर मुक्त है। एक मुक्त आदमी के सोचने की जो भाषा होती है, वही शेखर की भाषा है। अज्ञेय के विपरीत जैनेंद्र की भाषा देखने में साधारण प्रतीत होती है लेकिन वहाँ deceptive simplicity है।

निर्मल के अनुसार 1960 में लिखा गया 'मैला आँचल' episodic Structure का उपन्यास है। रेणु, प्रेमचंद के ढाँचे से अलग ढाँचा निर्मित करते हैं जो युग की माँग थी। रेणु का गाँव, प्रेमचंद के गाँव से बदल चुका था। रेणु समाजवादी पार्टी के सदस्य होते हुए भी 'परती परीकथा' में समाजवादी पार्टी के कार्यकर्ताओं के विक्षोभ का चित्रण करते हैं, जबकि परसाई आदि अपनी ही पार्टी की आलोचना नहीं करते और सबकी कर देते हैं। यही कारण है कि परसाई का व्यंग्य उथला हो जाता है। यशपाल और नागार्जुन में उपन्यासों में भी यह देखने को मिलता है। इन लोगों की तुलना में रेणु के उपन्यास सही ढंग के राजनैतिक उपन्यास हैं। रेणु एक वास्तविक कलाकार हैं। निर्मल वर्मा के अनुसार रेणु के उपन्यासों के बाद जो दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास सामने आता हैं वह है 'रागदरबारी'। लेकिन इस उपन्यास पर अभी तक कोई सार्थक समीक्षा नहीं लिखी गयी है, जो लिखी जानी चाहिए। 'राग दरबारी' से ही मिलता-जुलता एक अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास है 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'। इस उपन्यास में कम्युनिस्ट पार्टी के भौतिकवाद की हँसी उड़ायी गयी है। यहाँ गाँव और शहर के बीच के कस्बाई समाज की विडंबनाओं को जो चित्रण हुआ है, विनोद कुमार शुक्ल उसी परंपरा को अपने उपन्यासों में आगे बढ़ाते हैं। निर्मल का कहना था कि विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यासों में जो अलगाव और अकेलापन है वह पश्चिम से नहीं लिया गया, अपितु वह भारत की जड़ों में है। उन्होंने मुक्तिबोध के उपन्यास 'विपात्र' को भी एक महत्वपूर्ण उपन्यास बताया। यहाँ एक ही जीवन को

हजार आँखों से देखा गया है।

अंत में निर्मल वर्मा का कहना था कि अकेलापन genetic है, वह उसके मनुष्य होने में ही निहित है, इसे महाभारत और रामायण के चरित्रों में भी देखा जा सकता है। योग वशिष्ट राम के विषाद को उसी तरह दूर करती है जिस प्रकार गीता अर्जुन के विषाद को। जादुई यथार्थवाद के बारे में उनका कहना था कि वह एक कलात्मक अंतर्दृष्टि है।

निर्मल वर्मा के आगमन की पूर्व संध्या पर अपूर्वानंद अनौपचारिक रूप से यह संदेश देते हैं कि निर्मल जी से उलझाने वाले प्रश्न न पूछे जायें, उनकी गरिमा एवं स्वास्थ्य का ध्यान रखा जाय और बेहतर हो कि उनकी रचनाओं एवं उनके लेखकीय अनुभवों पर बातचीत हो। बावजूद इसके पंकज चतुर्वेदी से निर्मल वर्मा से वह प्रश्न पूछ ही डाला जो उनके पूर्व वे असगर वजाहत और रमेशचंद्र शाह से भी पूछ चुके थे और जिसका संतोषजनक उत्तर उन्हें अभी तक नहीं मिल पाया था। प्रश्न इस प्रकार से था - ''राजेन्द्र यादव का मानना है कि हिन्दी के चार उपन्यासों रेणु के मैला आँचल, श्रीलाल शुक्ल के राग दरबारी, भीष्म साहनी के तमस एवं राही मासूम रजा के आधा गाँव को पढ़कर स्वातंत्र्योत्तर भारत वर्ष के पूरे परिदृश्य को जाना जा सकता है। इस बारे में आपका क्या कहना है?'' निर्मल वर्मा इस प्रश्न के उत्तर में भी अपनी विट और ह्यूमर का प्रयोग करते हुए उससे बच निकलने की चेष्टा करते हैं और इतना भर कहते हैं कि यह राजेन्द्र यादव का दृष्टिकोण हो सकता है, मैं ऐसा नहीं सोचता।

## Ambivalace की अवधारणा : सुधीरचंद्रा एवं गुजरात के दंगे, 20-21 जून 2002

सुधीर चंद्रा का परिचय देते हुए अपूर्वानंद ने कहा कि उन्होंने इतिहास लेखन के अलावा प्रेमचंद, आधा गाँव, सत्ती मैया का चौरा, एक चिथड़ा सुख, आदि पर समीक्षाएँ लिखीं हैं। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास से चर्चा शुरु करते हुए, सुधीरचंद्रा ने राष्ट्रवाद की व्याख्या के संदर्भ में ambivalance की अपनी अवधारणा को देवराला सती कांड के उस उदाहरण के माध्यम से परिचय कराया जहाँ आशीष नंदी कहते हैं कि मैं इस कांड के हो जाने के बाद चुप रहूँगा, कुछ नहीं कहूँगा। हाँ, इस कांड के पूर्व मैं इसका विरोध कर सकता था, पुलिस यदि इसे रोकने के लिए हिंसा भी कर डालती तो मैं पुलिस और प्रशासन का समर्थन करता, लेकिन अब मैं ऐसा नहीं कर सकता। सतीशचंद्रा का कहना था कि ambivalance का सटीक हिन्दी पर्याय वे अभी तक नहीं ढूँढ पाये हैं। ambivalance एक मनस्थिति है। यहाँ हम कभी किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना के कभी समर्थन में होते हैं तो दूसरे अवसर या स्थिति में उसके विपरीत हो जाते हैं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता तथा सुधार और पुनरुत्थान। ऐसी ही ambivalance की स्थितियाँ हैं। हम कभी राष्ट्रीय होते हैं तो कभी साम्प्रदायिक। कभी सुधारक हो जाते हैं तो कभी पुनरुत्थानवादी। ऐसा बहुत से लोगों के साथ होता है। अतः राष्ट्रवाद-सम्प्रदायवाद तथा सुधार-पुनरुत्थान को एक Neat

Category में नहीं समझा जा सकता। इसके बाद उन्होंने गोवर्धनराम त्रिपाठी के गुजराती उपन्यास 'सरस्वतीचंद्र' की कथा पर विस्तार से चर्चा करते हुए यह बताया कि उस उपन्यास में विभिन्न पात्रों एवं उनके जीवन में घटने वाली घटनाएँ किस प्रकार ambivalance की अवधारणा से जुड़ती हैं। सरस्वतीचंद्र उपन्यास चार भागों में लिखा गया है, इसका उद्देश्य समाज सुधार है तथा यहाँ Simple से Complex तक की यात्रा है, इसमें संयुक्त परिवार के यंत्रणा की कथा है।

सुधीरचंद्रा के ambivalance की अवधारणा भी बहुत स्पष्ट एवं फौरी तौर पर लोगों के बहुत समझ में नहीं आयी और उनसे जो प्रश्न पूछे गये वे इसी उद्देश्य से पूछे गये कि इस अवधारणा का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो सके। चूँकि सुधीरचंद्रा गुजरात से आये थे, गुजरात कुछ माह पूर्व साम्प्रदायिक दंगों में झुलस चुका था सो दूसरे सत्र में चर्चा राष्ट्रवाद व साम्प्रदायिकता से होती हुई गुजरात के दंगों पर केंद्रित हो गयी। चर्चा के दौरान अपूर्वानंद के अंदर का भूतपूर्व कम्युनिस्ट जाग उठा तथा उन्होंने बताया कि वे स्वयं अहमदाबाद से होकर आये हैं तथा वहाँ की स्थिति कितनी खराब है। उन्होंने अति उत्साह में आकर लालकृष्ण अड़वानी को अपराधी गृहमंत्री व मुरलीमनोहर जोशी को अपराधी मंत्री घोषित कर दिया जो बाबरी मस्जिद के विध्वंस से प्रत्यक्ष रूप में जुड़े थे। अयोध्या के बाद मुंबई और अब गुजरात, यह फासीवाद का उग्र होता हुआ तेवर था जिस पर सभी लोग चकित थे। इस चर्चा ने काफी गरमागर्म रूप लिया और कुछ प्रतिभागियों ने सीधे-सीधे अपूर्वानंद, सुधीरचंद्रा तथा अन्य प्रतिभागियों पर मुस्लिम परस्त और पाकिस्तान समर्थक होने का आरोप लगा डाला। इनमें मंगलरानी प्रमुख थीं। कुल मिलाकर बहस का स्तर विशुद्ध अकादमिक न होकर राजनैतिक हो गया।

## ध्रुव शुक्ल और कृति का स्वराज, 26-27 जून 2002

भोपाल के ध्रुव शुक्ल जो कि वहीं सूचना विभाग में जनसंपर्क अधिकारी हैं, उन्हें मैं बतौर एक कवि के रूप में ही जानता था। यहाँ पहली बार पता चला कि वे उपन्यास भी लिखते हैं। समन्वयक अपूर्वानंद ने ध्रुव शुक्ल का हम प्रतिभागियों को परिचय कराते हुए कहा कि वे ऐसे विशेषज्ञ हैं जो कथा साहित्य पर नये ढंग से बात कर सकते हैं। इसके बाद ध्रुव शुक्ल ने अपना व्याख्यान शुरू किया जो 30-35 मिनट में समाप्त हो गया। ध्रुव शुक्ल का कहना था कि हम बने बनाये उत्तर के समय में जी रहे हैं। हिंदी के उपन्यास के संदर्भ में भी बने बनाये उत्तरों को दुहराया जा रहा है। उन्होंने निर्मल वर्मा को उद्धृत करते हुए कहा कि उपन्यास के आने के पूर्व मनुष्य पर ईश्वर की छाया थी, उपन्यास में मनुष्य ईश्वर से मुक्त होकर अराजक हो गया। उन्होंने कहा कि हर कृति का अपना स्वराज होता है, हर कृति की अपनी जीवन शैली होती है। आलोचक का दायित्व है कि वह कृति के स्वराज्य की रक्षा करे। उनके अनुसार हिन्दी उपन्यासों में दृश्य तो होते हैं लेकिन वहाँ details का अभाव होता है। वस्तु वर्णन में ही नहीं अपितु पीड़ा

आदि के भावों के वर्णन में भी detalis नहीं होते। यह हिन्दी उपन्यास की कमजोरी है।व्याख्यान पूरा कर लेने के बाद उन्होंने अपने एक उपन्यास का अंश सुनाया जिसमें सागर के चकराघाट के स्थानीय जीवन का एक बहुत ही जीवंत एवं कलात्मक परिदृश्य पूरे details के साथ उभर कर आता था। अंत में उन्होंने कहा कि आलोचना में असहमति हो सकती है, लेकिन असहमति का अर्थ अवमानना या कुतर्क नहीं, अपितु संवाद है।

## मिलान कुंदेरा का 'आर्ट ऑफ नॉवेल' और अपूर्वानंद, 30 जून 2002

28 जून अवकाश का दिन था। 29 जून के प्रातःकालीन सत्र में बरटोही ने उत्तराखंड के उपन्यासकारों की कृतियों के अलावा मनोहर श्याम जोशी के 'क्याप' पर अपना व्याख्यान दिया, उसके बाद दूसरे सत्र से आरंभ होकर अपने प्रिय औपन्यासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण का क्रम 30 जून के मध्यान्ह तक जारी रहा। अधिकतर लोगों ने प्रेमचंद के पात्रों को चुना या फिर शेखर एक जीवनी के शेखर को। शेखर की वैयक्तिक और उसकी सामाजिकता के बिंदुओं पर चर्चा में भाग लेते हुए गोरखपुर के अनन्तकीर्ति तिवारी ने एक व्याख्यान दिया जिसमें शेखर के चरित्र के सामाजिक पक्ष को तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया गया था। 30 जून के अपरान्ह में पुनश्चर्या के समन्वयक अपूर्वानंद ने मिलान कुंदेरा के 'आर्ट ऑफ नॉवेल' पुस्तक पर केंद्रित अपना व्याख्यान दिया। वे इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद कर रहे हैं।

अर्पूवानंद ने अपने व्याख्यान की शुरुआत करते हुए कहा कि कुंदेरा के अनुसार उपन्यासकार की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह पाठक को पूरी तरह से संतुष्ट करने में विश्वास नहीं रखता। हिन्दी उपन्यासों के जितने भी पात्र हैं - होरी, शेखर, तमस या प्रेमचंद के दूसरे पात्र, सभी अधूरे पात्र हैं। प्रेमचंद के अनुसार उपन्यास आत्मा के मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन करता है। कुंदेरा का मानना है कि उपन्यास मानवीय अस्तित्व की किसी समस्या का चित्रण करता है। प्रेमचंद और कुंदेरा के उपन्यास विषयक दृष्टिकोण में यह अद्भुत साम्य है। अपूर्वानंद का कहना था कि मानवीय अस्तित्व के किसी पहलू का उद्घाटन जब कोई उपन्यासकार करता है तो समाज आ ही जाता है। आदमी की चर्चा समाज से अलग हटकर नहीं हो सकती। कुंदेरा के उपन्यासों में शब्दों का खेल बहुत है। चरित्र-चित्रण के बारे में कुंदेरा का मानना है कि उपन्यास में पात्र कितनी संभावनाओं को लेकर चलता है, इसे देखना चाहिए। अपूर्वानंद के अनुसार कुंदेरा का चिंतन एक विशेष सामाजिक, राजनैतिक परिस्थिति की देन है। यह स्टालिन के समय का पूर्वी यूरोप था। कुंदेरा चेकोस्लाविया के थे। उनकी सीमा यह है कि उनके सारे संदर्भ यूरोपीय हैं और मिलान को इस बात का गर्व भी है कि वे यूरोपीय परंपरा के हैं - इस परंपरा में पश्चिमी और पूर्वी यूरोप दोनों शामिल हैं। मिलान के औपन्यासिक चिंतन में एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका की परंपराओं का कोई उल्लेख नहीं है। बावजूद इसके उनकी पुस्तक 'आर्ट ऑफ नॉवेल' में ऐसे बहुत सारे सूत्र हैं, जो हमारे उपन्यास संबंधी चिन्तन को समृद्ध करते हैं। अपूर्वानंद के अनुसार हिन्दी का कोई भी महत्वपूर्ण उपन्यास एकरेखीय नहीं है।

टॉलस्टाय की अन्नाकेरेनिना की चर्चा करते हुए मिलान कहते हैं कि हर उपन्यासकार के पास एक wisdom of novel होती है जो पाठक के moral position या उसकी नैतिक समझ से अलग हटकर हो सकती है। अतः किसी उपन्यास को उपन्यासकार के wisdom के आधार पर देखा जाना चाहिए, पाठकों के moral position के आधार पर नहीं। अपूर्वानंद का मानना था कि इस wisdom of novel के अंतर्गत होरी वैसा ही हो सकता है जैसा वह है, मालती भी वैसी ही हो सकती थी जैसी कि वह है और शेखर भी।

जाहिर सी बात थी कि मिलान कुंदेरा के संदर्भ से अपूर्वानंद द्वारा जो बातें कहीं गयीं वे नयी नहीं थी। शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ वे सारी बातें हमें असगर वजाहत, रमेश चंद्र शाह और विशेष तौर पर निर्मल वर्मा बता ही चुके थे।

## उपन्यास की नियति और अशोक बाजपेयी, समापन सत्र 1 जुलाई 2002

अशोक बाजपेयी का व्यक्तित्व एक साहित्यकार-कम-राजनेता का है। वे धाराप्रवाह बोलते हैं और अपना पक्ष, तर्क एवं मजबूती के साथ रखते हैं। उनका व्याख्यान श्रोताओं को अपने साथ बाँध लेने और बहा ले जाने की क्षमता रखता है। पुनश्चर्या के दौरान हम लोगों को हुई कठिनाईयों का उन्हें किचिंत भान है तथा अपने संबोधन में वह हम लोगों को पुनश्चर्या की जगह तपश्चर्या में आये चतुर सुजानों के विशेषण से नवाजते हुए अपना संबोधन शुरू करते हैं। अशोक जी के अनुसार, उनकी कोई विशेषज्ञता उपन्यास पर नहीं है। अपनी अत्यधिक व्यस्त जिंदगी में वे कविताएँ लिखते हैं वह भी हड़बड़ी में, समीक्षाएँ उससे भी अधिक हड़बड़ी में लिखते हैं। (आपद् धर्म के रूप में) तथा व्याख्यान सर्वाधिक हड़बड़ी में तैयार करते हैं। वैसे वे उपन्यास के एक सुधी पाठक हैं ठीक अन्य पढ़े लिखे लोगों की भाँति। व्याख्यान शुरू करते हुए उन्होंने कहा कि मेरा आज का विषय है - 'उपन्यास की नियति'। नियति में एक तरह का शंका भाव है, एक तरह का खतरा है, खुदा जाने उपन्यास बचेगा कि नहीं, कविता बचेगी कि नहीं, सदी के अंत तक साहित्य बचेगा कि नहीं। ठीक सौ बरस पहले उपन्यास की नियति पर विचार नहीं किया जा सकता था, हिन्दी गद्य की नियति पर उस समय विचार करना इसलिए मुमकिन नहीं था कि गद्य अभी अपरिपक्व था। हिन्दी उपन्यास की कुल यात्रा अभी सौ साल की है और इस सौ सालों में हमने वह अर्जित कर लिया जिसे हासिल करने में दुनिया की दूसरी भाषाओं को तीन-चार सौ साल लगे। हिन्दी उपन्यास का भूगोल चकित कर देने वाला है। इतनी तरह की कथाएँ, इतने तरह के पात्र, इतने तरह की संस्कृतियाँ, भाषाएँ, बोलियाँ, मुहावरे। अशोक बाजपेयी ने आगे कहा कि हिन्दी उपन्यास का ढाँचा मुख्यतया यथार्थवादी रहा है हालाँकि शुरुआत यथार्थवादी ढाँचे से नहीं हुई। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास यथार्थवाद की धज्जियाँ उड़ाने वाले थे। उसके बाद हमने मनुष्य के अंतर्लोक में प्रवेश किया, टालस्टाय का काम हिन्दी उपन्यास ने करना शुरू किया। 20 वीं सदी घुसपैठ की सदी थी। इस सदी में भूत और भविष्य

सभी वर्तमान में घुलमिल गये। इस सदी के आधुनिक साहित्य में प्रश्नाकुलता ने केंद्रीय स्थान पाया। उपन्यास प्रश्न पूछता है, खराब उपन्यास उत्तर भी देते हैं। मिलान कुंदेरा का कहना है कि मनुष्य जब तक प्रश्न पूछने की, अपने ऊपर, समाज, व्यक्ति, ईश्वर व अन्य चरम बिंदुओं पर प्रश्न पूछने की हिम्मत रखेगा, तब तक उपन्यास बचा रहेगा। अशोक बाजपेयी ने कहा कि गोदान में सिर्फ होरी का प्रश्न नहीं है, सिर्फ किसान की दुर्दशा का प्रश्न नहीं है, वहाँ मृत्यु का भी प्रश्न है, सब प्रश्न एक साथ हैं। प्रेमचंद के सभी प्रश्न सामाजिक नहीं होते। प्रेमचंद मृत्यु के विषय को केंद्रित करते हैं। हिंदी उपन्यासों में जो सामाजिक प्रश्न हैं, वे निरे सामाजिक प्रश्न नहीं हैं, उनमें और प्रश्न भी शामिल हैं। जैनेंद्र के उपन्यासों में नैतिक प्रश्न केंद्र में हैं, शेखर एक जीवनी में राजनैतिक प्रश्न, नैतिक व सामजिक प्रश्नों से जुड़े हैं। कोई बड़ा उपन्यास किसी एक किस्म के प्रश्नों पर केंद्रित नहीं होता, इसे उपन्यास का अद्वितीय विवेक कहते हैं। उपन्यास प्रश्नाकुलता का परिसर है, उपन्यास एक साझेदारी का wisdom है।

## प्रविधि

*1. प्रेमचंद की प्रविधि एक बड़े सामाजिक उद्वेलन को दर्ज करने की प्रविधि है। गोदान में बहुत सारा कूड़ा कचरा भी है, जैसे मेहता आदि की कथा।*

*2. जैनेंद्र की प्रविधि, नैतिक प्रश्नांकन की प्रविधि है। उनके यहाँ details ज्यादा नहीं हैं।*

*3. व्यक्ति की खोज, अज्ञेय की प्रविधि है। व्यक्ति अपने आपको बनाये कैसे? यहाँ समाज की उपेक्षा आदि के बारे में सोचना व्यर्थ है। व्यक्ति समाज से अलग नहीं है। यदि साहित्य समाज का प्रतिबिंब है तो इस साहित्य को रचने वाला व्यक्ति ही होता है। साहित्य व्यक्तियों द्वारा बनाया जाता है। साहित्य में आत्मा और अन्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। आपने किस विषय पर लिखा, यह गौण है। साहित्य के और भी गहरे आयाम हैं।*

*4. आँचलिक प्रविधि - जो नागार्जुन के यहाँ मिलती है। रेणु व कृष्णा सोबती ने इस प्रविधि के द्वारा उपन्यास के प्रेमचंदीय अर्थ को ध्वस्त कर दिया। बड़ा लेखक वह है जिसे ध्वस्-त किया जा सके। छोटे लेखकों को ध्वस्त करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रेमचंद एक बड़े लेखक हैं। रेणु एवं कृष्णा सोबती के यहाँ मिथिला एवं पंजाब के लोक जीवन की बाढ़ है। जिस काम को सलमान रूश्दी ने 1965 में किया, सलमान ने अपनी भारतीय अंग्रेजी लिखी, गाली गलौज, अश्लीलता सब कुछ और ब्रिटिश अंग्रेजी उपन्यास का ढाँचा बदल दिया। यह काम हिन्दी में रेणु व कृष्णा सोबती करते हैं तथा उपन्यास की एक परंपरा को ध्वस्त करते हुए, नयी परम्पराएँ गढ़ते हैं।*

*5. हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रविधि : हम सिर्फ आज नहीं हुए हैं, हम पहले भी थे। मध्यकाल में भी थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी, दार्शनिकता व आधुनिकता के प्रश्नों को जोड़ते हैं। वे उपन्यास को गल्प बनाते हैं, महागल्प बनाते हैं तथा काल का अतिक्रमण कर जाते हैं।*

*6. कृष्णा बल्देव वैद ने उपन्यास के ढाँचे को सर्वाधिक तोड़ा और ध्वस्त किया। उनके उपन्यासों में प्रयोगशीलता का अतिरेक है। उन्होंने ढाँचा बदलने का जोखिम और खतरा उठाया जिसने उपन्यास के उपन्यास होने पर ही प्रश्न खड़ा कर दिया है।*

*7. विनोद कुमार शुक्ल की प्रविधि : नाटकीय विडम्बना और विनोद भाव उनकी प्रविधि की विशेषताएँ हैं। उन्होंने उपन्यास की गुरू गंभीरता को नष्ट किया, विनोद भाव पैदा किया और यह भी दिखाया कि उपन्यास में चुहुलबाजी भी हो सकती है।*

*8. स्त्री उपन्यासकार : कविता के क्षेत्र में बहुत कम ध्यान देने योग्य कवियित्रियाँ हैं, वहीं कथा साहित्य में स्त्रियों की शिरकत ऊँचे दर्जे की है। स्त्रियों ने आधुनिक युग में वह हक हासिल किया जिसके दम पर उन्होंने अपने उपन्यासों में अपने ऊपर, समाज, नैतिकता आदि के ऊपर प्रश्न चिन्ह खड़े किए।*

*9. दलित विमर्श : दलितों ने भी बीसवीं सदी में स्त्रियों की ही भाँति अपनी संसार दृष्टि प्रकट करनी शुरू की।*

हिन्दी उपन्यास के भूगोल और उसकी प्रविधियों पर चर्चा करने के उपरांत अशोक बाजपेयी ने कहा कि उपन्यास की कमी यह है कि यहाँ कल्पना व प्रयोगशीलता का अभाव है। हमारे यहाँ जातीय स्मृतियों एवं प्रगल्भ कल्पना के प्रयोग उस तरह नहीं दिखाई देते जैसा मार्खेज के यहाँ या कि मिलान कुंदेरा के यहाँ। हिन्दी उपन्यास यथार्थवाद के नीचे कराह रहा है। उन्होंने यह भी कहा कि रार्बोटो क्लासो (इटली) ने हिन्दू देवी देवताओं व पुराण कथाओं को उलट पुलट कर एक बहुत लोकप्रिय उपन्यास लिखा, लेकिन हम वैसा नहीं कर सके। इसके अलावा किस्सागोई की परंपरा जो प्राचीन काल में थी वह भी आधुनिक हिन्दी उपन्यास में नहीं आयी।

अंत में अशोक बाजपेयी का कहना था कि यथार्थवाद ने नये परिसर भी खोले व जकड़बंदी भी पैदा की। मनुष्य का यथार्थ बहुत जटिल व व्यापक है। मनुष्य का यथार्थ कालातीत है। मैं अशोक बाजपेयी से पूछना चाहता था कि उपन्यास के संदर्भ में जिस प्रयोगशीलता पर वह इतना जोर दे रहे हैं कहीं वही तो उपन्यास की नियति के लिए खतरा नहीं बन जाएगी? अज्ञेय ने कभी सत्य की खोज के लिए कविता में प्रयोग की शुरुआत की थी। उत्तर आधुनिकता तो वैसे ही सच में गप्प मिलाकर चल रही है, क्या प्रयोग का यही रूप है? क्या हम उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में पश्चिम के मानदण्डों का इस्तेमाल करते रहेंगे या उपन्यास के हिंदी आलोचना की भी कोई स्वतंत्र परिपाटी विकसित हो सकेगी? किंतु अपने मित्र पंकज चतुर्वेदी के इस आग्रह के कारण कि अशोक वाजपेयी से कुछ भी पूछना बेकार है। या तो वे नाराज हो जाते हैं या फिर उत्तर को इतना लंबा घसीटते हैं कि एक पूरा व्याख्यान हो जाता है।

## रचनाकारों के पते

| | | |
|---|---|---|
| विष्णु खरे | : | ए 533, नवभारत टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज। दिल्ली - 91 |
| मनमोहन | : | 4/9 जे, यूनिवर्सिटी कैम्पस, रोहतक |
| लीलाधर जगूड़ी | : | सीताकुटी, बदरीपुर, देहरादून |
| दिनेश कुमार शुक्ल | : | 146 आर पी एस फ्लैट्स, शेख सराय फेज 1, नई दिल्ली - 17 |
| रमेश पाण्डेय | : | प्रभागीय वनाधिकारी, सामाजिक वानिकी, देवरिया |
| शिवशंकर मिश्र | : | 327 बी कड़रु, राँची |
| नरेश सक्सेना | : | 2/5, विवेक खंड, गोमतीनगर, लखनऊ |
| पवन करण | : | माधवगंज पायगा के पास, ग्वालियर |
| अभिज्ञात | : | वेब दुनिया डाट काम उत्तम अपार्टमेंट, 7/2, न्यू पलासिया, इंदौर |
| उषा आठले | : | आठले हाउस, सिविल लाइन्स, रायगढ़ |
| विजय गौड़ | : | बी- 10/7 न्यू टाइप 11, आयुध निर्माणी एस्टेट, रामपुर, देहरादून |
| सुधीर विद्यार्थी | : | शंकर भवन, निकट बड़ा पावर हाउस, बीसलपुर (पीलीभीत) |
| नरेन्द्र मोहन | : | 239 डी एम आय जी फ्लैट्स, राजौरी गार्डेन, नई दिल्ली - 27 |
| गीत चतुर्वेदी | : | फीचर डेस्क-भास्कर दैनिक, जी टी रोड, पानीपत |
| कृष्ण मोहन | : | 43/1, सेनानी विहार, प्रतापगढ़ |
| रश्मि रेखा | : | मिश्र टोला, इमामगंज, मुजफ्फरपुर |
| दिनकर कुमार | : | उदिता आफसेट, शाहिदा मार्केट, लखटकिया, गुवाहाटी |
| शरद दत्त | : | सारांश प्रकाशन पाकेट, 2 मयूर विहार फेज 1, दिल्ली - 91 |
| पंकज चतुर्वेदी | : | 203 उत्सव अपार्टमेंट, 379 लखनपुर, कानपुर |
| शकील सिद्दकी | : | एम आय जी 317, फेज 2 टिकैतराय योजना, मोहान रोड, लखनऊ |
| केवल गोस्वामी | : | जे 363 सरिता विहार, मथुरा रोड, नई दिल्ली - 44 |
| जितेन्द्र कुमार | : | मार्फत डाक अधीक्षक भोजपुर, मंडल, आरा |
| लक्ष्मेन्द्र चोपड़ा | : | निदेशक आकाशवाणी श्यामला हिल्स भोपाल |
| जितेन्द्र भाटिया | : | वसुंधरा, 602 गेटवे प्लाजा, हीरानंदानी गार्डेन्स, पवई, मुंबई - 400076 |
| प्रदीप पंत | : | सी 2/31 ईस्ट आफ कैलाश नई दिल्ली - 65 |
| सुधा अरोड़ा | : | वसुंधरा, 602 गेट वे प्लाजा, हीरानंदानी गार्डेन, पवई, मुंबई - 400076 |
| कैलाश बनवासी | : | बुनकर संघ के पीछे, संतरावाड़ी, दुर्ग |
| संजय गुप्त | : | शासकीय महाविद्यालय, बालाघाट |
| धनराज चौधरी | : | 2/5, जवाहर नगर, जयपुर |

मुद्रक :– महाकोशल ऑफसेट सह. मुद्र. मर्या., जबलपुर ☎ 412723